एम.ए. उत्तरार्द्ध

समाजशास्त्र, प्रथम प्रश्नपत्र

भारतीय समाज
संरचना और परिवर्तन

(INDIAN SOCIETY : STRUCTURE AND CHANGE)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Sadhna Bisen
   Former Assistant Professor
   BSS College, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   IEHE College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Archna Chauhan
   Assistant Professor
   Govt. S.N.G. (PG) Autonomous College, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr. L.P. Jharia
   Director
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Sadhna Bisen
   Former Assistant Professor
   BSS College, Bhopal (M.P.)

5. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   IEHE College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Archna Chauhan
   Assistant Professor
   Govt. S.N.G. (PG) Autonomous College, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Dr Amit Chamaria, Faculty, Department of Sociology, International Institute of Mass Media, New Delhi
Units (1-5)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

VIKAS®

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 भारतीय समाज की अवधारणा : विशिष्ट विशेषताएं एवं विन्यास; सांस्कृतिक विविधता के स्तर और परिमाण– भारतीय समाज में विविधता, भारतीय समाज में एकता; भारतीय समाज में क्षेत्रों, समूहों और समुदायों का आपसी संयोजन; अतीत और वर्तमान के बीच संस्थानिक, सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक प्रतिरूपों का सातत्य; भारतीय समाज के केंद्रक गांव : सामाजिक वर्गीकरण के रूप में जाति व्यवस्था	**इकाई 1** : भारतीय समाज की अवधारणा **(पृष्ठ 3–32)**
इकाई–2 औपनिवेशिक नृवंश विज्ञान में भारतीय समाज का खंडित एवं स्थैतिक प्रतिनिधित्व; औपनिवेशिक नीति के साधन : जनगणना, जिला गजेटियर (इंपीरियल) विवरणिका; उत्तर स्वतंत्रता काल में भारत में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के विकास में औपनिवेशिक विरासत की भूमिका; शैक्षणिक नवउपनिवेशवाद; समाजशास्त्र का अमेरिकीकरण	**इकाई 2** : औपनिवेशिक काल **(पृष्ठ 33–54)**
इकाई–3 वैचारिक/शाब्दिक दृष्टिकोण (जी.एस. घुर्ये, लुई ड्यूमा); मूल पाठ और अध्ययन के क्षेत्र में विचारों का संश्लेषण (इरावती कर्वे, ए.एम. शाह); सभ्यात्मक दृष्टिकोण (एन.के. बोस, सुरजीत सिन्हा)	**इकाई 3** : सैद्धांतिक दृष्टिकोण **(पृष्ठ 55–100)**
इकाई–4 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (एम.एन. श्रीनिवास, एस.सी, दुबे); मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य और भारतीय समाजशास्त्री– डी.पी. मुकर्जी (1894–1961), ए.आर. देसाई (1915–1994), आर.के. मुकर्जी (1889–1968); अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य– बी. आर अंबेडकर , डेविड हार्डीमेन	**इकाई 4** : संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण **(पृष्ठ 101–139)**
इकाई–5 सामयिक विचार–विमर्श : संदर्भीकरण व देशीकरण; भारतीय समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों का उपयोग; पाठ्य और सन्दर्भ; भारत में समाजशास्त्र	**इकाई 5** : सामयिक विचार–विमर्श **(पृष्ठ 141–184)**

विषय–सूची

परिचय **1**

इकाई 1 भारतीय समाज की अवधारणा **3–32**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय समाज की अवधारणा : विशिष्ट विशेषताएं एवं विन्यास
1.3 सांस्कृतिक विविधता के स्तर और परिमाण
1.3.1 भारतीय समाज में विविधता
1.3.2 भारतीय समाज में एकता
1.4 भारतीय समाज में क्षेत्रों, समूहों और समुदायों का आपसी संयोजन
1.5 अतीत और वर्तमान के बीच संस्थानिक, सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक प्रतिरूपों का सातत्य
1.6 भारतीय समाज के केंद्रक गांव : सामाजिक वर्गीकरण के रूप में जाति व्यवस्था
1.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.8 सारांश
1.9 मुख्य शब्दावली
1.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई 2 औपनिवेशिक काल **33–54**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 औपनिवेशिक नृवंश विज्ञान में भारतीय समाज का खंडित एवं स्थैतिक प्रतिनिधित्व
2.3 औपनिवेशिक नीति के साधन : जनगणना, जिला गजेटियर (इंपीरियल) विवरणिका
2.4 उत्तर स्वतंत्रता काल में भारत में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के विकास में औपनिवेशिक विरासत की भूमिका
2.5 शैक्षणिक नवउपनिवेशवाद
2.6 समाजशास्त्र का अमेरिकीकरण
2.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.8 सारांश
2.9 मुख्य शब्दावली
2.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई 3 सैद्धांतिक दृष्टिकोण **55–100**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 वैचारिक/शाब्दिक दृष्टिकोण (जी.एस. घुर्ये, लुई ड्यूमा)
3.2.1 जी. एस. घुर्ये (1893–1984)
3.2.2 लुई ड्यूमा (1911–1998)
3.3 मूल पाठ और अध्ययन के क्षेत्र में विचारों का संश्लेषण (इरावती कर्वे, ए.एम. शाह)
3.3.1 इरावती कर्वे (1905–1970)
3.3.2 ए.एम. शाह

3.4 सभ्यात्मक दृष्टिकोण (एन.के. बोस, सुरजीत सिन्हा)
3.4.1 निर्मल कुमार बोस
3.4.2 सुरजीत सिन्हा
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण **101–139**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (एम.एन. श्रीनिवास, एस.सी. दुबे)
4.2.1 एम.एन. श्रीनिवास
4.2.2 एस.सी. दुबे
4.3 मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य और भारतीय समाजशास्त्री
4.3.1 डी.पी. मुकर्जी (1894–1961)
4.3.2 ए.आर. देसाई (1915–1994)
4.3.3 आर.के. मुकर्जी (1889–1968)
4.4 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य
4.4.1 बी.आर. अंबेडकर
4.4.2 डेविड हार्डीमेन
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई 5 सामयिक विचार–विमर्श **141–184**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 सामयिक विचार–विमर्श : संदर्भीकरण व देशीकरण
5.2.1 संदर्भीकरण
5.2.2 देशीकरण
5.3 भारतीय समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों का उपयोग
5.4 पाठ्य और सन्दर्भ
5.5 भारत में समाजशास्त्र
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय समाज : संरचना और परिवर्तन' का लेखन विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमानुसार किया गया है। भारत के समाज में अनेक समुदायों के लोग रहते हैं, जिनमें संसार के समस्त मुख्य धर्मों के लोग सम्मिलित हैं। अलग–अलग धर्मों एवं परिवेशों से जुड़े होने के कारण इन लोगों की भाषाएं, रहन–सहन तथा खान–पान में भी बहुत अंतर है। वस्तुतः भारत एक ऐसा देश है जिसमें अनेकता में भी समानता दृष्टिगोचर होती है। समस्त लोग अपनी–अपनी विशिष्ट अवधारणाओं और दृष्टिकोणों के अनुसार रहते हैं। लेकिन समयानुसार भारतीय नागरिकों के कार्यों एवं विचारों में परिवर्तन होते आए हैं, जो स्वाभाविक हैं और वह समय और परिस्थिति की मांग भी है। इस पुस्तक में संबंधित विषय से जुड़े समस्त पहलुओं का विस्तृत विवेचन किया गया है।

पुस्तक की प्रत्येक इकाई में विषय के उद्देश्यों के साथ–साथ मुख्य शब्दावली एवं संबंधित लघु एवं दीर्घ–उत्तरीय प्रश्नों को भी शामिल किया गया है। पुस्तक की पाठ्य सामग्री के बीच–बीच में विद्यार्थियों की बुद्धि को आंकने के लिए 'अपनी प्रगति जांचिए' के तहत वैकल्पिक प्रश्न भी दिए गए हैं। इसके अलावा हर इकाई के अंत में उसका सारांश भी दिया गया है।

अध्ययन की सहूलियत हेतु समस्त पुस्तक में पांच इकाइयों को समायोजित किया गया है। पुस्तक की विभिन्न इकाइयों में दी गई सामग्री का ब्योरा निम्न प्रकार है–

पहली इकाई में भारतीय समाज की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है तथा सांस्कृतिक विविधता के स्तर और परिणामों का विवेचन किया गया है। इसके अलावा भारतीय समाज में क्षेत्रों, समूहों तथा समुदायों के आपसी संयोजन; अतीत व वर्तमान के बीच संस्थानिक, सांस्कृतिक व व्यावहारिक प्रतिरूपों के सातत्य तथा भारतीय समाज के केंद्रक गांवों की जाति व्यवस्था की समीक्षा की गई है।

दूसरी इकाई में औपनिवेशिक नृवंश विज्ञान में भारतीय समाज के खंडित एवं स्थैतिक प्रतिनिधित्व तथा औपनिवेशिक नीति के साधनों की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त शैक्षणिक नवउपनिवेशवाद तथा समाजशास्त्र के अमेरिकीकरण की व्याख्या की गई है। इसी इकाई में उत्तर स्वतंत्रता काल में देश में समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के विकास में औपनिवेशिक विरासत की समीक्षा भी की गई है।

तीसरी इकाई सैद्धांतिक दृष्टिकोणों पर आधारित है। इसके अंतर्गत जी.एस. घुर्ये व लुई ड्यूमा के वैचारिक–शाब्दिक दृष्टिकोणों के अलावा इरावती कर्वे तथा ए.एम. शाह के मूल पाठ एवं अध्ययन के क्षेत्र में विचारों के संश्लेषण को प्रस्तुत किया गया है। इसी इकाई में निर्मल कुमार बोस तथा सुरजीत सिन्हा के सभ्यात्मक दृष्टिकोण का भी अध्ययन किया गया है।

चौथी इकाई में एम.एन. श्रीनिवास और एस.सी दुबे के संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की समीक्षा की गई है तथा डी.पी. मुकर्जी, ए.आर. देसाई व आर.के. मुकर्जी

जैसे विशेषज्ञों के मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य को दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य पर बी.आर. अंबेडकर तथा डेविड हार्डीमेन के विचार प्रस्तुत किए गए हैं।

टिप्पणी

पांचवीं इकाई सामयिक विचार–विमर्श पर केंद्रित है। इसमें संदर्भीकरण व देशीकरण के अध्ययन के साथ–साथ भारतीय समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों के उपयोग पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त पाठ्य और संदर्भ तथा भारत में समाजशास्त्र की स्थिति की विवेचना की गई है।

इस बात की आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की कसौटी पर पूरी तरह से खरी सिद्ध होगी तथा विद्यार्थियों के लिए उपयोगी रहेगी।

इकाई 1 भारतीय समाज की अवधारणा

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय समाज की अवधारणा : विशिष्ट विशेषताएं एवं विन्यास
1.3 सांस्कृतिक विविधता के स्तर और परिमाण
1.3.1 भारतीय समाज में विविधता
1.3.2 भारतीय समाज में एकता
1.4 भारतीय समाज में क्षेत्रों, समूहों और समुदायों का आपसी संयोजन
1.5 अतीत और वर्तमान के बीच संस्थानिक, सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक प्रतिरूपों का सातत्य
1.6 भारतीय समाज के केंद्रक गांव : सामाजिक वर्गीकरण के रूप में जाति व्यवस्था
1.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.8 सारांश
1.9 मुख्य शब्दावली
1.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1.0 परिचय

भारतीय समाज में हजारों समुदायों के लोग रहते हैं जिनमें दुनिया के सभी प्रमुख ध र्म, विशेष रूप से हिंदू धर्म तथा एक बड़ी आबादी मुस्लिम धर्म की शामिल है। यहां के लोग विभिन्न भाषाएं और बोलियां बोलते हैं। उनकी अपनी भोजन की आदतें, पेशे, उद्योग, हस्तशिल्प, परंपराएं और सांस्कृतिक पहलू हैं। इसी आधार पर जवाहरलाल नेहरू ने भी कहा था कि भारत बहुभाषी और बहुसांस्कृतिक राष्ट्र है जो विरोधाभास का एक समूह होने के साथ–साथ अनेक अदृश्य धागों से जुड़ा हुआ है। वास्तव में, भारत एक ऐसा राष्ट्र है जिसमें हम विविधता में एकता पाते हैं; यहां अलग–अलग जाति और पंथ, धर्म और क्षेत्र के लोग अपनी–अपनी मान्यताओं और धारणाओं के साथ रहते हैं। भारतीयों ने सामान्य लक्षण, विचार और भावनाएं विकसित की हैं। इक्कीसवीं सदी के वैश्वीकरण और लोकतंत्र का युग भारतीय समाज में नई विशेषताओं को जोड़ रहा है।

समाज की रचना वर्णों पर आधारित है और वर्ण मौद्रिकता (Monetary) पर आधारित होते हैं और समाज में चार वर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं जो युगों से व्यवसाय के आधार पर क्रमिक रूप से समाज की रचना में एक बड़ी भूमिका निभाते हैं। इनमें कई धार्मिक, भाषायी, जातीय और सांस्कृतिक विविधताएं दिखाई देती हैं। भारतीय समाज में जातियों का विभाजन एक दिलचस्प पहलू है, जो कि कहीं और नहीं है। भारतीय समाज में एक तरफ अपनी कला, भाषा और संस्कृति शामिल है और दूसरी तरफ इसका सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन। हिंदू धर्म अनुष्ठानों, रीति–रिवाजों और मान्यताओं का एक विशाल समुद्र है। इस धर्म में अंधविश्वास भी हैं।

यदि हम लंबी और व्यापक भारतीय पौराणिक कथाओं का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि विदेशी आक्रमणों के बीच हिंदुओं में धार्मिक विचार प्रचलित थे। लोग भगवान राम के शाश्वत मूल्यों, आदर्शों और सिद्धांतों से प्रेरित थे। इस अवधि के दौरान विभिन्न

टिप्पणी

धार्मिक संतों की अगुवाई में कई धार्मिक आंदोलन हुए। उनका मुख्य उद्देश्य प्रेम, सद्भाव, अहिंसा, भाईचारे और सौहार्द के संदेश के साथ लोगों को जगाना था। ये संत न केवल दृष्टिकोण में धार्मिक थे, बल्कि उनके पास एक सामाजिक संदेश भी था। वे धर्मनिरपेक्षता की भी बात करते थे।

प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज की अवधारणा के साथ–साथ उसकी विशेषताओं, सांस्कृतिक विविधता के स्तरों, उसके समूहों व समुदायों के आपसी संयोजन तथा गांवों की जाति व्यवस्था इत्यादि का विस्तृत अध्ययन किया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय समाज की अवधारणा का विश्लेषण कर पाएंगे;
- सांस्कृतिक विविधता के स्तरों तथा परिमाणों के संबंध में जान पाएंगे;
- भारतीय समाज में एकता की स्थिति को समझ पाएंगे;
- वर्तमान व अतीत के मध्य संस्थानिक, सांस्कृतिक व व्यावहारिक प्रतिरूपों को परख पाएंगे;
- भारतीय समाज के केंद्रक गांवों की जाति व्यवस्था का अवलोकन कर पाएंगे।

1.2 भारतीय समाज की अवधारणा : विशिष्ट विशेषताएं एवं विन्यास

भारतीय समाज काफी पुराना और जटिल है। श्यामाचरण दुबे अपनी पुस्तक– 'भारतीय समाज' में लिखते हैं– "प्रचलित अनुमान के अनुसार पांच हजार वर्ष पूर्व की पहली ज्ञात सभ्यता के समय से आज तक लगभग पांच हजार वर्षों की अवधि इस समाज में समाहित है। इस लम्बी अवधि में विभिन्न प्रजातीय लक्षणों वाले और विविध भाषा–परिवारों के आप्रवासियों की कई लहरें यहां आकर इसकी आबादी में घुलमिल गई और इस समाज की विविधता, समृद्धि और जीवंतता में अपना–अपना योगदान दिया।"

जाति सामाजिक स्तरीकरण की एक प्रणाली है। यह सामाजिक संरचना के मूल में है जाति जन्म पर आधारित है इसलिए व्यक्ति की जाति का निर्धारण जन्म के साथ हो जाता है और यह व्यक्ति के व्यवसाय, विवाह और सामाजिक संबंधों को निर्धारित करता है। जाति मानदंडों, मूल्यों और प्रतिबंधों को निर्धारित करने वाला समूह है जो अपने अन्दर होने वाले सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करता है। श्रीनिवास के अनुसार, जातियों के बीच संबंध अन्य पहलुओं के अलावा, शुद्धता और अशुद्धता की अवधारणा और जाति के भीतर होने वाली सामान्य अधिकतम समानता के आधार पर संचालित होते हैं। यह जाति व्यवस्था के आदर्श रूप को परिभाषित करता है। वास्तव में, जाति व्यवस्था की संरचनाएं और कार्यप्रणाली में काफी भिन्नताएं हैं। जाति भारतीय समाज की सभी तरह की व्यवस्थाओं चाहे वे आर्थिक या राजनीतिक हों, को काफी प्रभावित करती है।

जाति व्यवस्था से अलग भारत में एक और सामाजिक समूह 'जनजाति' है जो भारतीय सामाज को एक अलग पहचान देता है। जनजाति समूह अनिवार्य रूप से

टिप्पणी

'आदिम' और 'पिछड़ा' है। जनजाति या आदिवासी समुदाय सापेक्ष अलगाव, सांस्कृतिक विशिष्टता और उत्पादन और निर्वाह के निम्न स्तर के कारण अन्य समुदायों से अलग हैं।

भारतीय समाज में परिवार के रूपों में बहुत विविधताएं हैं। इन रूपों को अनेक भिन्न–भिन्न आधारों यथा वंशनाम, आवास, सदस्यता तथा यौन साथियों की संख्या के आधार पर अलग किया जा सकता है। भारत के अधिकतर समुदायों में वंशनाम पिता की परम्परा में तलाशा जाता है। इसे पितृवंशी वंशनाम कहा जाता है। मातृ समाजों में उत्तर–पूर्व में गारों, खासी और प्नार तथा दक्षिण भारत में नायर, माप्पिला आदि अनेक आदिवासी और गैर आदिवासी समूह आते हैं। इन समाजों में वंशनाम माता की परम्परा से मिलता है। इन दो मुख्य व्यवस्थाओं के अतिरिक्त ऐसे सजातीय समुदायों– एंग्लो इंडियन तथा कुछ जनजातीय समूहों के उदाहरण भी हैं जिनमें उभयवाही प्रवृत्तियां हैं। वे पिता से नाम ले सकते हैं लेकिन अपना वंशनाम खोजने के लिए वे मां की परंपरा की ओर भी जा सकते हैं।

भारत को प्रायः 'संयुक्त परिवारों' का देश कहा जाता है। सामाजिक मानवविज्ञानी तथा समाजशास्त्री साहित्य में इस शब्द का प्रयोग कम होता है। मूल तथा विस्तारित परिवार के बीच अंतर है। विस्तारित परिवार की इकाइयों का ही उल्लेख सामान्य तथा संयुक्त परिवार के रूप में किया जाता है। मूल परिवार का अर्थ है एक विवाहित युगल और उनके बच्चे। दूसरी ओर विस्तारित परिवार एक बड़ा समूह है जिसमें वंशमार्ग से संबंधित दो या तीन पीढ़ियां, उनकी पत्नियां और बच्चे शामिल हैं। यौन साथियों की संख्या के आधार पर भी परिवारों का वर्गीकरण होता है। भारत में जनजातियों, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच बहुपत्नी प्रथा का व्यापक चलन था। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के अनुसार हिन्दुओं से एकविवाह के नियम का पालन करना अपेक्षित है किन्तु जनगणना के आंकड़ों से प्रतीत होता है कि सीमित पैमाने पर बहुपत्नी प्रथा अब भी जारी है। अनुसूचित जनजातियों को उनके अपने प्रथागत कानून का पालन करने की अनुमति है। स्वतंत्रता के पश्चात 1951 में हुई जनगणना के अनुसार मुस्लिम जनसंख्या 9.8 प्रतिशत थी। भारत के मुसलमानों में बहुपत्नी विवाह की घटनाएं 1931–40 में 7. 29 प्रतिशत, 1941–50 में 7.06 प्रतिशत और 1951–60 में 4.31 प्रतिशत थी। 2011 की जनगणना के अनुसार मुस्लिम जनसंख्या बढ़ कर 14.2 प्रतिशत हो गई। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS) 2006 के अंतिम प्राप्त आंकड़ों के अनुसार मुसलमानों में बहुपत्नी विवाह का प्रतिशत 2.5 था। ये आंकड़े लगभग एक लाख विवाहों के सर्वेक्षण पर आधारित हैं। बहुपति प्रथा कुछ छोटे स्थानों में सीमित है। उत्तर में यह प्रथा उत्तर प्रदेश के खासा (जौनसारी) और हिमाचल प्रदेश के किन्नौर तथा लाहुल और स्पीती के लोगों में प्रचलित है।

भारत में बहुविवाह

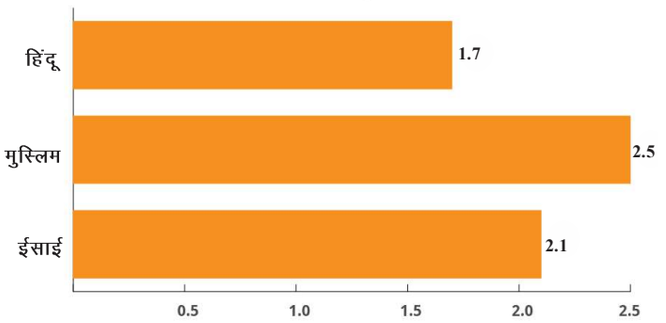

स्रोत : NFHS-2006

टिप्पणी

भारतीय समाज के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढांचों को समझने के लिए भारतीय समाज को दो भागों– ग्रामीण सामाजिक संरचना तथा नगरीय सामाजिक संरचना में बांटते हैं। मूल रूप से ये दोनों सामाजिक संरचनाएं भारतीय समाज को एक बड़े फलक पर समझने का आधार देती हैं। गांव, कस्बा और नगर मानव बस्तियों की श्रेणियां हैं। ये श्रेणियां आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्यों के लिए एक–दूसरे पर निर्भर हैं। भारत एक ऐसा देश है जहां अधिकांश आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार, लगभग 70 प्रतिशत भारतीय समाज गांवों में रहता है। कृषि भारतीय समाज का मुख्य व्यवसाय है अगर खराब मानसून से कृषि उत्पादन में कमी होती है तो भारत की आर्थिक स्थिति भी काफी प्रभावित होती है। ग्रामीण समाज की अपनी अलग संरचना है जो नगरीय संरचना से काफी अलग है। ग्रामीण पारिवारिक संरचना, आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक संरचना में बदलते दौर में कई परिवर्तन हुए हैं इसके बावजूद आज भी नगरीय समाज की इन संरचनाओं से यह अलग अपनी पहचान रखता है। संयुक्त परिवार ग्रामीण व्यवस्था में आज भी मौजूद हैं। जातिगत कठोरता ग्रामीण व्यवस्था में ज्यादा है। श्यामाचरण दुबे के अनुसार– "यह मत बहुत प्रचारित है कि भारतीय ग्राम 'आत्मनिर्भर' नन्हे गणतंत्र हैं लेकिन ऐसा नहीं है। अतीत में भी उन्हें कम से कम कुछ चीजों के लिए तो बाहरी संसाधनों पर निर्भर करना ही पड़ता था।"

उदाहरण के लिए प्रतिदिन के भोजन के लिए जरूरी सामान्य नमक की आपूर्ति घुमंतू बंजारों द्वारा की जाती थी। अन्य अनेक वस्तुओं (जैसे चूड़ियां) के लिए भी गांवों के बीच व्यापार होता था।

बढ़ते ग्रामीण–शहरी संपर्कों के साथ दो भिन्न प्रतिमान समूह उभर रहे हैं। गांव में लोग परम्परागत प्रतिमानों का पालन करते हैं जैसे कर्मकांडीय पवित्रता तथा अपवित्रता, सहभोज के नियम, कठोर जाति अंतर्विवाह आदि। शहरी परिवेश में ये प्रतिमान काफी ढीले हो गए हैं। नगरों में युवा पीढ़ी नए तौर–तरीके अपना रही है। उनके क्रियाकलापों में परंपरागत प्रतिमानों के पालन का महत्व बहुत कम है।

भारत में सांस्कृतिक अस्मिताओं का निर्माण धर्म, क्षेत्र और जातीयता के आधार पर हुआ है। इनमें से धर्म एक मिथ्या संकेत हैं। एक विशेष धर्म के अनुयायियों में विश्वास, उपासना पद्धतियों तथा कर्मकांडों के अतिरिक्त और कोई विशेष समानता दिखायी नहीं देती। उपासना के रूपों और कर्मकांडों में भी सम्प्रदायगत और क्षेत्रीय भिन्नताएं होती हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दू समरूप नहीं हैं, न मुस्लिम ही समरूप हैं। तमिलनाडु के ब्राह्मण कश्मीर के ब्राह्मणों से बहुत भिन्न हैं। इसी तरह केरल और उत्तर प्रदेश के मुसलमानों की संस्कृति के अनेक पक्षों में भिन्नता है। क्षेत्रीय पहचान अधिक वास्तविक है। विभिन्न धर्मों और जातियों के लोगों की अनेक क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशेषताएं समान होती हैं जैसे भाषा, भोजन, वेशभूषा। उनके सांस्कृतिक मूल्य तथा विश्वदृष्टि भी समान होती है। बंगाल में हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने बंगाली होने पर गर्व महसूस करते हैं। सांस्कृतिक गतिविधि के अनेक पक्षों में भारत का घुला–मिला एकीकृत स्वरूप प्रतिबिंबित होता है। उदाहरण के लिए भारतीय संगीत ने धार्मिक विभेदों को कभी मान्यता नहीं दी। हिन्दुस्तानी संगीत के विकास में हिन्दू और मुसलमान दोनों का योगदान समान रूप से महत्वपूर्ण रहा है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. कहां के अधिकतर समुदायों में वंशनाम पिता की परंपरा में तलाशा जाता है?
   (क) भारत के (ख) विदेशों के
   (ग) परलोक के (घ) दूसरी दुनिया के
2. किसे संयुक्त परिवारों का देश कहा जाता है?
   (क) अमेरिका को (ख) इंग्लैंड को
   (ग) भारत को (घ) रूस को
3. कहां पर हिंदू और मुसलमान दोनों अपने बंगाली होने पर गर्व महसूस करते हैं?
   (क) नेपाल में (ख) बंगाल में
   (ग) पाकिस्तान में (घ) श्रीलंका में

1.3 सांस्कृतिक विविधता के स्तर और परिमाण

भारत एक बहुल समाज है। इसकी एकता और विविधता इसकी विशेषता है। विविधता में एकता– एक घिसे–पिटे मुहावरों के रूप में भारत की अपनी पहचान का हिस्सा बन गया है। विभिन्न जातियों और समुदायों के बीच संस्कृतियों, धर्मों और भाषाओं के संश्लेषण ने इसकी एकता और सामंजस्य को बरकरार रखा है। मुगल शासन और ब्रिटिश शासन के बावजूद राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखा गया है। यह वह संश्लेषण है जिसने भारत को संस्कृतियों का एक अनूठा मोज़ेक (Mosaic) बना दिया है। भारत ने ब्रिटिश राज के खिलाफ एक बड़ी लड़ाई लड़ी।

विदेशी आक्रमण, दुनिया के अन्य हिस्सों से आव्रजन और विविध भाषाओं, संस्कृतियों और धर्मों के अस्तित्व ने एक तरफ भारत की संस्कृति को सहिष्णु बना दिया है और दूसरी तरफ इसकी विशिष्टता और ऐतिहासिकता के साथ एक अद्वितीय निरंतर और जीवित संस्कृति है। भारत में विविधता न केवल नस्लीय रचनाओं, धार्मिक और भाषाई भेद के आधार पर है, बल्कि जीवन शैली, भूमि प्रणाली, व्यावसायिक कार्य, विरासत और उत्तराधिकार कानून और जन्म, विवाह मृत्यु आदि से संबंधित प्रथाओं और संस्कारों के बारे में भी है।

स्वतंत्रता के बाद भारत कई बाधाओं से लड़ते हुए एकजुट राष्ट्र है। भारत की एकता का विचार उसके सभी ऐतिहासिक और सामाजिक–सांस्कृतिक तथ्यों के साथ–साथ उसकी सांस्कृतिक विरासत में निहित है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। इसका एक संविधान है जो विविध क्षेत्रों, धर्मों, संस्कृतियों और भाषाओं से संबंधित लोगों के लिए गारंटी प्रदान करता है। इसमें सभी सामाजिक–आर्थिक क्षेत्रों से जुड़े लोग शामिल हैं। पंचवर्षीय योजनाएं और कई अन्य विकास से सम्बन्धित योजनाएं समाज के गरीब और कमजोर वर्गों के उत्थान के लिए कार्यरत हैं।

1.3.1 भारतीय समाज में विविधता

भारत में विविधता के स्रोतों का पता विभिन्न माध्यमों से लगाया जा सकता है। सबसे स्पष्ट रूप में नृजातीय मूल, जातियां, जनजातियां, भाषाएं, सामाजिक रीति–रिवाज,

सांस्कृतिक और उप–सांस्कृतिक मान्यताएं, राजनीतिक दर्शन और विचारधाराएं, भौगोलिक विविधताएं आदि हैं।

नस्लीय विविधता

टिप्पणी

ए.डब्ल्यू. ग्रीन के अनुसार, "नस्ल एक बड़ा जैविक मानव समूह है जिसमें कई विशिष्ट, वंशानुगत विशेषताएं हैं जो एक निश्चित सीमा के भीतर बदलती हैं। (According to A. W. Green, "A race is a large biological human grouping with a number of distinctive, inherited characteristics which vary within a certain range.")

सर हर्बर्ट ने भारतीय जनसंख्या को निम्नलिखित सात नस्लीय प्रकारों में वर्गीकृत किया है–

1. **तुर्को ईरानियन** : ये मुख्य रूप से बलूचिस्तान और अफगानिस्तान पाए जाते हैं, जो अब भारत की राजनीतिक सीमाओं से बाहर हैं।
2. **इंडो–आर्यन** : ये मुख्य रूप से पूर्वी पंजाब, राजस्थान और कश्मीर में पाये जाते हैं, विशेषकर राजपूत, खत्री और जाट जाति के लोगों में।
3. **सीथो–द्रविड़ियन :** ये सीथियन और द्रविड़ियन का मिश्रण हैं। कहा जाता है कि इस नस्ल के लोग सौराष्ट्र, कुर्ग और मध्य प्रदेश के पहाड़ी इलाकों में पाये जाते हैं।
4. **आर्यो–द्रविड़ियन** : यह इंडो–आर्यन और द्रविड़ नस्लों का एक सम्मिश्रण है। ये मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश और बिहार में मिलते हैं। आर्य तत्व ब्राह्मण और अन्य उच्च जातियों में अधिक स्पष्ट है जबकि द्रविड़ तत्व इस क्षेत्र के हरिजन और अन्य निम्न जाति के लोगों के बीच अधिक स्पष्ट है।
5. **मोंगोलो द्रविड़ियन** : ये द्रविड़ियन और मंगोलियन का मिश्रण हैं। ऐसा माना जाता है कि बंगाल और ओडिशा के ब्राह्मण और कायस्थ इस नस्ल से आते हैं।
6. **द मंगोलॉइड** : यह नस्लीय तत्व मुख्य रूप से नॉर्थएस्ट फ्रंटियर और असम के आदिवासी लोगों के बीच पाया जाता है।
7. **द्रविड़ियन** : दक्षिण भारत और मध्य प्रदेश के लोगों का सम्बन्ध इस नस्ल से होने का दावा किया जाता है।

रिजले ने भारतीय आबादी में नेग्रिटो (Negrito) तत्व की उपस्थिति का उल्लेख नहीं किया है।

जे.एच. हटन ने भारतीय आबादी की नस्लीय संरचना का वर्णन करते हुए कहा कि भारत के सबसे पुराने निवासी शायद नीग्रोज थे। हालांकि आज भारत में उनके बारे में बहुत कम जानकारी मौजूद है। इसके बाद ऑस्ट्रलॉइड नस्ल आई, जिसे अक्सर प्रोटोएस्ट्रोलाइड या प्री–द्रविड़ियन रेस के रूप में जाना जाता है। हटन का मानना है कि यद्यपि मिश्रित रूप में यह नस्ल भारतीय समाज की निम्न जातियों और निचले वर्गों के लोगों के बीच व्यापक रूप से फैली हुई है। यह माना जाता है कि Australoids सिंधु घाटी सभ्यता से जुड़े थे।

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय जनसंख्या में विश्व की लगभग सभी महत्वपूर्ण नस्लों की मौजूदगी है। नस्लों का अंतर–मिश्रण इतना गहन है कि एक ही परिवार में भी हमें एक सदस्य काफी गोरा और दूसरा सदस्य काफी काला लगता है। भारत को इसीलिए 'museum of races' कहा जाता है।

धार्मिक विविधता

टिप्पणी

भारत एक ऐसी भूमि है जहां विश्व के लगभग सभी प्रमुख धर्म पाए जाते हैं। यहां हिंदू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, पारसी और जीववाद (Animism) मानने वाले लोग रहते हैं। ये सभी मुख्य धर्म कई सम्प्रदायों में विभाजित हैं।

भारत में धार्मिक सम्बद्धताएं अधिक बल देती हैं। जैसे भारत में लोग कुछ समय के लिए अपने राष्ट्र की तुलना में अपने धर्म के प्रति अधिक वफादार लगते हैं। यह धार्मिक विविधता देश में असंगति और आपसी झगड़े का कारण रही है। ज्ञात है, ये धार्मिक मतभेद 1947 में दो राष्ट्र सिद्धांत और देश के विभाजन के लिए जिम्मेदार थे।

1. **हिंदू धर्म** : यह इंडो–आर्यन, द्रविड़ियन और पूर्व–द्रविड़ धार्मिक तत्वों का एक मिश्रण है। यह भारत के बहुसंख्यक लोगों का धर्म है। हिंदू धर्म के अनुयायी 'कर्म', 'धर्म', पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, त्याग और मोक्ष के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। हिंदू धर्म भगवान की कई संभावित अवधारणाओं की अनुमति देता है। यह भगवान को प्राप्त करने के विभिन्न वैकल्पिक रास्तों को भी बताता है। शक, शैव, सतनामी, लिंगायत, कबीरपंथी, ब्रम्ह समाज, आर्य समाज आदि हिंदू धर्म के विभिन्न संप्रदाय हैं।

   1991 की जनगणना के अनुसार, भारत में 697.4 मिलियन लोग (82.6%) हिंदू धर्म का पालन करते हैं और आम मान्यताओं, त्योहारों, रीति–रिवाजों और परंपराओं के माध्यम से राष्ट्रीय एकता के लिए एक ठोस आधार प्रदान करते हैं।

2. **इस्लाम धर्म** : इस्लाम धर्म अरेबिया में उत्पन्न हुआ। यह मुस्लिम आक्रमणों के साथ 12वीं शताब्दी की अंतिम तिमाही में भारत आया था। भारत में मुस्लिम शासकों ने इस धर्म को संरक्षण दिया। उन्होंने देश के बड़े हिस्सों पर कई बड़े राजवंश स्थापित किए और धर्म रूपांतरण को प्रोत्साहित किया। इस्लाम मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करता है। यह अल्लाह की इच्छा को स्वीकार करता है और पैगंबर मोहम्मद को सबसे बड़ा मानता है। कुरान, इस्लाम की पवित्र पुस्तक, एक सच्चे और धर्मनिष्ठ मुसलमान को पांच प्राथमिक कर्तव्यों का पालन करने पर जोर देती है– जैसे कि ईश्वर (अल्लाह) में विश्वास, दिन में पांच बार नमाज अदा करना, भिक्षा देना, हर साल एक महीने का व्रत और मुस्लिमों के जीवन काल में कम से कम एक बार मक्का की तीर्थ यात्रा करना।

3. **ईसाई धर्म** : भारत में ईसाई धर्म मानने वालों की जनसंख्या 2% से अधिक है। वे पूरे देश में बिखरे हुए हैं, लेकिन वे मुख्य रूप से दक्षिण में और विशेष रूप से केरल में केंद्रित हैं जहां वे राज्य की आबादी का लगभग 25% हैं। उत्तर भारत में इसाई धर्म को मानने वाले छिटपुट रूप से फैले हैं और इसका प्रभाव मुख्य रूप से आदिवासी आबादी और दबी–कुचली जातियों के कुछ वर्गों तक ही सीमित है। ईसाई धर्म में मुख्य रूप से तीन संप्रदाय हैं– (i) रोमन–सीरियाई, (ii) रोमन कैथोलिक और (iii) प्रोटेस्टेंट।

4. **सिख धर्म** : इस धर्म की स्थापना 16वीं शताब्दी में गुरु नानक द्वारा की गई थी। सिख मूल रूप से वैष्णव संप्रदाय का हिस्सा थे। रोज के अनुसार "सिख पंथ में एक भगवान में विश्वास रखते हैं, अन्य देवता की पूजा का निषेध है; यह मूर्तिपूजा, हिंदू धर्म के महान मंदिरों, तीर्थस्थलों पर विश्वास, आकर्षण या तीर्थयात्रा पर प्रतिबंध लगाता है। यह जादू–टोना, जन्म और मृत्यु पर औपचारिक

टिप्पणी

अशुद्धता को मान्यता नहीं देता है। एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में यह जाति भेद को समाप्त करता है। सिख वैचारिक रूप से मुसलमानों की तुलना में हिंदुओं के अधिक निकट हैं। एक समूह के रूप में वे आसानी से किसी के द्वारा पहचाने जा सकते हैं, क्योंकि वे पांच "के" हमेशा पहनते हैं। ये पांच 'K' हैं– केश (बिना कटे लंबे बाल), कंगा (लकड़ी की कंघी) कच्छा (जांघिया), कारा (हाथ में लोहे का कड़ा) और किरपान (छोटी तलवार)। भारत में सिख आबादी लगभग 2% है जो मुख्य रूप से पंजाब और आसपास के राज्यों में केंद्रित है।

5. **बौद्ध धर्म** : इसका जन्म छठी शताब्दी ईसा पूर्व के दौरान भारत में हुआ था। इसके संस्थापक गौतम बुद्ध थे। बौद्ध धर्म ने लम्बे समय तक शाही संरक्षण का आनंद लिया जो तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में महान सम्राट अशोक के शासन काल से शुरू हुआ। परिणामस्वरूप, बौद्ध धर्म का प्रसार केवल भारत में नहीं हुआ बल्कि भारत के बाहर के देशों में भी इसका तेजी से प्रसार हुआ। इसके दो संप्रदाय हैं, अर्थात् हीनायान (Hinayana) और महायान (Mahayana)। वर्तमान में बौद्ध सिक्किम और आसपास की पहाड़ियों में पाए जाते हैं। इस धर्म का हाल ही में डॉ. अंबेडकर के नेतृत्व में धर्मांतरण के परिणामस्वरूप महाराष्ट्र में बहुत प्रचार हुआ। हालांकि भारत में बौद्धों की संख्या बहुत कम है और यह कुल आबादी के 1% से भी कम का प्रतिनिधित्व करती है।

6. **जैन धर्म** : भगवान महावीर ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में जैन धर्म की स्थापना की। यह हिंदू धर्म के बहुत करीब है। इसमें कई हिंदू सिद्धांत बरकरार हैं। हिंदुओं की तरह ही जैन धर्म को मानने वाले गायों की पूजा करते हैं। ये अकसर हिंदू मंदिरों में पूजा करते हैं और घरेलू संस्कारों में ब्राह्मण पुजारी की सेवाएं लेते हैं। जाति भेद को बनाए रखने में हिंदू धर्म की तुलना में अधिक स्पष्ट हैं। 'अहिंसा के सिद्धांत' पर इनका जोर सबसे ज्यादा होता है। जैन भारतीय आबादी के केवल एक छोटे से हिस्से का प्रतिनिधित्व करते हैं। देश की पूरी आबादी के लगभग 0.45% लोग ही इस धर्म को मानते हैं। जैन धर्म को 3 संप्रदायों में विभाजित किया गया है– (i) दिगंबर, (ii) श्वेताम्बर और (iii) धुन्डियाज। जैन मुख्य रूप से पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र के शहरों में पाए जाते हैं।

7. **पारसी** : ऐसा माना जाता है कि इस्लाम के जबरन धर्मांतरण से बचने के लिए Zorathushtra के Zoroaster के अनुयायी या पारसी सातवीं शताब्दी ए डी में पर्शिया से भारत आए थे। वे अग्नि की पूजा करते हैं। भारत में इनकी संख्या नगण्य है। वे कुल आबादी में लगभग एक लाख हैं जो अकेले बंबई शहर में रहते हैं। वे सबसे अधिक साक्षर हैं और भारत की आर्थिक पायदान के शीर्ष पर हैं।

8. **जीववाद** : यह मुख्य रूप से एक आदिवासी आस्था है। भारत में लगभग 25 मिलियन लोग हैं जो जीववाद यानी एनीनिज्म में विश्वास करते हैं। यह एक आदिम धर्म है, जिसके अनुसार माना जाता है कि मनुष्य कई प्रकार की अवैयक्तिक भूत–प्रेत शक्तियों से घिरा हुआ है। ये शक्तियां चट्टानों, नदियों, पेड़ों, पत्थरों आदि में निवास करती हैं।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि भारत कई धर्मों का देश है। इस धार्मिक विविधता के मद्देनजर स्वतंत्र भारत ने धर्मनिरपेक्षता को अपनी राज्य नीति के मुख्य सिद्धांतों में से एक घोषित किया है। आज भारत अपने को धर्मनिरपेक्ष तर्ज पर एक महान राष्ट्र के

टिप्पणी

रूप में एकीकृत करने का प्रयास करता है। लेकिन राज्य द्वारा धर्मनिरपेक्ष नीति के बावजूद भारत में कई बार सांप्रदायिक दंगे हुए हैं, जिससे जान–माल का बहुत नुकसान हुआ है। यह देखना है कि हम अपने लोगों के दिमाग में धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को कैसे आगे बढ़ा पाएंगे।

भाषायी विभिन्नता

ए. आर. देसाई के अनुसार– "भारत बोली और भाषा की संग्रहालय की एक झलक प्रस्तुत करता है।" 1971 की जनगणना के अनुसार भारत में 1652 प्रकार कि भाषाओं का उपयोग होता था। अधिकांश भाषाएं उत्तर भारत में बोली जाती थीं। भाषाओं की यह बहुलता भारत में पहले से जाति और वंश के आधार पर विभाजित जनसंख्या में नई सामाजिक दरार पैदा करती है और देश के अन्दर संचार के कार्य को मुश्किल बनाती है। हालांकि, भारतीय भाषाओं को चार अलग–अलग भागों में बांटा जा सकता है जैसे– (1) इंडो–आर्यन, (2) द्रविड़ियन, (3) ऑस्ट्रिक और (4) सिनो–तिब्बती। हिंदी, उर्दू, पंजाबी, असमिया, बंगाली, ओडिया, गुजराती, मराठी और कश्मीरी भाषाएं इंडो–आर्यन समूह से संबंधित हैं। द्रविड़ भाषाई समूह में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम जैसी चार दक्षिणी भाषाएं शामिल हैं। मध्य भारत की जनजातियां ऑस्ट्रिक भाषाएं बोलती हैं और उत्तर पूर्वी भारत की जनजातियां चीनी–तिब्बती भाषाएं बोलती हैं। 1947 में स्वतंत्रता के समय भारत में कई रियासतें थीं। भारत का संविधान 20 नवंबर, 1949 को अपनाया गया और 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ जिसमें विभिन्न राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों को मिलाकर भारत संघ को परिभाषित किया गया। 1950 में भाषाई आधार पर राज्यों को मान्यता दी गई। इसके चलते एक विशेष राज्य में एक विशेष भाषा को मान्यता मिली। हालांकि भारत के संविधान ने 22 प्रमुख भाषाओं को मान्यता दी है। मोटे तौर पर ये भाषाएं इंडो–आर्यन, द्रविड़ियन और यूरोपीय जैसी भाषाओं के परिवारों की हैं। हिंदी, बंगाली, मराठी, गुजराती, ओडिया, पंजाबी, बिहारी, राजस्थानी, असमिया, संस्कृत, सिंधी और कश्मीरी इंडो–आर्यन परिवार में शामिल हैं। द्रविड़ भाषा में तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ शामिल हैं। अंग्रेजी, पुर्तगाली और फ्रेंच यूरोपीय भाषा परिवार में शामिल हैं। पुर्तगाली और फ्रेंच क्रमशः गोवा और पांडिचेरी में लोगों द्वारा बोली जाती हैं। भारत में हिंदी को आधिकारिक भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है, अंग्रेजी एक सहयोगी भाषा बनी हुई है। 1991 की जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है कि हिंदी 247.85 मिलियन लोगों द्वारा बोली जाती है, जिसके बाद तेलुगु 72.8 मिलियन, बंगाली 71.78 मिलियन, मराठी 67.26 मिलियन लोगों द्वारा बोली जाती है। उर्दू 46.11 मिलियन और गुजराती 41.37 मिलियन लोगों द्वारा बोली जाती हैं। 35.32 मिलियन लोग मलयालम, 34.78 मिलियन लोग कन्नड़, 31.79 मिलियन लोग ओडिया, 23.11 मिलियन लोग भोजपुरी, 22.41 मिलियन लोग पंजाबी बोलते हैं और बाकी भाषाएं एक मिलियन से बीस मिलियन के भीतर लोगों द्वारा बोली जाती हैं। इस प्रकार भाषाई विविधता ने हमारे देश की एकता और अस्तित्व के लिए एक खतरा पैदा कर दिया है।

जाति और वर्ग विविधता

स्तरीकरण के सन्दर्भ में, जाति व्यवस्था भारतीय समाज के लिए एकदम अनूठी है। इसे बंद वर्ग प्रणाली का चरम रूप कहा जा सकता है। सामाजिक पदानुक्रम में व्यक्तियों की स्थिति जन्म से निर्धारित होती है। जाति व्यवस्था दुनिया के अन्य हिस्सों में भी पाई जाती है, लेकिन उस रूप में नहीं जैसे भारत में पाई जाती हैं क्योंकि जाति भारत में विकसित

टिप्पणी

हुई है। भारतीय जाति व्यवस्था ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों में विभाजित है। यह केवल हिंदुओं तक ही सीमित नहीं है। अन्य समुदायों जैसे मुसलमानों, ईसाइयों या सिखों में भी हम जातियों को पाते हैं। यह माना जाता है कि भारत में लगभग 3,000 जातियां हैं। इस आधार पर कोई भी भारत में जाति की विविधता की कल्पना कर सकता है।

प्रत्येक समाज अपनी आबादी को व्यवसाय, धन या शिक्षा के आधार पर विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत करता है, जिन्हें वर्ग की प्रमुख विशेषताएं माना जाता है। समाज के विशेष खंड से संबंधित व्यक्तियों को एक अलग वर्ग के रूप में माना जाता है। वे अपने स्वयं के मूल्यों और आकांक्षाओं को अपने समुदाय के लिए तैयार करते हैं ताकि समुदाय का अस्तित्व बना रहे।

वर्ग चेतना जितनी मजबूत होगी, सामाजिक संघर्षों की संभावना उतनी अधिक होगी। भारत में एक बंद समाज (जाति) भी है। सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की गति से वर्ग चेतना तेज हो गई है और इससे पुरानी सामाजिक व्यवस्था को खतरा पैदा हो गया है।

1.3.2 भारतीय समाज में एकता

भारत एक विशाल देश है जिसमें विविध धर्मों, भाषाओं और रीति–रिवाजों को मानने वाले लोग रहते हैं। लेकिन इस सभी स्पष्ट विविधता के पीछे एक मौलिक एकता है जो अक्सर एक पर्यवेक्षक, जो केवल बाहरी पहलुओं के बारे में अधिक चिंतित है, की दृष्टि से बची रहती है। लेकिन तथ्य यह है कि एकता का विचार भारत के लिए कुछ नया नहीं है। एक एकीकृत भारत की अवधारणा हमेशा इस भूमि के कई महान व्यक्तियों का विचार रहा है। विचार काल्पनिक भी नहीं है। भारतीय एकता कुछ विशिष्ट कारकों का उत्पाद है जो भारतीय सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मौजूद हैं।

1. भौगोलिक एकता

भारत, आकार में बहुत बड़ा होने के बावजूद प्राकृतिक सीमाओं के साथ भौगोलिक एकता रखता है। यह एक तरफ महान हिमालय और दूसरी तरफ समुद्रों से घिरा है। ये प्राकृतिक सीमाएं भूमि को भौगोलिक एकता देती हैं।

"भारतवर्ष" शब्द का अर्थ है– भारत ने हमेशा इस विशाल विस्तार को संदर्भित किया है, उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में केप कोमोरिन तक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र से पश्चिम में सिंधु तक का विस्तार। धार्मिक विचारक, राजनीतिक दार्शनिक, कवियों, राजनेताओं और राजाओं ने हमेशा इसी अर्थ में भारतवर्ष की कल्पना की है। आज भी भारत माता का अर्थ है भूमि का यह विशाल विस्तार।

2. धार्मिक एकता

भारत कई धर्मों का देश है। यहां तक कि हिंदू धर्म भी एक अखंड धर्म नहीं है। इसमें कई संप्रदाय हैं। लेकिन, इन सभी धार्मिक विविधताओं के बावजूद जैसा कि प्रो. श्रीनिवास कहते हैं– "भारत की एकता की अवधारणा अनिवार्य रूप से धार्मिक है।" हिंदू धर्म भारत के बहुसंख्यक लोगों का धर्म होने के नाते एकता का आधार प्रदान करता है। यह सच है कि हिंदू धर्म में कई संप्रदाय हैं, लेकिन उन सभी में कुछ समान होता है जब वे थोड़े बदलावों के साथ एक ही तरह के विश्वास जैसे– आत्मा की अमरता, आत्मा का परित्याग, पुनर्जन्म, कर्म का नियम, धर्म, मोक्ष आदि का प्रचार करते हैं।

टिप्पणी

जहां तक इन मान्यताओं का संबंध है बौद्ध धर्म और जैन धर्म हिंदू धर्म से बहुत अलग नहीं हैं। हालांकि हिंदू धर्म ईश्वर की कई संभावित धारणाओं को मानता है और ईश्वर से मिलन के लिए कई तरह के तरीके भी बताता है फिर भी यह घोषणा करते समय एकता के विचार– "भगवान एक है, वे कई नामों से पुकारते हैं" पर जोर देता है।

हिन्दू धर्म अपने संप्रदाय सम्बन्धी मतभेदों के बावजूद समान मिथकों, किंवदंतियों और देवताओं को साझा किया है। रामायण, महाभारत और भागवत जैसे महाकाव्य थोड़े–बहुत अंतर के साथ जिस तरह से भक्ति के रूप में दक्षिण के राज्यों पढ़े जाते हैं उसी तरह उत्तर के राज्यों में। भाषा, जाति और रीति–रिवाजों में अंतर के बावजूद सभी हिन्दू वेदों, उपनिषदों, गीता और पुराणों जैसे हिंदू धर्मग्रंथों के प्रति समान सम्मान दिखाते हैं। देश की धार्मिक एकता पूरे देश में फैले तीर्थस्थलों के अस्तित्व के माध्यम से व्यक्त की जाती है। धार्मिक मूल्य के तीर्थस्थल जैसे उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम, पश्चिम में द्वारिका और पूर्व में पुरी भारतवर्ष की धार्मिक एकता को बयां करते हैं।

हिमालय की तरह पहाड़ और गंगा, यमुना और गोदावरी जैसी नदियां हैं जो हर हिंदू के लिए पवित्र हैं। धार्मिक महत्व के ये केंद्र देश भर में फैले मंदिर, पहाड़ और नदियां हर हिंदू को यह महसूस कराते हैं कि देश की हर इंच भूमि पवित्र है।

3. सांस्कृतिक एकता

भारत सांस्कृतिक एकता रखता है जो भारतीय सामाजिक जीवन के हर पहलू के माध्यम से दिखता है। दर्शन, कला, साहित्य, परंपराओं और रीति–रिवाजों के मूल दृष्टिकोण आमतौर पर चरित्र में भारतीय हैं। सामाजिक संस्थाएं जैसे जाति और संयुक्त परिवार पूरी तरह से भारतीय हैं। प्रत्येक भारतीय चाहे वह हिंदू हो, मुसलमान हो, सिख हो, जैन हो, बौद्ध हो या ईसाई वह खुद को जाति के ब्रह्मांड में पाता है। संयुक्त परिवार के मामले में भी ऐसा ही है। एक ही तरह के अनुष्ठान, संस्कार और त्योहार पूरे देश में एक समान शैली में बहुत अधिक देखे जाते हैं।

4. राजनीतिक एकता

राजनीतिक एकता भारतीयों के लिए नई नहीं है। पूरे देश को एक केंद्रीय अधिकार में लाने का विचार हमेशा भारत में राजाओं और राजनेताओं के साथ रहा है। 'चक्रवर्ती' की अवधारणा स्पष्ट रूप से एक प्राधिकरण (authority) के तहत भारत के राजनीतिक एकीकरण के विचार को संदर्भित करती है। प्राचीन भारतीय साहित्य में हम दिलीप, सागर, यजति, मान्धाता और युधिष्ठिर जैसे राजाओं का जिक्र करते हैं, जिन्होंने वास्तव में 'चक्रवर्ती' होने के स्थान को हासिल किया था। बाद में चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त और अन्य कई राजाओं ने भी सार्वभौमिक अधिपति (overlord) होने का गौरव हासिल किया। पिछले राजाओं ने अक्सर इस ओहदे को हासिल करने के अलावा किसी अन्य उद्देश्य के साथ दूसरों पर युद्ध की घोषणा की। धार्मिक प्रथाओं में अश्वमेध यज्ञ जैसे अनुष्ठान केवल धार्मिक समर्थन की ओर इशारा करते हैं लेकिन यदि एक केंद्रीय प्राधिकरण के सन्दर्भ में देखें तो हम पाते हैं कि ऐसे अनुष्ठान भारत के राजनीतिक एकीकरण के विचार को विस्तार देते हैं।

5. भावनात्मक एकता

अंत में भारत में एक भावनात्मक बंधन है जो देश के सभी निवासियों को बांधता है। शब्द 'भारतमाता' सभी भारतीयों को भावनात्मक रूप से एक–दूसरे के करीब लाता है। वर्तमान में 'भारत माता की जय' और 'वन्दे मातरम' जैसे नारों ने भावनात्मक एवं राजनीतिक

टिप्पणी

रूप से लोगों को एक साथ बांधने में काफी हद तक सफलता पाई है। बहादुरी, समाज सेवा, एकता के कार्यक्रमों की भावना के लिए देश द्वारा शुरू किए गए राष्ट्रीय पुरस्कारों और उपाधियों से सांप्रदायिक, भाषाई या क्षेत्रीय पूर्वाग्रह में कमी आई है और भावनात्मक एकता को बल मिला है। एक राष्ट्र के रूप में लोगों का भावनात्मक एकीकरण को बढ़ाने में रेडियो, टीवी और सिनेमा जैसे विभिन्न मीडिया का बड़ा योगदान है।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि भारत में जाति, धर्म, भाषा, रीति–रिवाज आदि की स्पष्ट विविधता के बावजूद एकता का एक मजबूत तत्व विद्यमान है। भारत इस प्रकार, विविधता में एकता का एक अच्छा उदाहरण है।

अपनी प्रगति जांचिए

4. भारत ने किसके खिलाफ एक बड़ी लड़ाई लड़ी?

   (क) ब्रिटिश राज के (ख) नेपाल के

   (ग) जापान के (घ) बांग्लादेश के

5. किसने भारतीय जनसंख्या को सात नस्लीय प्रकारों में वर्गीकृत किया है?

   (क) ए.डब्ल्यू. ग्रीन ने (ख) सर हर्बर्ट ने

   (ग) रिजले ने (घ) जे.एच. हटन ने

6. कौन–सा शब्द सभी भारतीयों को भावनात्मक रूप से एक–दूसरे के करीब लाता है?

   (क) भारतमाता (ख) राष्ट्रपिता

   (ग) हिंदुस्तान (घ) राम

1.4 भारतीय समाज में क्षेत्रों, समूहों और समुदायों का आपसी संयोजन

भारतीय समाज बहुत प्राचीन और जटिल समाज है जिसका निर्माण एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया के तहत हुआ है। एक अनुमान के मुताबिक, पहली सभ्यता की जानकारी के समय से भारतीय समाज ने लगभग पांच हजार साल का लम्बा सफर तय किया है। अलग–अलग समय में जिन लाखों करोड़ों लोगों ने विभिन्न नृजातीय और भाषायी विविधता के साथ भारत में प्रवेश किया वे और भारत में पहले से उपस्थित जनसंख्या में मिलकर इसकी विविधता, समृद्धि और संजीदगी को प्रदर्शित करते हैं।

भारत एक बहु–नस्लीय, बहु–धार्मिक, बहु–जाति, बहु–भाषी और बहु–सांस्कृतिक देश है। इतिहास के पन्ने सांप्रदायिक सौहार्द की खुशबू के साथ–साथ सांप्रदायिक कलह के जहर से भी भरे हुए हैं। हमारे राष्ट्रीय नेताओं की उम्मीदों के विपरीत, जिन्होंने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया, हमारे देश की स्वतंत्रता के बाद के समय ने असंख्य सांप्रदायिक दंगों के साथ–साथ राज्य की सीमाओं, भाषा, नदी जल के साथ–साथ औद्योगिक उद्यम, अनुसूचित जाति और अल्पसंख्यक समुदाय पर अत्याचार आदि जैसे विभिन्न मुद्दों पर अंतहीन झगड़े और तनाव भी दे दी हैं।

टिप्पणी

भारतीय समाज के एक पर्यवेक्षक प्रो. एम. एन. श्रीनिवास (1966) ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि– "भारत न केवल विशाल देश है बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक रूप से विविध है। इसके साथ ही साथ इसकी जनसंख्या सामाजिक और आर्थिक रूप से बहुत स्पष्ट तरीके से स्तरीकृत है। विभाजनों का एक महत्वपूर्ण परिणाम है व्यापक अल्पसंख्यक चेतना, जो भारतीय समाज की विशेषता को बताती है।

सामाजिक संरचना से जुड़े अलग–अलग शब्दों जैसे 'जाति', 'वर्ग', 'परिवार', 'गांव', 'समुदाय और नातेदारी' को खंडीय तत्वों के रूप में परिभाषित किया गया है। इन तत्वों के बीच संबंध उन स्थितियों में विकसित हो रहे हैं जो व्यापक समाज में पैदा हो रही है। उदाहरण के लिए, सुरजीत सिन्हा ने कृषि प्रौद्योगिकी और भाषाई और सांस्कृतिक मानदंडों को अपनाने के माध्यम से भारतीय सभ्यता के वर्तमान वर्ग में कुछ विशेष जातियों को आत्मसात करने की प्रक्रिया को चित्रित किया है।

सामाजिक संरचना की मुख्य इकाइयां– जाति, संप्रदाय अथवा धार्मिक समुदाय और परिवार तथा नातेदारी समूह– अकेले अलग–थलग रहकर काम नहीं करतीं। भारतीय समाज सहयोग और संघर्ष का एक रंगमंच है। हम यह पाते हैं कि प्रत्येक ग्राम में अनेक जाति समूहों के लोग रहते हैं। इन समूहों के बीच कुछ क्षेत्रों में अलग–अलग तरह के संबंध होते हैं किन्तु इसके साथ ही उनके बीच पड़ोसी के संबंध तथा व्यक्तिगत और पारिवारिक मित्रताएं एवं शत्रुताएं भी होती हैं।

जजमानी प्रणाली अलग–अलग जाति समूहों के बीच अंतर्निर्भरता को दर्शाती है। जजमानी प्रणाली से समाज के अलग–अलग समूह एक–दूसरे के नजदीक आते हैं। कार्यों के सन्दर्भ में एक–दूसरे पर निर्भरता दो अलग–अलग धर्मों को भी जोड़ने का काम करती है, जैसे एक हिन्दू अपना कपड़ा सिलाने के लिए मुस्लिम दरजी पर निर्भर होता हैं।

सिन्हा का 'आदिवासी–जाति–किसान निरन्तरता मॉडल' हिंदू किसानी (Hindu peasantry) में आदिवासियों के क्रमिक आत्मसात को समझाने के ऐसे प्रयासों की एक निरंतरता है। 'आदिवासी–राजपूत निरन्तरता' को भूमिज के ऐतिहासिक और नृजातीय अध्ययनों (ethnographic studies) के मद्देनजर सुझाया गया है। सिन्हा ने कहा था कि यद्यपि राज्य के गठन की वास्तविक प्रक्रिया ने विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न पाठ्यक्रमों को शामिल किया था, बीरभूमि के भूमिज राज जैसे गोंडवाना के गोंड राज, छोटानागपुर के मुंडा राज मुख्य रूप से एक आदिवासी आधार के आंतरिक विकास के माध्यम से उत्पन्न हुए लगते हैं।

अर्थव्यवस्था के विकास में तेजी लाने और प्रशासन की लागत को पूरा करने के लिए, कई प्रधानों ने ब्राह्मणों और अन्य उच्च जातियों को अपने राज्य में बसने के लिए प्रोत्साहित किया ताकि राज्य को उनके मितव्ययी तरीके, शैक्षणिक अनुभव और कृषि के विशाल ज्ञान से लाभ हो। अपनी उदारता के लिए लाभार्थी को पुरस्कृत करने के लिए, विद्वान ब्राह्मणों ने न केवल जनता को शिक्षित करने का बीड़ा उठाया, बल्कि उन प्रमुख वंशावलियों के बारे में भी बताया, जिन्होंने प्रमुख हिंदू वंश को पौराणिक हिंदू आंकड़ों से जोड़ा। इस प्रक्रिया में हिंदू धर्म के मूल्यों और मानदंडों को आदिवासी लोगों को प्रेषित किया गया था। इस प्रथा ने जहां आदिवासी शासकों को क्षत्रिय का प्रतिष्ठित दर्जा दिलाया, वहीं इसने अपेक्षाकृत समतावादी आदिवासी समाज में जाति के पदानुक्रमिक ढांचे को फिर से तैयार करने का काम भी किया। मध्य प्रदेश के भूमिजों

टिप्पणी

की तरह, बिहार के चेरोज, खरवार और पहाड़ीयज हिंदूकरण के क्षत्रिय मॉडल से बहुत प्रभावित हुए हैं और उन्होंने खुद को क्षत्रिय ब्रांड बनाने के लिए अपनी जीवन शैली को संस्कृतिकरण किया है। सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक लक्षणों, प्रतीकों, मूल्यों और मानदंडों के ऐसे आदान–प्रदान के कारण, आदिवासी संस्कृतियों और हिंदू किसान परंपराओं के बीच निरंतरता के महत्वपूर्ण तत्व पाए जाते हैं। इस तरह से हम देखते हैं कि कैसे आदिवासी समूह हिन्दू धर्म से जुड़े।

मध्य प्रदेश के झाबुई जिले के अलीराजपुर क्षेत्र के भील और भीला आदिवासियों के बीच काम कर चुके जी.एस. अरोड़ा आदिवासियों के बीच सामाजिक मानदंडों और संबंधों की प्रवृत्ति पर चर्चा करते हैं। वे अपने शोध में जनजाति –> जाति–> वर्ग के क्रम में सामाजिक गठन को प्रस्तावित करते हैं। वे पाते हैं कि "यदि हम दो भू–स्वामी जाति – भील और भीला – के बीच के रस्मी संबंधों का अध्ययन करते हैं, तो वे लगभग एक–दूसरे के बराबर कार्य करते हैं। जबकि, इन जमींदार जातियों और बलाई– जिनके पास बहुत कम भूमि है, के बीच अनुष्ठानिक सामाजिक संबंध पैटर्न का पालन तो करते हैं लेकिन 'कुछ सख्ती से।'

वर्तमान समाज आधुनिकीकरण और लचीलेपन के कारण इन संरचनाओं में बहुत बदलाव देख रहा है। उदाहरण के लिए, डी. एन. मजूमदार ने उत्तर–पूर्व भारत के गारों के बीच संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में तीन चरणों की परिकल्पना की है। पहले चरण में आदिवासी बीफ खाने, सूअर रखने और बेईमानी करने जैसी आदतों को छोड़ देते हैं। ये दोनों संकेत हैं कि जनजाति हिंदू समाज में स्वीकृति चाहती है और वे ऐसा दावा भी करते हैं। दूसरा चरण आदिवासी देवताओं का परित्याग और हिंदू देवताओं से जुड़े एक देवता के लिए संस्कार–समारोह आदि है। तीसरा चरण आदिवासी कुल संगठन का त्याग है और इसे हिंदू कुल प्रणाली द्वारा प्रतिस्थापित किया गया है। पूरी प्रक्रिया को मुकम्मल करने के लिए, मजूमदार संकेत देते हैं कि आर्य भाषा को अपनाने से सम्पूर्णता डी–ट्राइबलाइजेशन की प्रक्रिया पूरी होगी। ज्यादातर आदिवासी और अन्य पिछड़ी जातियां तकनीकी परिवर्तन से प्रभावित हैं। उदाहरण के लिए, जो लोग जमशेदपुर में या उसके आसपास रहते हैं, विशेष रूप से स्टील मिलों में काम करने समूह का हिस्सा बनने के लिए उपयुक्त हैं, उनके अस्तित्व के पूरे पैटर्न में बदलाव होता है।

यह स्पष्ट है कि शिक्षा और आर्थिक आधुनिकीकरण की ताकतों ने लोगों में सामाजिक परिवर्तन की दिशा बदल दी है। वे एक कठोर जाति व्यवस्था को एक व्यावसायिक वर्ग समूह– कृषि मजदूर, मजदूरी करने वाले, कारखाने के कर्मचारी, अधिकारी, प्रशासक, शिक्षाविद आदि में स्थानांतरित कर रहे हैं। लोगों में उभरता हुआ राज्य व्यवस्था का तरीका एकीकरण का एक विषम तरीका दिखता है। जिन किसानों ने भूमि, पूंजी और बेहतर उत्पादन के साधनों का अधिग्रहण किया है वे बाजार, धन, शिक्षा और प्रतिस्पर्धी राजनीति के माध्यम से क्षेत्रीय समाज के ऊपरी स्तर के साथ जुड़े हुए हैं। दूसरा समूह जो भूमिहीन किसान या मजदूर हैं वे इस व्यापक समाज के निचले तबके के साथ जुड़े हुए हैं। राष्ट्रीय मॉडल समाज के दोनों स्तरों के लिए आदर्श बना हुआ है।

समाज संबंधों का जाल है और ये सभी संबंध मनुष्य के व्यवहार और समाज के अलग–अलग संस्थानों और समूहों के बारे में समझ पैदा करने के लिए जरूरी हैं। ब्रिटिश काल से ही भारत को हर स्तर पर एकीकृत करने का प्रयास शुरू हो गया था

टिप्पणी

ब्रिटिश शासन व्यवस्था के लिए यह जरूरी भी था कि कैसे उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक देश को जोड़ा जाए। भारत की भगौलिक सीमाओं– उत्तर में हिमालय और अन्य दिशाओं में समुद्र ने देश में भू राजनीतिक एकता स्थापित की है। एम एन श्रीनिवास सामाजिक एकीकरण में धर्म की भूमिका की जांच व्यक्तियों और समूहों के बीच जोड़ने वाली शक्ति के रूप में करते हैं। वे तीन बिन्दुओं को दर्शाते हैं– 1. गांव और अन्य स्थानीय स्तर पर विभिन्न जातियों और धार्मिक समूहों के बीच संबंध, 2. देश के आर्थिक विकास में धर्म की सामान्य भूमिका और 3. धर्म और सामाजिक आर्थिक विशेषाधिकार। धार्मिक समुदायों और विशिष्ट आर्थिक कार्यों के बीच एक जुड़ाव होता है। पूरे देश में विभिन्न समुदायों के प्रसार और उनकी आर्थिक गतिविधियों के विविधीकरण ने सामाजिक एकीकरण की प्रक्रिया को मजबूत किया है।

संसदीय और प्रजातान्त्रिक व्यवस्था देश के हर क्षेत्र में समान रूप शासन करती है। पूरे देश की जनता एक समान राजनीतिक संस्कृति, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद और प्रजातंत्रीय मूल्यों को मानती है। संवाद अलग–अलग समाजों को एक साथ जोड़ने में अहम् भूमिका निभाते हैं और संवाद के लिए एक भाषा की जरूरत पड़ती है। इस सन्दर्भ में अंग्रेजी भाषा ने देश के क्षेत्रों, समूहों और संस्थानों को एक–दूसरे के बहुत करीब ला दिया। देश में अलग–अलग भाषायी समूहों के चलते इन समाजों को एक सूत्र में पिरोना मुश्किल था, पर अंग्रेजी ने इस काम को कर दिखाया।

इसके बाद परिवहन व्यवस्था के विकास के चलते लोगों में अंतःक्रिया तेज हुई। इससे लोगों का एक–दूसरे के प्रदेशों में आना–जाना शुरू हुआ। ब्रिटिश हुकूमत के समय से ही अंतरजातीय विवाह होने लगे थे। इसी कड़ी में आजादी के बाद देश में हिन्दू मैरिज एक्ट 1955 और स्पेशल मैरिज एक्ट 1954 को लागू कर endogamy को खत्म कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप अलग–अलग जाति, समुदाय और धर्म के लोग आपस में जुड़े और सांस्कृतिक तत्वों का आदान–प्रदान शुरू हुआ। भारत के राष्ट्रीय गान में देश को एक सूत्र में बांधने की एक अच्छी कोशिश की गई है। स्वतंत्रता के बाद इस देश के संविधान ने हर धर्म और जाति समुदाय को एक नजर से देखने का काम किया और यह बताया कि संविधान के सामने सब बराबर हैं। समाज के निचले पायदान पर खड़े लोगों को उठाने का काम संविधान द्वारा ही संभव हो पाया जिसके चलते समाज में समानता की सोच को बल मिला। इन सब प्रयासों के चलते समाज के समूहों के बीच जुड़ाव संभव हो पाया।

आधुनिक शिक्षा, परिवहन और संचार के जाल के विकास तथा उद्योगीकरण और शहरीकरण ने समाज के विभिन्न प्रदेशों, समूहों और समुदायों को जोड़ने का काम किया। आधुनिक मूल्यों के फैलाव और समाज में परंपरागत मूल्यों की पकड़ ढीली होने से अंतरजातीय और दो अलग–अलग धर्मों के मानने वाले लोगों के बीच विवाह समाज में होने लगा है। इससे भी समाज में अलग–अलग जातियों और विभिन्न धर्मों के बीच जुड़ाव होने लगा है।

वर्तमान समय में आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व को एक gloabal village के रूप में चित्रित किया है। इसका मतलब साफ है कि केवल देश के विभिन्न सामाजिक समूह ही नहीं बल्कि पूरे विश्व के अलग–अलग सामाजिक समूह और संस्थाएं हर स्तर पर एक–दूसरे से जुड़ रही हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

7. कौन–सा समाज बहुत प्राचीन और जटिल समाज है?
   (क) आर्य समाज (ख) भारतीय समाज
   (ग) आधुनिक समाज (घ) बांग्लादेशी समाज
8. कौन–सी प्रणाली अलग–अलग जाति समूहों के बीच अंतर्निर्भरता को दर्शाती है?
   (क) आधुनिक प्रणाली (ख) प्राचीन प्रणाली
   (ग) जजमानी प्रणाली (घ) जाति प्रणाली
9. डी.एन. मजूमदार ने उत्तर–पूर्व भारत के गारों (गारो जनजाति) के बीच संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में कितने चरणों की परिकल्पना की है?
   (क) पांच (ख) चार
   (ग) दो (घ) तीन

1.5 अतीत और वर्तमान के बीच संस्थानिक, सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक प्रतिरूपों का सातत्य

बदलते दौर में सामाजिक संस्थाओं, सांस्कृतिक तत्वों और व्यावहारिक स्वरूप में परिवर्तन से भारतीय समाज में स्पष्ट बदलाव दिखने लगा है। जाति, परिवार, विवाह, नातेदार, धर्म और आर्थिक प्रणाली आदि सामाजिक संस्थाओं के रूप में कार्य करते हैं– इनमें परिवर्तन तो होता है लेकिन परिवर्तन की गति धीमी होती है। संस्थाएं हालांकि स्थायी संरचनाएं हैं जिनका समाज में एक निश्चित उद्देश्य होता है। किसी भी समाज में दो सामाजिक संस्थाओं– विवाह और परिवार का होना अनिवार्य हैं। वास्तव में परिवार समाज की आधारभूत इकाई है और इसका निर्माण विवाह के उपरांत होता है। परिवार द्योतक है एक सार्वभौमिक, स्थायी तथा व्यापक संस्था का जिसकी विशेषता है सामाजिक दृष्टि से अनुमत यौन संबंध तथा प्रजनन, समान घर, आवास और घरेलू सेवाएं तथा आर्थिक सहयोग। भारतीय समाज में सामान्यतः एकल परिवार और संयुक्त परिवार (विस्तृत परिवार) का रूप मिलता है। औद्योगीकरण, शहरीकरण और आधुनिकीकरण से सामाजिक संस्थाओं और इसके व्यवहार में बड़ा परिवर्तन आया है। लेकिन परिवर्तन क्रमिक रहा है।

आधुनिक समय में परिवार की एकजुटता तथा उसके भीतर संबंधों की गुणवत्ता पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ा है। शिक्षा, गैर–पारंपरिक व्यवसाय, आयगत असमानताएं तथा स्थानगत दूरी अधिक महत्वपूर्ण कारक हैं जो संबंधों पर अपना प्रभाव डाल रहे हैं और उन्हें परिवर्तन की दिशा में धकेल रहे हैं। संयुक्त परिवार की संरचना में परिवर्तन आ रहा है। भारतीय समाज को सामान्यतः संयुक्त परिवार वाला समाज माना जाता है। विविधताओं से भरे भारतीय समाज के परिवारों में हो रहे संरचनात्मक परिवर्तन को समझने के लिए तीन प्रकार के परिवार पर विचार करना होगा– पारंपरिक विस्तृत परिवार में परिवर्तन, ग्रामीण और शहरी परिवार में परिवर्तन।

अनेक सामाजिक–सांस्कृतिक विभिन्नताओं के बावजूद संयुक्त परिवार का महत्व कम नहीं हुआ है खासकर हिन्दुओं में। देश के कई क्षेत्रों में किये गए अध्ययन से यह

टिप्पणी

स्पस्ट होता है कि औद्योगीकरण, शहरीकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप भारत की संयुक्त परिवार प्रथा में संरचनात्मक परिवर्तन हो रहे हैं। किन्तु यह वास्तविकता है कि भारतीय समाज के मूल्य और प्रवृत्तियों ने सदियों से संयुक्त परिवार परंपरा का पोषण किया है और अभी भी यह हो रहा है। भारत के अधिकांश भागों में जहां पितृसत्तात्मक परिवार हैं, सहोदरों की शादी होने तक लड़कों के साथ–साथ रहने की मानसिकता बनी हुई है। शादी होने के बाद ही पृथक होने की प्रवृति उभरी है। इस प्रकार विखंडन की प्रक्रिया आरम्भ होती है और संयुक्त परिवार अपेक्षाकृत छोटे परिवारों की इकाइयों में विभक्त होता है। देश में भूमि सुधार कानून, शिक्षा और लाभकर रोजगार, बढ़ता व्यक्तिवाद, ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक परेशानियां ग्रामीण परिवार की संरचना में परिवर्तन के कारण रहे हैं।

भारतीय शहरी पारिवारिक संरचना पर अनेक अध्ययन किये गए हैं। टी.के. उमेन ने इन अध्ययनों का सर्वे करने के बाद बताया कि इनमें से अधिकांश अध्ययन एक मात्र प्रश्न से प्रभावित रहे हैं। क्या शहरीकरण के कारण भारत की संयुक्त परिवार प्रथा विखंडित हो रही है और एकल परिवार प्रणाली की तरफ बढ़ रही है। इस बिंदु पर अलग–अलग विद्वानों के अलग–अलग विचार हैं। मिल्टन सिंगर (1968) ने मद्रास सिटी के उद्योगपतियों के मध्य संयुक्त परिवार संरचना का अध्ययन किया और पाया कि संयुक्त परिवार प्रणाली उद्यमशीलता के विकास में रुकावट नहीं है बल्कि इसने औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया है।

टी.के. ऊमेन ने अपने अध्ययन में पाया है कि शहरी केंद्र आधुनिक और पारंपरिक मूल्यों के सम्मिश्रण के स्थान हैं। शहरी क्षेत्रों में व्यक्तिवाद तीव्र गति से पनप रहा है। यह परिवार में व्यक्ति के निर्णय लेने की प्रक्रिया में स्वतंत्रता, साथी के चयन, व्यक्तिगत सम्पति के अधिग्रहण और व्यवस्थापन में स्वच्छंदता और विवाहोपरांत पृथक परिवार बनाने का पोषण करता है। 1991 की जनगणना भारत की बदलती पारिवारिक संरचना को उजागर करती है। आंकड़े यह बताते हैं कि यद्यपि परिवार का एकलीकरण एक प्रमुख घटना रही है, तथापि शहरी क्षेत्रों में संयुक्त परिवार का भी विस्तार हो रहा है। भारतीय परिवारों में महिलाओं की भागीदारी में बड़ा परिवर्तन दीखता है। ग्रामीण परिवार में पहले से ही महिलाएं आर्थिक वृद्धि में प्रत्यक्ष तौर पर भागीदारी निभाती रही हैं। शहरी परिवारों में भी महिलाओं की भूमिका में बड़ा बदलाव नजर आता है। शहर के परिवारों में भी महिलाएं कमाई एक प्रमुख जरिया बन रही हैं। भारतीय शहरी परिवार में एक बड़ा परिवर्तन यह देखने को मिलता है कि गृहिणी के रूप में काम करने वाली महिलाएं अब होम मेकर (Home Maker) कहलाने लगी हैं।

विवाह समाज की सार्वभौमिक संस्था है और इस संस्था में भी बड़ा परिवर्तन देखने को मिल रहा है। भारतीय समाज में विवाह के कई रूप देखने को मिलते हैं। समाज में विवाह को लेकर जो सबसे बड़ा परिवर्तन नजर आता है वह है– पति या पत्नी के रूप में साथी चुनने की स्वतंत्रता। इस परिवर्तन ने समाज में अंतरजातीय और अंतर्धर्मीय विवाह को एक गति प्रदान की है। विवाह में साथी चुनने की स्वतंत्रता पहले केवल कुछ जनजाति समुदायों तक सीमित थी लेकिन वर्तमान समय में इसका विस्तार ग्रामीण एवं शहरी दोनों तरह के समाजों में मिलता है।

वर्तमान कानून के अंतर्गत विधवाओं तथा तलाकयाफ्ता स्त्रियों का पुनर्विवाह सभी समुदायों में मान्य है। कुछ जनजातीय विवाहों को छोड़कर पहले विवाह में पति चुनने में स्त्रियों की इच्छा का कोई महत्व नहीं था। वर्तमान समय में आधुनिकीकरण

के कारण विवाह के समय साथी चुनने में स्त्रियों को बराबरी का हक मिलने लगा है लेकिन ऐसा नहीं है कि यह सामान्य घटना के रूप में समाज में होता है।

टिप्पणी

जाति व्यवस्था भारतीय संस्कृति को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जाति व्यवस्था में परिवर्तन समाज के सांस्कृतिक परिवर्तन को भी बताता है। परिवार में बदलाव के चलते नातेदारी व्यवस्था में भी बड़ा बदलाव आया है। नातेदारी के बंधन अब पहले की तरह मजबूत और जुड़ाव वाले नहीं रह गए हैं।

स्वतंत्रता पाने तक भारत में परंपरागत कृषि तथा कुटीर उद्योग क्षेत्र था। यद्यपि ये दोनों क्षेत्र मुरझाये हुए थे और उधोग–धंधों का विस्तार नहीं हुआ था। देश के अधिकतर क्षेत्रों में साल में केवल एक फसल होती थी लेकिन बाद के वर्षों में हरित क्रांति से कृषि क्षेत्र में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। इससे देश की आर्थिक व्यवस्था में काफी सुधार हुआ। तकनीक में उन्नति के चलते उद्योग–धंधों में भी काफी विकास हुआ।

आधुनिक समय में सांस्कृतिक मूल्यों और समाज के व्यवहार में कई नई चीजें देखने को मिलती हैं। आजादी के बाद संस्कृति पर विशेष ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय स्तर पर फिल्म, कला, साहित्य, संगीत और रंगकर्म के लिए कई अकादमियों की स्थापना की गई। मीडिया क्रांति और परिवहन के क्षेत्र में आयी तरक्की से अलग–अलग देशों के सांस्कृतिक तत्वों में बहुत आदान–प्रादान हुआ जिससे भारतीय समाज के सांस्कृतिक मूल्यों में बड़ा बदलाव दिखा।

टेलीविजन पर दिखाये जाने वाले 'कौन बनेगा करोड़पति', रियलिटी शो, बिग बॉस जैसे कार्यक्रमों और उनकी लोकप्रियता समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और सामाजिक व्यवहार में होने वाले परिवर्तन को बताती है। लोगों की सोशल मीडिया पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने की होड़ और सेल्फी लेने के प्रवृत्ति समाज में आये सांस्कृतिक और व्यवहारिक परिवर्तन को अच्छी तरह से समझने में मदद करती है। धार्मिक टीवी चैनलों की बढ़ती हुई संख्या और इनके द्वारा दिखाये जाने वाले कार्यक्रमों के चलते लोगों में धार्मिक कर्मकांड के प्रति आस्था बढ़ी है। लोग एक तरफ तो तकनीक के इस्तेमाल को लेकर पहले से बहुत ज्यादा आधुनिक हो गए हैं वहीं दूसरी तरफ विचारों के संदर्भ में ज्यादा रूढ़िवादी और कर्मकांडी होते हुए दिख रहे हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

10. जाति, परिवार, विवाह, नातेदार, धर्म तथा आर्थिक प्रणाली आदि कैसी संस्थाओं के रूप में कार्य करते हैं?

    (क) सामाजिक (ख) राजनीतिक

    (ग) असामाजिक (घ) कूटनीतिक

11. किसने अपने अध्ययन में पाया है कि शहरी केंद्र आधुनिक और पारंपरिक मूल्यों के सम्मिश्रण के स्थान हैं?

    (क) मिल्टन सिंगर ने (ख) टी.के. ऊमेन ने

    (ग) सुरजीत सिन्हा ने (घ) एम.एन श्रीनिवास ने

12. गृहिणी के रूप में काम करने वाली महिलाएं अब क्या कहलाने लगी हैं?

    (क) होनहार (ख) समझदार

    (ग) होम मेकर (घ) होम ब्रेकर

टिप्पणी

1.6 भारतीय समाज के केंद्रक गांव : सामाजिक वर्गीकरण के रूप में जाति व्यवस्था

भारतीय जीवन में गांव एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रागैतिहासिक काल से, गांव भारतीय सामाजिक संरचना की इकाई के रूप में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते आ रहे हैं। भारत को गांवों की भूमि भी कहा जा सकता है। भारत की आबादी का अधिकांश हिस्सा गांवों में रहता है। 1991 की जनगणना के अनुसार, कुल आबादी का लगभग 75 प्रतिशत गांवों में रहता है। देश में कुल 5,75,721 गांव हैं, कुल ग्रामीण आबादी का 26. 5 प्रतिशत लोग छोटे गांवों (500 से कम व्यक्तियों वाला) में रहते हैं। मध्यम आकार के गांवों (500 और 2,000 व्यक्तियों के बीच वाले) में 48.8 प्रतिशत, बड़े गांवों (2,000 और 5,000 व्यक्तियों के बीच वाले) में 19.4 प्रतिशत, और ज्यादा बड़े गांवों (5,000 से अधिक व्यक्तियों वाले) में 5.3 प्रतिशत लोग रहते हैं।

भारतीय गांवों की विशेषताएं

(i) अलगाव और आत्मनिर्भरता : लगभग 19वीं सदी के मध्य तक, भारत में गांव कमोबेश स्व–निहित, अलग–थलग और आत्मनिर्भर थे। गांव के निवासियों का बाहर के लोगों से बहुत कम संबंध था। उनकी सभी जरूरतें गांव में ही पूरी हो जाती थीं। गांव में भूमि में स्थायी अधिकार वाले व्यक्ति पाए जाते हैं उनमें मालिक या किरायेदार दोनों हो सकते हैं। किरायेदार के रूप में वे दूसरों की जमीन पर खेती करते हैं इसके बदले जमीन मालिक को अनाज देते हैं या नकद। गांव में कुशल कारीगर, बढ़ई या लोहार भी रहते हैं जो सरल कृषि औजार, बैलगाड़ी आदि की मरम्मत करते हैं। घरेलू आवश्यकताओं की आपूर्ति एक या दो दुकानदारों द्वारा की जाती है, जिनके मालिक आमतौर पर गांव की उपज के लिए पहला बाजार उपलब्ध कराते हैं और धन–उधार में अपनी कमाई जोड़ते हैं। हालांकि बदलते राजनीतिक और आर्थिक हालात के चलते भारतीय गांवों की आत्मनिर्भरता धीरे–धीरे खत्म हो रही है। परिवहन और संचार के साधनों के विकास ने गांव और शहर के बीच की बाधाओं को खत्म कर दिया है। राजनीतिक दलों ने गांवों को अपनी गतिविधियों का केंद्र बनाया है।

(ii) शांति और सरलता : एक भारतीय गांव को हम उसमें व्याप्त सरलता, शांति और सदभाव के वातावरण के रूप में देखते हैं। आधुनिक सभ्यता की गतिविधियां वहां कम देखी जाती हैं। ग्रामीण लोग एक सरल जीवन जीते हैं, मितव्ययिता से खाते हैं। मिट्टी की दीवारों वाले घर अच्छी तरह से डिजाइन किए गए भवनों को जगह दे रहे हैं। फैशन गांव के युवक और युवतियों के जीवन में अपनी पैठ बना रहा है। सूचना क्रांति ने विशेषकर मोबाइल फोन ने गांव में एक बड़ा बदलाव किया है, अब गांव और शहर के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती है।

(iii) रूढ़िवाद : गांव के निवासी कुछ हद तक पुराने रीति–रिवाजों और परंपराओं से दृढ़ता से जुड़े हुए हैं। उनका दृष्टिकोण मुख्य रूप से रूढ़िवादी है और वे कई बार अनिच्छा के साथ परिवर्तनों को स्वीकार करते हैं। वे पुराने तरीकों से प्यार करते हैं और अपनी शादी और अन्य रीति–रिवाजों के सन्दर्भ में उत्साही सामाजिक सुधारकों की सलाह का पालन करने के लिए कम उत्सुक होते हैं।

टिप्पणी

(iv) गरीबी और अशिक्षा : संभवतः भारतीय गांवों की सबसे निराशाजनक चीज गांव के लोगों की गरीबी और अशिक्षा है। परिवार के विभाजन और भूमि पर दबाव अधिक होने के कारण भूमि का विखंडन और खराब उत्पादकता होती है। गरीबी के अलावा गांव के लोग अज्ञानता और अशिक्षा के शिकार हैं। गांवों में शिक्षा के अवसर बहुत कम हैं। उच्च शिक्षा के लिए सुविधाएं व्यावहारिक रूप से शून्य हैं। गरीबी के कारण ग्रामीण अपने बेटों को शिक्षा के लिए शहर नहीं भेज सकते। अशिक्षा के कारण वे अपनी कृषि में सुधार नहीं कर सकते हैं या अन्य तरीकों से अपनी आय को पूरा नहीं कर सकते हैं। गरीबी इस प्रकार अशिक्षा और ग्रामीणों के पिछड़ेपन का कारण है। हालांकि, हाल ही में ग्रामीण पुनर्निर्माण के लिए जरूरत महसूस की गई है। अखिल भारतीय किसान सम्मेलन के नाम के तहत अखिल भारतीय संगठन का गठन किसान वर्ग की समस्याओं पर सरकार का ध्यान केन्द्रित करने का गठन किया गया है। अब इस बात की अधिक संभावना है कि देश तभी आगे बढ़ सकता है जब उसके गांव समृद्ध होंगे। केंद्र और राज्य सरकारों ने सम्पूर्ण साक्षरता कार्यक्रम, उर्वरक सब्सिडी, फसल बीमा, मुफ्त बिजली, रियायती पानी की दर, न्यूनतम खरीद मूल्य जैसी कई योजनाओं का क्रियान्वयन किया है और अशिक्षा को कम करने और लोगों की गरीबी दूर करने के लिए कम ब्याज वाले ऋण जैसी कई योजनाएं शुरू की हैं।

(v) स्थानीय स्वशासन : प्राचीन भारत के गांवों ने स्वायत्तता या स्वशासन को अपनाया था। ग्रामीणों ने पंचायत की पारंपरिक संस्था के माध्यम से अपने मामलों का प्रबंधन किया। केंद्र सरकार के पास गांवों की स्व–सरकार के साथ हस्तक्षेप करने के लिए न तो झुकाव था और न ही साधन। भारत में अंग्रेजों के आगमन और प्रशासन की एक उच्च केंद्रीकृत प्रणाली के लागू होने के साथ पंचायतों का महत्व कम होने लगा। उनकी न्यायिक शक्तियां ब्रिटिश न्यायालयों द्वारा ले ली गईं और अधिकारियों को गांवों के प्रशासनिक मामलों की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया।

इस परिवर्तन से बुरे परिणाम उत्पन्न हुए। लॉर्ड रिपन के समय से ही गांवों की स्थानीय स्वशासन की पुरानी व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया था, लेकिन इस दिशा में प्रगति बहुत धीमी थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ अब पंचायत प्रणाली को मजबूत करने और पंचायतों को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के काम में बेहतर भूमिका निभाने के लिए नए सिरे से प्रयास किए जा रहे हैं। 73वें संशोधन अधिनियम, 1993 ने देश में मजबूत और जीवंत पंचायती राज संस्थाओं की नींव रखी। अब गांव फिर से आधुनिक पंचायती राज की स्थापना होने से अपने स्थानीय विकास के मामले खुद देखते हैं इससे गांवों के विकास में एक ठोस गति मिली है।

ग्रामीण भारत में परिवर्तन

आजादी के बाद से भारतीय समाज तेजी से विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों के दौर से गुजरा है। भारतीय सरकार ने आरंभ में कृषि में सुधार और बहुआयामी विकास को अपना लक्ष्य बनाया। इन सुधारों के चलते बंधुआ मजदूरी प्रथा समाप्त हुई और मजदूरों के वेतन में वृद्धि हुई। ब्रैमन (1974) के अनुसार, कृषि और ग्रामीण व्यवस्था में सुधार

टिप्पणी

से पारंपरिक शोषण में कमी आयी है। वैश्वीकरण का प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों में बड़ा परिवर्तन ला रहा है। अब गांव छोटे–छोटे कस्बों में तब्दील हो रहे हैं। पारंपरिक जीवकोपार्जन के उपाय कम अपनाये जा रहे हैं। गांवों की अर्थव्यवस्था अब नगरों से सीधे तौर पर जुड़ गई है। सड़क निर्माण में विकास और परिवहन की अच्छी व्यवस्था ने गांव को नगरों के करीब ला दिया है। इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण जीवन शैली में बड़ा बदलाव देखा जा सकता है। कुछ लोग फसलों को बोने और काटने के लिए गांव में आते हैं और बाकी समय शहर में काम करते हैं। नगरीय संस्कृति और ग्रामीण संस्कृति एक–दूसरे से तेजी से घुल–मिल रही है। पढ़े–लिखे संभ्रांत लोगों का गांव के मजदूरों पर पहले जैसा नियंत्रण नहीं रहा। गांव के लोग अपनी जीविका के लिए अब केवल कृषि पर निर्भर नहीं हैं।

पहले कभी किसानों की आत्महत्या की ख़बरें नहीं आती थी। गरीबी और पिछड़ेपन से जूझने और प्राकृतिक आपदाओं का सामना करने के बावजूद भारतीय ग्रामीण किसान कभी आत्महत्या नहीं करते थे लेकिन वैश्वीकरण के इस दौर में किसानों की आत्महत्या की दर में लगातार बढ़ोतरी हो रही है। 21वीं सदी में विदर्भ और उत्तर प्रदेश के किसानों की आत्महत्या के समाचार चौंकाने वाले हैं। इस तरह की घटनाएं सरकार की आर्थिक नीतियों और ग्रामीण समाज में होने वाले परिवर्तनों के कारण हुई हैं।

ग्रामीण और कृषि क्षेत्र सम्बन्धी समस्याओं की जड़ें ब्रिटिश राज्य में निहित हैं। ब्रिटिश शासन काल में कृषि भूमि के मालिकाना हक को लेकर तथा अन्य सम्बंधित समस्याओं को लेकर अनेक बार भूमि सुधार किये गए जिससे कृषि पर निर्भर ग्रामीण समाज का ढांचा ही बदल गया। आजादी के बाद देश में अनेक कृषि संबंधी सुधार किये गए जिसमें देश को कृषि उत्पादन में आत्मनिर्भर बनाने के लिए हरित क्रांति योजना भी लागू की गई (1962–1970)। इससे देश में कृषि उत्पादकता में वृद्धि तो हुई लेकिन ग्रामीण किसानों के बीच असमानता भी बढ़ी। बाद के वर्षों में भारतीय ग्रामीण समाज पर उदारीकरण और वैश्वीकरण का जबरदस्त प्रभाव पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपने उत्पादन को पहुंचाने के लिए बढ़े किसान व्यावसायिक स्तर पर खेती करने लगे। इस दौर में सबसे ज्यादा नुकसान छोटे किसानों को हुआ। आधुनिकीकरण और औद्योगिकीकरण का फायदा बड़े किसानों को काफी मिल रहा है। इसके विपरीत कृषि पर निर्भर छोटे और औसत दर्जे के किसानों की स्थिति दयनीय है। आज भी देश की आधी से ज्यादा आबादी गांवों में रहती है परन्तु इतनी बड़ी आबादी के सामान्य जीवन के अनुकूल व्यवस्था का अभाव है।

जाति व्यवस्था

हर समाज स्तरीकृत है। समाज के सदस्यों के बीच वास्तविक समानता की कल्पना करना मिथक है, जिसे मानव जाति के इतिहास में कभी भी महसूस नहीं किया गया है। इस स्तरीकरण या पदानुक्रम के रूप और अनुपात भिन्न हो सकते हैं लेकिन इसका सार स्थायी है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था तीन स्तंभों पर टिकी हुई है– जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार प्रणाली और ग्राम समुदाय। इस सबों में जाति व्यवस्था की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था पर निर्भरता के कारण यह हिंदू समाज का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। वास्तव में हिंदू समाज को जातिगत समाज के रूप में

टिप्पणी

वर्णित किया गया है। भारत में हम जन्म के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण की एक अनूठी प्रणाली पाते हैं, जो दुनिया में संभवतः अन्यत्र नहीं पाई जाती है।

अर्थ और परिभाषा

'जाति' शब्द एक पुर्तगाली शब्द 'कास्टा' से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ नस्ल, कुल या समूह से लिया गया है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है, जातियां वर्णनात्मक समूह हैं। इस प्रकार, मूल रूप से जाति एक ही कुल से संबंधित लोगों को दर्शाती है। एक व्यक्ति एक जाति में पैदा होता है और स्थायी तौर पर उसी का सदस्य बना रहता है। इसका मतलब भारत में किसी भी व्यक्ति की जाति नहीं बदली जा सकती है लेकिन जातियों के तत्व भारत के बाहर भी पाए जाते हैं।

'जाति' शब्द को अलग–अलग लोगों द्वारा अलग–अलग तरीके से परिभाषित किया गया है।

जी. एस. घुर्ये के अनुसार– "जातियां अपने आप में छोटी और पूर्ण सामाजिक दुनिया हैं जो निश्चित रूप से बड़े समाज के भीतर एक–दूसरे से अलग होती है।"

मैकाइवर के अनुसार– "जब प्रस्थिति पूर्णतया पूर्वनिश्चित हो, ताकि मनुष्य बिना किसी परिवर्तन की आशा के अपना भाग्य लेकर उत्पन्न हों, तब वर्ग जाति का रूप ध ाारण कर लेता है।"

ए.डब्ल्यू. ग्रीन के अनुसार– "जाति स्तरीकरण की एक प्रणाली है जिसमें गतिशीलता, प्रस्थिति–सीढ़ी (Status Ladder) में ऊपर और नीचे का होना, कम से कम आदर्श रूप से नहीं हो सकता है।"

जाति व्यवस्था के लक्षण

1. **समाज का खंडीय विभाजन** : जाति व्यवस्था के तहत, समाज कई छोटे–छोटे सामाजिक समूहों में विभाजित है जिन्हें जाति कहा जाता है। प्रत्येक जातियां एक अच्छी तरह से विकसित सामाजिक समूह हैं, इनकी सदस्यता जन्म पर आधारित है। चूंकि सदस्यता जन्म पर आधारित है, इसलिए एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन असंभव है। प्रत्येक जाति की अपनी पारंपरिक सामाजिक प्रस्थिति, व्यवसाय, रीति–रिवाज, नियम और कानून हैं। इसका अपना शासकीय निकाय (Governing body) है जिसे जाति परिषद या 'जाति पंचायत' कहा जाता है, जो जाति के अस्तित्व को बनाये रखने पर जोर देती है। एक जाति के सदस्य अपने दिन–प्रतिदिन के कार्यों में मदद और सहयोग के पारस्परिक दायित्वों से बंधे हैं। इस प्रकार प्रत्येक जाति अपने आप में एक सामाजिक संसार है।
2. **पदानुक्रम** : जाति व्यवस्था हमेशा एक पदानुक्रम व्यवस्था को चित्रित करती है। इसका तात्पर्य है कि कुछ जातियां ऐसी हैं जो दूसरों से अपने को श्रेष्ठ मानती हैं। जाति में सदस्यता जन्म के समय ही निर्धारित हो जाती है और स्थायी हो जाती है। परंपरागत रूप से यह जाति की पदानुक्रमित व्यवस्था है। प्रभुत्व और अधीनता की विभिन्न श्रेणियों के अनुसार भारत में ब्राह्मण को सामाजिक सीढ़ी के शीर्ष पर रखा गया है। जाति पदानुक्रम में ब्राह्मणों के बाद

टिप्पणी

क्रमशः क्षत्रियों और वैश्यों का स्थान आता है। इस सामाजिक पायदान पर शूद्र का स्थान सबसे नीचे है।

3. **सहभागिता पर प्रतिबंध** : जाति व्यवस्था के अन्दर अंतःक्रिया के दौरान कई तरह के प्रतिबंध हैं। एक जाति के सदस्य अन्य जातियों के सदस्यों के साथ पूरी तरह से घुल–मिल नहीं सकते थे। यह प्रतिबंध तब और अधिक कठोर हो जाता है जब एक श्रेष्ठ जाति को एक नीचे के पायदान पर स्थित जाति के साथ अंतःक्रिया का प्रश्न सामने आता था। प्रत्येक जाति अन्तःक्रिया के दौरान अच्छी तरह से स्थापित रीति–रिवाजों और परिभाषित मानदंडों का पालन करती है।

4. **सामाजिक और धार्मिक असमर्थता** : जाति व्यवस्था के अन्दर उच्च जाति के सदस्य अन्य जातियों पर कुछ निश्चित अयोग्यता और प्रतिबंध लगाते थे। हिंदू जाति व्यवस्था में ब्राह्मण सबसे विशेषाधिकार प्राप्त जाति और शूद्र सबसे प्रताड़ित जाति के रूप में स्थापित हैं। एक शूद्र द्वारा किसी भी उच्च जाति से संबंधित व्यक्ति को छूना खराब समझा जाता था लेकिन यह प्रचलन आज भी देश के कई हिस्सों में हैं। सामान्यतः पदानुक्रम में सबसे निचली जाति के लोगों को शहरों में रहने और उच्च जाति के लोगों के इलाकों में संपत्ति खरीदने की अनुमति नहीं थी। उन्हें मंदिरों में जाने और वहां पूजा करने और धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करने की भी अनुमति नहीं थी। उन्हें उच्च जाति द्वारा उपयोग किए जाने वाले गांव के कुओं या तालाबों का उपयोग करने की भी मनाही थी। देश में आज भी इस तरह के तमाम प्रतिबंधों से सम्बंधित घटनाएं देखने और सुनने को मिल जाती हैं।

5. **सामूहिक भोज पर प्रतिबंध** : प्रत्येक जाति समूह के अपने कानून होते हैं जो सदस्यों के भोजन की आदतों को नियंत्रित करते हैं। आम तौर पर, फल, दूध, मक्खन, सूखे मेवे आदि पर कोई प्रतिबंध नहीं है, लेकिन कुछ कच्चे (बिना तेल–घी के पके) भोजन के सन्दर्भ में प्रतिबंध हैं। ''भोजन को दो वर्गों में विभाजित किया गया है– 'पक्का' और 'कच्चा'। यह विभाजन पानी के साथ या उसके बिना 'घी' के उपयोग पर आधारित है। 'कच्चा' भोजन केवल अपनी जाति या उच्च जाति के व्यक्ति से ही स्वीकार किया जा सकता है।

6. **शुद्धता और अशुद्धता की विचारधारा** : जाति व्यवस्था के हिसाब से उच्च जातियों को शुद्ध माना जाता है और निम्न जाति के लोगों को अपवित्र माना जाता है। ब्राह्मण या पुरोहित सामान्य समाज और देवताओं के बीच मध्यस्थ का काम करता है। अशुद्धता और शुद्धता के आधार पर लोगों को विभाजित करने की यह अवधारणा प्रसिद्ध मानवविज्ञानी लुई ड्यूमा के द्वारा प्रतिपादित की गई है।

7. **व्यवसायों पर प्रतिबंध** : विभिन्न जातियां आमतौर पर पारंपरिक व्यवसायों से जुड़ी होती हैं। हिंदू धार्मिक ग्रंथ के अनुसार सभी 'वर्णों' के व्यवसाय का निर्धारण होता था। किसी विशेष जाति में किसी का जन्म होना उसके जीवन काल के व्यवसाय को निर्धारित करता था। एक पुजारी और एक शूद्र के बीच शादी प्रतिबंधित थी। ब्राह्मण खुद को जूते बनाने जैसे 'अशुद्ध' व्यवसायों से

टिप्पणी

अलग रखते थे। इस तरह के व्यवसाय ज्यादातर सामाजिक पदानुक्रम में सबसे नीचे की जातियों द्वारा अपनाये जाते थे।

8. **विवाह संबंधी प्रतिबंध** : जाति की समरूपता को कड़ाई से लागू किया जाता है, जिसमें प्रत्येक जाति के सदस्य केवल अपनी जाति के सदस्यों से विवाह करते थे। अंतरजातीय विवाह निषिद्ध थे।

9. **वंशानुगत स्थिति** : जाति व्यवस्था ascriptive पैटर्न पर आधारित है जिसका तात्पर्य है कि किसी खास जाति में व्यक्ति का जन्म उसकी जाति और समाज में उसकी हैसियत को निर्धारित करता था। आमतौर पर यह नहीं होता है कि कोई योग्यता पाकर या अयोग्यता के आधार पर अपनी जाति को बदले।

जाति व्यवस्था के अंतर्गत परिवर्तन और निरंतरता

सामान्यतः जाति व्यवस्था को स्तरीकरण की कठोर और बंद प्रणाली के रूप में समझा जाता है। इसका मतलब यह है कि एक जाति की प्रस्थिति में दूसरी जाति की ओर कोई गतिशीलता और आन्दोलन नहीं हैं। लेकिन ब्रिटिश शासन के प्रभाव के चलते भारतीय समाज में बड़ा सामाजिक परिवर्तन देखा गया है। इस सामाजिक परिवर्तन के चलते जाति व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता पायी गई है। वास्तव में सामाजिक गतिशीलता वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति या समूह आगे या नीचे की ओर बढ़ते हैं अथवा सामाजिक संरचना में स्थित एक पदानुक्रम से दूसरे पदानुक्रम में जाते हैं।

एम. एन. श्रीनिवास ने अपनी अवधारणा 'संस्कृतिकरण' में जाति व्यवस्था में गतिशील प्रक्रिया का वर्णन किया है। श्रीनिवास ने दक्षिण भारत के कुर्ग के बीच धर्म और राजनीति के अध्ययन में स्थानीय निचली जातियों द्वारा ब्राह्मणों के सांस्कृतिक अनुकरण के सन्दर्भ में जातिगत गतिशीलता को समझाया है। उन्होंने संस्कृतिकरण को ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जिसके द्वारा 'निम्न' हिन्दू जाति या आदिवासी या अन्य समूह अपने रीति–रिवाजों, कर्मकांडों, विचारधारा और जीवन के तरीके को उच्च, अक्सर 'द्विज' जाति के रूप में बदलते हैं। आमतौर पर इस तरह के बदलावों को जाति पदानुक्रम में एक उच्च पद के लिए एक दावे के बाद किया जाता है, जिसे परंपरागत रूप से स्थानीय समुदाय द्वारा स्वीकार किया जाता है।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के सेनापुर गांव में नोनिया के बारे में विलियम रोब्स के अध्ययन से आर्थिक समृद्धि प्राप्त करने के बाद संस्कृतिकरण के माध्यम से उर्ध्वगामी गतिशीलता प्राप्त करने में एक मध्यम स्तर की जाति की सफलता का पता चलता है। संस्कृतिकरण का स्पष्ट मतलब 'द्विज' जाति का अनुकरण है, जैसे कि 'निचली जातियों' द्वारा शाकाहार का प्रयोग। जाति व्यवस्था के भीतर गतिशीलता के लिए यह प्रशस्त तरीका है। हालांकि जाति पदानुक्रम में ऊपर की ओर चढ़ने में इच्छुक 'निचली जातियों' को उच्च जातियों से विरोध का सामना करना पड़ता है।

संस्कृतिकरण के साथ–साथ पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने भी सामाजिक गतिशीलता को संभव बनाया है। पश्चिमीकरण भारत में सभी सांस्कृतिक परिवर्तनों और संस्थागत नवाचारों को संदर्भित करता है क्योंकि यह पश्चिमी देशों खासकर ब्रिटिश के साथ राजनीतिक और सांस्कृतिक अनुबंध के माध्यम से आया था। इसमें वैज्ञानिक सोच, तकनीकी और शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना, राष्ट्रवाद का उदय और देश में नौ

टिप्पणी

राजनीतिक संस्कृति शामिल हैं। इस प्रक्रिया में कई उच्च जातियों ने अपने पारंपरिक रीती–रिवाजों को छोड़ दिया और पश्चिमी लोगों की जीवन शैली को अपना लिया।

औद्योगीकरण और नगरीकरण या शहरीकरण की प्रक्रिया (इसमें लोगों का गांव से शहर की पलायन भी शामिल है) ने जाति संरचना को काफी प्रभावित किया है। औद्योगिक विकास ने लोगों को आजीविका के नए–नए स्रोत प्रदान किये जो परम्परागत स्रोत से बिल्कुल भिन्न थे। इससे समाज में व्यावसायिक गतिशीलता संभव हुई। साथ ही नई परिवहन सुविधाओं के साथ लगातार संचार का प्रयोग भी बढ़ा। इसके चलते सभी जातियों के लोगों ने एक साथ यात्रा की और उनमें अंतःक्रिया तेज हुई और परिणामस्वरूप जातियों के बीच शुद्धता और अशुद्धता की प्रचलित विचारधारा को पालन करने का कोई तरीका नहीं बचा। विभिन्न जातियों के लोग जब एक साथ कारखानों में काम करने लगे और साथ रहने लगे तो उनके बीच भोजन के बटवारे से संबंधित प्रतिबन्ध के नियम कमजोर पड़ने लगे। तेजी से बढ़ते शहरीकरण और विकास की गति से जाति संरचना के कामकाज के तरीकों में बड़ा परिवर्तन आया। इस सन्दर्भ में किंग्सले डेविस (1951) ने माना कि शहर की गुमनामी, भीड़, गतिशीलता, धर्मनिरपेक्षता और परिवर्तनशीलता ने जाति व्यवस्था के संचालन को बहुत कमजोर कर दिया। जी. एस. घुर्ये का मानना है कि शहर के जीवन में विकास के चलते जाति व्यवस्था की कठोरता में परिवर्तन हुआ। एम. एन. श्रीनिवास (1962) का मानना है कि कस्बों में ब्राह्मणों के प्रवास के कारण गैर ब्राह्मणों ने उनके प्रति वही सम्मान दिखाने से इनकार कर दिया जो वे पहले दिखाते थे। इसके परिणामस्वरूप ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती मिली जो कभी धार्मिक हठधर्मिता मानी जाती थी। शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के अलावा, देश की स्वतंत्रता के बाद उभरे अन्य कारकों ने जाति व्यवस्था को काफी प्रभावित किया। देश में शिक्षा में सुधार के साथ–साथ कई प्रकार के सामाजिक और धार्मिक सुधार हुए जिनके चलते जाति व्यवस्था में गतिशीलता और परिवर्तन हुए। बदले दौर में पारंपरिक और अनुवांशिक आधारित व्यवस्था ध्वस्त हुई। जाति व्यवस्था के अंतर्गत अंतःविवाह (Endogamy) ही जीवन साथी के चयन का आधार था लेकिन वर्तमान में स्पेशल मैरिज एक्ट 1954 और हिंदू मैरिज एक्ट 1955 ने Endogamy के प्रतिबंधों को हटा दिया और अंतर जातीय विवाह को कानूनी रूप से वैध घोषित कर दिया। इससे अलग–अलग जातियों के बीच संबंध स्थापित हुए और प्रेम विवाह और लिव एन रिलेशनशिप मामलों में तेजी से वृद्धि हुई।

राम कृष्ण मुकर्जी का कहना कि आर्थिक पहलू जैसी व्यावसायिक विशेषज्ञता में बदलाव और सामाजिक पहलू जैसे उच्च जाति के रीती–रिवाजों को अपनाने से जाति व्यवस्था में बहुत बड़ा परिवर्तन आया।

संविधान प्रदत्त कई नियमों ने जाति व्यवस्था में प्रचलित उच्च जातियों के वर्चस्व को तोड़ दिया है। संविधान की तरफ से 'निचली' जातियों को दी गई आरक्षण की व्यवस्था ने इन जातियों की राजनीति में भागीदारी को सुगम बना दिया। प्रजातंत्रीय राजनीति में 'निचली' जातियों की भागीदारी बढ़ने से उन्हें राजनीतिक शक्ति प्राप्त हुई जिससे सामाजिक व्यवस्था में एक बड़ा परिवर्तन हुआ और जातिगत संरचना कमजोर हो गई। सामाजिक व्यवस्था में इन परिवर्तनों के बावजूद, जाति इस समाज की 'नंगी' सच्चाई है जो लोगों के अस्तित्व और पहचान से जुड़ी हुई है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

13. भारत की आबादी का अधिकांश हिस्सा कहां रहता है?
    (क) विदेशों में (ख) शहरों में
    (ग) बंगलों में (घ) गांवों में
14. "जब प्रस्थिति पूर्णतया पूर्वनिश्चित हो, ताकि मनुष्य बिना किसी परिवर्तन की आशा के अपना भाग्य ले कर उत्पन्न हों, तब वर्ग जाति का रूप धारण कर लेता है।"– यह किसका कथन है?
    (क) मैकाइवर का (ख) ए.डब्ल्यू. ग्रीन का
    (ग) किंग्सले डेविस का (घ) जी.एस. घुर्ये का
15. सामान्यतः जाति व्यवस्था को किसकी कठोर और बंद प्रणाली के रूप में समझा जाता है?
    (क) वशीकरण की (ख) स्तरीकरण की
    (ग) मानवीकरण की (घ) आधुनिकीकरण की

1.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क) 2. (ग)
3. (ख) 4. (क)
5. (ख) 6. (क)
7. (ख) 8. (ग)
9. (घ) 10. (क)
11. (ख) 12. (ग)
13. (घ) 14. (क)
15. (ख)

1.8 सारांश

भारतीय समाज काफी पुराना और जटिल है। श्यामाचरण दुबे अपनी पुस्तक– 'भारतीय समाज' में लिखते हैं– "प्रचलित अनुमान के अनुसार पांच हजार वर्ष पूर्व की पहली ज्ञात सभ्यता के समय से आज तक लगभग पांच हजार वर्षों की अवधि इस समाज में समाहित है। इस लम्बी अवधि में विभिन्न प्रजातीय लक्षणों वाले और विविध भाषा–परिवारों के आप्रवासियों की कई लहरें यहां आकर इसकी आबादी में घुलमिल गई और इस समाज की विविधता, समृद्धि और जीवंतता में अपना–अपना योगदान दिया।"

जाति सामाजिक स्तरीकरण की एक प्रणाली है। यह सामाजिक संरचना के मूल में है जाति जन्म पर आधारित है इसलिए व्यक्ति की जाति का निर्धारण जन्म के साथ हो जाता है और यह व्यक्ति के व्यवसाय, विवाह और सामाजिक संबंधों को निर्धारित करता है। जाति मानदंडों, मूल्यों और प्रतिबंधों को निर्धारित करने वाला समूह है जो

टिप्पणी

अपने अन्दर होने वाले सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करता है। श्रीनिवास के अनुसार, जातियों के बीच संबंध अन्य पहलुओं के अलावा, शुद्धता और अशुद्धता की अवधारणा और जाति के भीतर होने वाली सामान्य अधिकतम समानता के आधार पर संचालित होते हैं। यह जाति व्यवस्था के आदर्श रूप को परिभाषित करता है। वास्तव में, जाति व्यवस्था की संरचनाएं और कार्यप्रणाली में काफी भिन्नताएं हैं। जाति भारतीय समाज की सभी तरह की व्यवस्थाओं चाहे वे आर्थिक या राजनीतिक हों, को काफी प्रभावित करती है।

जाति व्यवस्था से अलग भारत में एक और सामाजिक समूह 'जनजाति' है जो भारतीय सामाज को एक अलग पहचान देता है। जनजाति समूह अनिवार्य रूप से 'आदिम' और 'पिछड़ा' है। जनजाति या आदिवासी समुदाय सापेक्ष अलगाव, सांस्कृतिक विशिष्टता और उत्पादन और निर्वाह के निम्न स्तर के कारण अन्य समुदायों से अलग हैं।

भारतीय समाज में परिवार के रूपों में बहुत विविधताएं हैं। इन रूपों को अनेक भिन्न–भिन्न आधारों यथा वंशनाम, आवास, सदस्यता तथा यौन साथियों की संख्या के आधार पर अलग किया जा सकता है। भारत के अधिकतर समुदायों में वंशनाम पिता की परम्परा में तलाशा जाता है। इसे पितृवंशी वंशनाम कहा जाता है। मातृ समाजों में उत्तर–पूर्व में गारों, खासी और प्नार तथा दक्षिण भारत में नायर, माप्पिला आदि अनेक आदिवासी और गैर आदिवासी समूह आते हैं। इन समाजों में वंशनाम माता की परम्परा से मिलता है। इन दो मुख्य व्यवस्थाओं के अतिरिक्त ऐसे सजातीय समुदायों– एंग्लो इंडियन तथा कुछ जनजातीय समूहों के उदाहरण भी हैं जिनमें उभयवाही प्रवृत्तियां हैं। वे पिता से नाम ले सकते हैं लेकिन अपना वंशनाम खोजने के लिए वे मां की परंपरा की ओर भी जा सकते हैं।

भारत एक बहुल समाज है। इसकी एकता और विविधता इसकी विशेषता है। विविधता में एकता– एक घिसे–पिटे मुहावरों के रूप में भारत की अपनी पहचान का हिस्सा बन गया है। विभिन्न जातियों और समुदायों के बीच संस्कृतियों, धर्मों और भाषाओं के संश्लेषण ने इसकी एकता और सामंजस्य को बरकरार रखा है। मुगल शासन और ब्रिटिश शासन के बावजूद राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखा गया है। यह वह संश्लेषण है जिसने भारत को संस्कृतियों का एक अनूठा मोज़ेक (डवेंपब) बना दिया है। भारत ने ब्रिटिश राज के खिलाफ एक बड़ी लड़ाई लड़ी।

विदेशी आक्रमण, दुनिया के अन्य हिस्सों से आव्रजन और विविध भाषाओं, संस्कृतियों और धर्मों के अस्तित्व ने एक तरफ भारत की संस्कृति को सहिष्णु बना दिया है और दूसरी तरफ इसकी विशिष्टता और ऐतिहासिकता के साथ एक अद्वितीय निरंतर और जीवित संस्कृति है। भारत में विविधता न केवल नस्लीय रचनाओं, धार्मिक और भाषाई भेद के आधार पर है, बल्कि जीवन शैली, भूमि प्रणाली, व्यावसायिक कार्य, विरासत और उत्तराधिकार कानून और जन्म, विवाह मृत्यु आदि से संबंधित प्रथाओं और संस्कारों के बारे में भी है।

भारतीय समाज बहुत प्राचीन और जटिल समाज है जिसका निर्माण एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया के तहत हुआ है। एक अनुमान के मुताबिक, पहली सभ्यता की जानकारी के समय से भारतीय समाज ने लगभग पांच हजार साल का लम्बा सफर तय किया है। अलग–अलग समय में जिन लाखों करोड़ों लोगों ने विभिन्न नृजातीय और भाषायी विविधता के साथ भारत में प्रवेश किया वे और भारत में पहले से उपस्थित जनसंख्या में मिलकर इसकी विविधता, समृद्धि और संजीदगी को प्रदर्शित करते हैं।

टिप्पणी

भारत एक बहु–नस्लीय, बहु–धार्मिक, बहु–जाति, बहु–भाषी और बहु–सांस्कृतिक देश है। इतिहास के पन्ने सांप्रदायिक सौहार्द की खुशबू के साथ–साथ सांप्रदायिक कलह के जहर से भी भरे हुए हैं। हमारे राष्ट्रीय नेताओं की उम्मीदों के विपरीत, जिन्होंने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया, हमारे देश की स्वतंत्रता के बाद के समय ने असंख्य सांप्रदायिक दंगों के साथ–साथ राज्य की सीमाओं, भाषा, नदी जल के साथ–साथ औद्योगिक उद्यम, अनुसूचित जाति और अल्पसंख्यक समुदाय पर अत्याचार आदि जैसे विभिन्न मुद्दों पर अंतहीन झगड़े और तनाव भी दे दी हैं।

भारतीय समाज के एक पर्यवेक्षक प्रो. एम. एन. श्रीनिवास (1966) ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि– "भारत न केवल विशाल देश है बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक रूप से विविध है। इसके साथ ही साथ इसकी जनसंख्या सामाजिक और आर्थिक रूप से बहुत स्पष्ट तरीके से स्तरीकृत है। विभाजनों का एक महत्वपूर्ण परिणाम है व्यापक अल्पसंख्यक चेतना, जो भारतीय समाज की विशेषता को बताती है।

सामाजिक संरचना से जुड़े अलग–अलग शब्दों जैसे 'जाति', 'वर्ग', 'परिवार', 'गांव', 'समुदाय और नातेदारी' को खंडीय तत्वों के रूप में परिभाषित किया गया है। इन तत्वों के बीच संबंध उन स्थितियों में विकसित हो रहे हैं जो व्यापक समाज में पैदा हो रही है। उदाहरण के लिए, सुरजीत सिन्हा ने कृषि प्रौद्योगिकी और भाषाई और सांस्कृतिक मानदंडों को अपनाने के माध्यम से भारतीय सभ्यता के वर्तमान वर्ग में कुछ विशेष जातियों को आत्मसात करने की प्रक्रिया को चित्रित किया है।

सामाजिक संरचना की मुख्य इकाइयां– जाति, संप्रदाय अथवा धार्मिक समुदाय और परिवार तथा नातेदारी समूह– अकेले अलग–थलग रहकर काम नहीं करतीं। भारतीय समाज सहयोग और संघर्ष का एक रंगमंच है। हम यह पाते हैं कि प्रत्येक ग्राम में अनेक जाति समूहों के लोग रहते हैं। इन समूहों के बीच कुछ क्षेत्रों में अलग–अलग तरह के संबंध होते हैं किन्तु इसके साथ ही उनके बीच पड़ोसी के संबंध तथा व्यक्तिगत और पारिवारिक मित्रताएं एवं शत्रुताएं भी होती हैं।

बदलते दौर में सामाजिक संस्थाओं, सांस्कृतिक तत्वों और व्यावहारिक स्वरूप में परिवर्तन से भारतीय समाज में स्पष्ट बदलाव दिखने लगा है। जाति, परिवार, विवाह, नातेदार, धर्म और आर्थिक प्रणाली आदि सामाजिक संस्थाओं के रूप में कार्य करते हैं– इनमें परिवर्तन तो होता है लेकिन परिवर्तन की गति धीमी होती है। संस्थाएं हालांकि स्थायी संरचनाएं हैं जिनका समाज में एक निश्चित उद्देश्य होता है। किसी भी समाज में दो सामाजिक संस्थाओं– विवाह और परिवार का होना अनिवार्य हैं। वास्तव में परिवार समाज की आधारभूत इकाई है और इसका निर्माण विवाह के उपरांत होता है। परिवार द्योतक है एक सार्वभौमिक, स्थायी तथा व्यापक संस्था का जिसकी विशेषता है सामाजिक दृष्टि से अनुमत यौन संबंध तथा प्रजनन, समान घर, आवास और घरेलू सेवाएं तथा आर्थिक सहयोग। भारतीय समाज में सामान्यतः एकल परिवार और संयुक्त परिवार (विस्तृत परिवार) का रूप मिलता है। औद्योगीकरण, शहरीकरण और आधुनिकीकरण से सामाजिक संस्थाओं और इसके व्यवहार में बड़ा परिवर्तन आया है। लेकिन परिवर्तन क्रमिक रहा है।

प्राचीन भारत के गांवों ने स्वायत्तता या स्वशासन को अपनाया था। ग्रामीणों ने पंचायत की पारंपरिक संस्था के माध्यम से अपने मामलों का प्रबंधन किया। केंद्र सरकार के पास गांवों की स्व–सरकार के साथ हस्तक्षेप करने के लिए न तो झुकाव था और

टिप्पणी

न ही साधन। भारत में अंग्रेजों के आगमन और प्रशासन की एक उच्च केंद्रीकृत प्रणाली के लागू होने के साथ पंचायतों का महत्व कम होने लगा। उनकी न्यायिक शक्तियां ब्रिटिश न्यायालयों द्वारा ले ली गईं और अधिकारियों को गांवों के प्रशासनिक मामलों की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया।

इस परिवर्तन से बुरे परिणाम उत्पन्न हुए। लॉर्ड रिपन के समय से ही गांवों की स्थानीय स्वशासन की पुरानी व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया था, लेकिन इस दिशा में प्रगति बहुत धीमी थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ अब पंचायत प्रणाली को मजबूत करने और पंचायतों को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के काम में बेहतर भूमिका निभाने के लिए नए सिरे से प्रयास किए जा रहे हैं। 73वें संशोधन अधिनियम, 1993 ने देश में मजबूत और जीवंत पंचायती राज संस्थाओं की नींव रखी। अब गांव फिर से आधुनिक पंचायती राज की स्थापना होने से अपने स्थानीय विकास के मामले खुद देखते हैं इससे गांवों के विकास में एक ठोस गति मिली है।

1.9 मुख्य शब्दावली

- **जटिल** : उलझा हुआ, मुश्किल।
- **अतीत** : बीता हुआ समय।
- **मिथ्या** : झूठ, फरेब।
- **खिलाफ** : विरुद्ध।
- **नस्ल** : जाति, प्रजाति।
- **अकसर** : समय–समय पर, कभी–कभार।
- **आस्था** : विश्वास, श्रद्धा।
- **चरम** : शीर्ष, अति, सर्वाधिक।
- **परित्याग** : छोड़ना।
- **मोक्ष** : मुक्ति।
- **बयां करना** : बताना, उल्लेख करना।
- **एकता** : समानता, एकजुटता।
- **सफर** : रास्ता, यात्रा।
- **चेतना** : जाग्रति, संवेदना।
- **दरजी** : कपड़े सिलनेवाला।
- **प्रतिष्ठित** : इज्जतदार, सम्मानीय।
- **दर्जा** : स्थान, कक्षा, ओहदा।
- **मुकम्मल** : पूर्ण, पूरा, संपूर्ण।
- **अस्तित्व** : वजूद।
- **पृथक** : अलग।
- **ऊजागर करना** : उभारना, प्रकट करना।
- **हक** : अधिकार।

टिप्पणी

1.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. जनजाति से आप क्या समझते हैं?
2. सर हर्बर्ट ने भारतीय जनसंख्या को किन सात नस्लीय प्रकारों में वर्गीकृत किया है?
3. सिन्हा का 'आदिवासी–जाति–किसान निरंतरता मॉडल' क्या है?
4. 1991 की जनगणना भारत की बदलती पारिवारिक संरचना के बारे में क्या उजागर करती है?
5. जाति व्यवस्था से आप क्या समझते हैं?
6. जाति व्यवस्था के मुख्य लक्षण क्या हैं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय समाज की विशेषताएं बताते हुए इसकी अवधारणा की विवेचना कीजिए।
2. भारत की सांस्कृतिक विविधता और धार्मिक विविधता का विश्लेषण कीजिए।
3. भारतीय समाज की एकता के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या कीजिए।
4. भारत के समाज के समुदायों, समूहों तथा क्षेत्रों के संयोजन की समीक्षा कीजिए।
5. वर्तमान तथा अतीत के मध्य संस्थानिक, सांस्कृतिक तथा व्यावसायिक प्रतिरूपों पर प्रकाश डालिए।
6. भारतीय गांवों की विशेषताओं का विस्तृत विवेचन कीजिए।

1.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

गुप्ता, एम. एल. तथा शर्मा, डी. डी., *समाजशास्त्र,* साहित्य भवन पब्लिकेशंस, आगरा, 1997

सिंह, जे. पी., *समाजशास्त्र : अवधारणाएं एवं सिद्धांत,* प्रेंटिस हाल ऑफ इंडिया प्रा. लि. , नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2006

मुकर्जी, रवीन्द्र नाथ, *भारतीय समाज व संस्कृति,* विवेक प्रकाशन, दिल्ली, नवीनतम संस्करण, 2010

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, *समाजशास्त्रीय चिंतन के आधार,* पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2005

एस. सी. दूबे, *इंडियन सोसायटी,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2010

डी. पी. मुखर्जी, *आधुनिक भारतीय संस्कृति,* हिंद किताब, मुंबई (1942 और 1948)

डॉ. जी. के. अग्रवाल, *समाजशास्त्र के सिद्धांत,* साहित्य भवन, आगरा, 2000

राम आहूजा, *भारतीय समाज,* रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पुनर्मुद्रित, 2010

इकाई 2 औपनिवेशिक काल

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 औपनिवेशिक नृवंश विज्ञान में भारतीय समाज का खंडित एवं स्थैतिक प्रतिनिधित्व
2.3 औपनिवेशिक नीति के साधन : जनगणना, जिला गजेटियर (इंपीरियल) विवरणिका
2.4 उत्तर स्वतंत्रता काल में भारत में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के विकास में औपनिवेशिक विरासत की भूमिका
2.5 शैक्षणिक नवउपनिवेशवाद
2.6 समाजशास्त्र का अमेरिकीकरण
2.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.8 सारांश
2.9 मुख्य शब्दावली
2.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

2.0 परिचय

उपनिवेशवाद में उपनिवेश की जनता किसी विदेशी मुल्क द्वारा शासित होती है। उपनिवेश को शासन में कोई राजनीतिक अधिकार नहीं हासिल होता है। उपनिवेशवाद के इतिहासकारों ने 15वीं सदी के दौरान यूरोपीय ताकतों द्वारा किए गए साम्राज्यवादी विस्तार की परिघटना की उन्नति की पहचान 18वीं तथा 19वीं सदी में उपनिवेशवाद के रूप में की है।

भारत में अंग्रेजों यानी ब्रिटेन के शासन काल को औपनिवेशिक या उपनिवेश काल कहा जाता है। यह काल 1760 से लेकर 1947 तक माना जाता है। इग्लैंड की संपन्नता तथा औद्योगिक क्रांति के पीछे इंग्लैंड के शासकों द्वारा भारत से हड़पी गई धन–दौलत का निवेश मुख्य कारण रहा है। भारतीयों के प्रति अंग्रेजों की क्रूरता तथा बर्बरता इतिहास में हैवानियत का उदाहरण है। 1857 की क्रांति के उपरांत देश प्रेमियों की हत्या, बुनकरों के अंगूठे काटना, भारतीय विद्या केंद्रों को तबाह करना, विभिन्न समुदायों में वैमनस्य के बीज बोना, देश के विभाजन के दौर की तबाही इत्यादि ब्रिटिश हैवानियत के रोंगटे खड़े करने वाले उदाहरण हैं। उल्लेखनीय है कि ब्रिटेन ने अपने इस कृत्य के लिए भारत और भारतवासियों से कभी माफी नहीं मांगी।

प्रस्तुत इकाई में औपनिवेशिक नृवंश विज्ञान में भारतीय समाज के खंडित एवं स्थैतिक प्रतिनिधित्व, औपनिवेशिक नीति के साधन, शैक्षणिक नवउपनिवेशवाद तथा समाजशास्त्र के अमेरिकीकरण आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

2.1 उद्देश्य

टिप्पणी

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- औपनिवेशिक काल के बारे में जान पाएंगे;
- औपनिवेशिक नृवंश विज्ञान को समझ पाएंगे;
- औपनिवेशिक नीति के साधनों जनगणना, जिला गजेटियर विवरणिका का विवरण कर पाएंगे;
- शैक्षणिक नवउपनिवेशवाद का विश्लेषण कर पाएंगे;
- समाजशास्त्र के अमेरिकीकरण की व्याख्या कर पाएंगे।

2.2 औपनिवेशिक नृवंश विज्ञान में भारतीय समाज का खंडित एवं स्थैतिक प्रतिनिधित्व

भारत में भाषा, धर्म, रीति–रिवाज, संगीत, कला और भोजन आदि में एक स्थान से दूसरे स्थान पर बड़ा अंतर देखा जा सकता है हालांकि इसकी विविधता को लेकर एक कहावत काफी प्रचलित हैं– 'कोस–कोस पर बदले पानी, तीन कोस पर बानी'। साधारण शब्दों में इसका अर्थ है कि यहाँ हर एक कोस (दूरी मापने की एक इकाई) पर पानी का स्वाद बदल जाता है और हर तीन कोस पर भाषा। भारत विविधताओं का देश है। इसके बावजूद देश अनेकता में एकता का परिचायक है। भारत हिंदू, बौद्ध, जैन और सिख धर्म की जन्म स्थली रहा है। भारत में कई बाहरी लोगों ने आक्रमण किये और इसे अपना घर बनाया जैसे अफगानी, तुर्क, पर्सियन और अंग्रेज। इन लोगों ने अपने नए घर की संस्कृति में अहम् योगदान दिया। इसके परिणाम स्वरूप भारत की संस्कृति में कई तरह के रंग घुले। अठारहवीं शताब्दी के पहले चरण में भारत एक समृद्ध राष्ट्र था और व्यापार उद्योग अपने चरम पर था। भारत से बहुत सारी चीजें एशिया और यूरोप के कई देशों में निर्यात होती थीं। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी के अंत में जब अंग्रेजों ने भारत को अपना उपनिवेश बनाना शुरू किया तब उन लोगों ने भारत में निर्मित वस्तुओं के भारत से निर्यात पर रोक लगाना शुरू कर दिया था। यह पहला मौका था जब भारतीय बाजार को इंग्लैंड के बाजार के फायदे के लिए समझौता करना पड़ा। भारत में निर्मित वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध और कच्चे माल के निर्यात से भारत का व्यापार बहुत बुरी तरह से प्रभावित हुआ। इसके चलते भारतीय व्यापारी अपनी पूंजी को नहीं बचा सके। वास्तव में यह भारत में 'deindustrialization' का दौर था। औपनिवेशिक काल के पहले लोगों में अपनी जीविका के लिए व्यापार को लेकर बड़ा उत्साह था लेकिन औपनिवेशिक शासन के शुरू होते ही उनका यह उत्साह ठंडा पड़ गया। इसके बाद लोगों का झुकाव कृषि की तरफ गया लेकिन साधारण लोगों के लिए यह बहुत उत्साहवर्धक नहीं था। कृषि पर बहुत ज्यादा कर थोप दिया गया। यह औपनिवेशिक काल के पहले की तुलना में बहुत ज्यादा था। कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों का मत है कि ब्रिटिश शासन ने भारतीय प्रशासन में शांति और स्थायित्व का संचार किया और देश के विभिन्न क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था में एक प्रकार की एकता की समझ

टिप्पणी

पैदा की। इस प्रकार के दावे भारतीय इतिहासकारों के द्वारा पूर्णतः खारिज कर दिए गए। लेकिन हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते हैं कि उस समय भारत में प्रशासनिक व्यवस्था काफी कमजोर थी। यह भी सही है कि उस समय देश के लोगों के बीच एकता की कमी थी जिससे अंग्रेजों को भारत पर कब्जा जमाने में मदद मिली। ब्रिटिश शासन के पूर्व या मुगल काल में कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी थी जिसका देश में आय और रोजगार पैदा करने में बड़ा योगदान था। उस समय जो कृषि उत्पाद थे उनमें मक्का, तिलहन, नील, अनाज, गन्ना, कपास, पान, भांग और अन्य नकदी फसलें थीं।

नील की खेती उस समय आगरा और गुजरात के क्षेत्रों में ज्यादा होती थी। अजमेर का इलाका गन्ने की खेती के लिए जाना जाता था। मुगल वंश के संस्थापक बाबर ने मध्य एशिया के कई फलों की खेती की शुरुआत भारत में की इसके बाद जहाँगीर के शासन में पुर्तगालियों के द्वारा भारत में तम्बाकू और आलू की खेती की शुरुआत हुई। कृषि के अलावा व्यापार, हथकरघा, रेशम के धागों से कपड़े बनना आदि मुगल काल में भारतीय अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग थे। उस समय परिवहन और संचार में काफी तरक्की हुई जिससे चलते भारतीय अर्थव्यवस्था में काफी सुधार हुआ। कपड़ा उद्योग ने भी काफी जोर पकड़ा जिसके परिणामस्वरूप कपास और रेशम की मांग काफी बढ़ी। मुगल कालीन जीवनशैली कला, वास्तु कला व्यापार आदि को बढ़ाने में बहुत मददगार साबित हुई। व्यापारी की स्थिति इस काल में मजबूत हुई और व्यापार ने देश के अन्दर और बाहर के क्षेत्रों में काफी प्रगति की। इसका एक कारण यह था कि मुगल शासकों ने भारत को एक बड़े भाग में जोड़ दिया जो पूर्व की कई शताब्दियों में संभव नहीं हो सका था। यूरोपियन व्यापारी के आगमन के बाद, लाहौर, आगरा, बरोच, सूरत आदि क्षेत्र व्यापार के बड़े केंद्र के रूप में विकसित हुए। इन सभी चीजों ने भारत में बड़ी पूंजी पैदा करने में बड़ा योगदान दिया। कुछ इतिहासकारों का यह भी मानना है कि मुगल शासकों ने कृषक समुदाय के सामजिक स्थिति में कोई बड़ा सुधार नहीं किया। यह मुगल शासकों की एक बड़ी कमी थी। इन शासकों ने न तो कृषि क्षेत्रों को बढ़ाया और न ही पैदावार में बढ़ोतरी के लिए नए तरीकों को लागू किया। मुगल काल में आयी अकाल की विपदा की गिनती भारत के इतिहास की बड़े विपदाओं में होती हैं। अकाल ने उस समय की अर्थव्यवस्था को बहुत नुकसान पहुंचाया। औरंगजेब की मृत्यु तक मुगल काल में अर्थव्यवस्था में लगातार गिरावट हुई। पूर्व के साम्राज्यों की तुलना में मुगल साम्राज्य काफी फैला और मजबूत स्थिति में था। मुगल साम्राज्य की स्थापना बाबर ने की थी, अकबर ने इस साम्राज्य को मजबूती प्रदान की, जहांगीर और शाहजहाँ के शासन काल में इस साम्राज्य की काफी समृद्धि हुई और औरंगजेब के शासन काल में इस साम्राज्य ने शिखर को प्राप्त किया। लेकिन औरंगजेब की मृत्यु के बाद इस साम्राज्य का विघटन शुरू हो गया और 1750 ईसवीं तक यह केवल दिल्ली के आसपास के क्षेत्रों तक सिमट के रह गई। 1803 ईसवीं में ब्रिटिश सेना ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया और महान मुगल साम्राज्य ईस्ट इंडिया कंपनी का केवल एक पेंशनभोगी बनकर रह गया।

आधुनिक भारत की सामाजिक आर्थिक स्थिति को समझने का एक रास्ता यह है कि हम पहले ब्रिटिश औपनिवेशिक काल के स्वाभाव और चरित्र को समझें जिसने

टिप्पणी

भारत के सामाजिक आर्थिक जीवन को एक आकार दिया। ब्रिटिश उपनिवेशिक राज्य का उभरना एक धीमी गति की दृढ़ प्रक्रिया थी। सबसे पहले राजनितिक संस्थानों और राज्य–समाज के संबंधों को पुनर्जागरण के व्यापक सन्दर्भ में पुनर्संरचित (Restructured) किया गया। उपनिवेशिक राज्य का उदविकास राज्य और जनता की लगातार अन्तःक्रिया से संभव हो पाया जिसने कूटनीतिक आवश्यकता के अनुसार बहुत सारे संवाद और संस्थानों को पैदा किया। राज्य की शक्ति को केवल मिलिट्री बल के द्वारा हासिल नहीं किया गया बल्कि इसमें 'यूरोपियन तर्कवाद के बृहद संवाद' ('grand discourses of European rationalism') का भी योगदान था। उपनिवेशिक राज्य ने कई तरह के सिद्धांत, कूटनीति, संवाद और कई संदर्भों में अपनी परिभाषा पैदा की जिसे इस उपनिवेश में राज्य और समाज को परिभाषित करने के लिए उपयोग किया गया। इसने बहुत सारे 'हथकंडे' का भी उपयोग किया और साथ ही साथ निवासियों से कई मुद्दों पर समझौता भी किया जिसके चलते इस क्षेत्र पर ज्यादा से ज्यादा नियंत्रण स्थापित हुआ। इस प्रकार अपने विस्तार के विभिन्न चरणों पर राज्य ने अपनी संस्थाओं, संवाद और नीति में बड़ा बदलाव राजनितिक आर्थिक विचारों और उपनिवेश के अन्दर विभिन्न जातियों के बीच और वर्गों के बीच तथा वर्गों और जातियों के बीच संबंधों के अनुसार किया। उपनिवेश के फैलाव की प्रक्रिया को इस प्रकार से समझा जा सकता है कि अंग्रेजों ने अपने उपनिवेश में आधिपत्य पैदा करने के लिए बहुत से राजनितिक मुहावरों, सांस्कृतिक प्रतीकों और तर्कमूलक तरीकों का उपयोग किया। उपनिवेश के विस्तार के प्रत्येक चरण पर अलग–अलग कूटनीति का उपयोग अपने शासन को वैधानिक बताने के लिए और बहुत सारे देशी समूह के साथ बातचीत के लिए किया गया।

प्राच्यविद और भारतीय समाज पर इनका प्रभाव

उपनिवेशी विस्तार के पहले चरण में, कंपनी और देशी संस्थाओं के शक्ति के सम्बन्ध के बीच वाणिज्य सम्बन्धी विचारों ने अपना वर्चस्व दिखाया। यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु है कि अठारहवीं शताब्दी तक कंपनी की विस्तारवादी नीति प्रभुत्व की छवि पर आधारित थी और उसने क्षेत्रीय अभिजात वर्गों के लिए 'बल' का उपयोग किया। बंदरगाह शहर की स्थापना केवल सुरक्षा को ध्यान में रखकर नहीं की गई थी बल्कि ब्रिटिश हुकूमत की संप्रभुता की सुरक्षा के लिए भी की गई थी। पलासी के युद्ध के बाद कंपनी को राजस्व वसूली का प्रभावी दिवानी अधिकार मिला लेकिन मुगल साम्राज्य की राजनीतिक और वैधानिक संस्थाओं को बरकरार रखा गया। कंपनी ने दोहरी शक्ति के केंद्र स्थापित किये जो कंपनी संप्रभुता के वास्तविक चरित्र पर पर्दा डालने का काम करते थे।

कंपनी के विस्तार में प्रच्याविद्वान का उद्‌भव भी शामिल था जिन्होंने भारत के इतिहास को मौलिक स्रोतों से समझने का प्रयास किया। आरंभिक दौर में भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थिति खतरनाक और अस्थिर थी। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में और उन्नीसवीं शताब्दी के पहले दशक में कंपनी के अधिकारियों ने अपने नए उपनिवेश की मूल संस्कृति के प्रति समझौता की नीति को आगे बढ़ाया। जब बहुत सारे ब्रिटिश विद्वान् भारतीय सभ्यता को समझने के लिए आकर्षित हुए तो इसके चलते एशियाई संस्कृति के शैक्षणिक ज्ञान में बढ़ोतरी हुई। एशिया में ज्ञान के विस्तार ने बहुत सारे विद्वानों को आकर्षित किया। 1784 में 'एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना कलकत्ता में विलियम जोंस के द्वारा की गई। शीघ्र ही जोंस ने भारत यूरोपियन भाषा

की समान उत्पत्ति पर एक महत्वपूर्ण शोध पेश किया। कुछ ब्रिटिश विद्वानों ने संस्कृत, दर्शनशास्त्र, भारत के इतिहास और संस्कृति के अध्ययन के लिए अपने आप को समर्पित कर दिया।

टिप्पणी

उपनिवेशीकरण की अवधि के दौरान ब्रिटिश प्रशासक और अधिकारी भारत में कई लोगों के संपर्क में आये। प्रशासकों का उन लोगों के बारे में अध्ययन अपरिहार्य हो गया जिन पर उन्होंने शासन किया। उन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति की विविधता का अध्ययन किया। ब्रिटिश प्रशासकों और विद्वानों ने भारत की संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को समझा। इस क्रम में उन्होंने पाया कि भारतीय ग्रामीण समुदाय उनके पश्चिम के अनुभव से अलग है। उन्होंने भारत को कई भाषाओं, धार्मिक और विविध सांस्कृतिक परंपराओं का देश माना। कला–प्रणाली, पारिवारिक संरचना, भूमि स्वामित्व पैटर्न के अलावा विद्वानों ने भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया।

अलेकजेंडर डॉव (Alexander Dow), ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना में एक अधिकारी थे, जिन्होंने सबसे पहले फारसी में लिखे भारत के इतिहास का अनुवाद 'हिस्ट्री ऑफ हिन्दुस्तान इन 1768–1771' में के रूप में प्रकाशित किया था। उन्होंने कई निबंधों का अनुवाद किया तथा फारसी ग्रंथों को समझकर यह बताया कि भारत में रीति–रिवाजों और शिष्टाचार का सम्बन्ध ब्राह्मण जाति से जुड़ा है। उन्होंने संस्कृत सीखने का भी प्रयास किया, लेकिन उनके आधिकारिक कर्तव्य ने संस्कृत भाषा में महारत हासिल करने से उनको रोका। हालांकि उन्होंने बनारस के पंडितों की सहायता से कुछ प्रमुख शास्त्रों का अध्ययन करने का प्रयास किया। क्वू ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का ब्राह्मणवादी सिद्धांत प्रस्तुत किया। अन्य रीति–रिवाजों–जन्म, मृत्यु, विवाह, ब्राह्मणों की विशेषाधिकार प्राप्त स्थिति, हिंदू धर्म के संन्यासी के रूप में संन्यासियों की भूमिका आदि के लिए क्वू ने ज्योतिषी सम्बन्धी विचारों को बताया। क्वू अनुवादों के दौरान भारतीय समाज और हिंदू धर्म को समझने में आने वाली कठिनाइयों से पूरी तरह अवगत हो चुके थे।

सर विलियम जोंस ने ग्रीक के सैंड्रोकॉट्स (Sandrocottus) को चद्रगुप्त मौर्य के रूप में पहचान दिलाई। जेम्स प्रिंसेप (James Prinsep) और हेनरी मैसर (Henry Masser) ने ब्राह्मी लिपि को स्पष्ट किया साथ ही साथ अशोक के शिलालेखों और बहुत सारे बुद्ध धर्म के साहित्य का अनुवाद किया। ये सारी चीजें प्राचीन भारत के इतिहास में एक नया अध्याय खोलती हैं। इसके आगे, विलियम जोंस, जोनाथन डनकन और अन्य प्राच्यविद्वान् ओरिएंटलिस्टस के प्रयासों ने प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन में लोगों की दिलचस्पी को फिर से जीवित किया। प्राच्य विद्वानों ने भारत में ब्रिटिश हुकूमत के पक्ष में लोगों के बीच एक मनोविज्ञान तैयार किया ताकि अंग्रेजों को अपनी जड़ें जमाने में कोई परेशानी न हो। इस प्रकार, इस विचारधारा ने भारत के बारे में जिस प्रक्रिया के तहत जानकारी पैदा की उसे हम 'reverse acculturation' कहते हैं। यह एक प्रकार की राजनीतिक दृष्टि थी जिसके तहत भारत के रीति–रिवाजों, परम्पराओं के बारे में यूरोपियन अधिकारियों को जानकारी देना था ताकि वे इसे आत्मसात कर सकें और उन्हें शासन करने में मदद मिले। इसी कड़ी में सन् 1800 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई। वास्तव में प्राच्यविद (Orientalist) डिस्कोर्स का अपना एक

टिप्पणी

राजनीतिक एजेंडा था। यह भी महत्वपूर्ण बात है कि पहले अगर orientalist discourse को प्राचीन परम्पराओं के सम्मान का आधार बनाया गया होता तो वह भारत के समाज के बारे में जो जानकारी पैदा करता वह अंततः शासन की नीति के रूप में Orientalism को नकारने की जमीन तैयार कर देता। उदाहरण के लिए, यह ज्यादा से ज्यादा प्रचारित किया गया कि भारत में महान आर्यन सभ्यता को इस्लाम और मुगलों के प्रभाव के कारण नुकसान हुआ और इसने देश में साम्प्रदायिकता का बीज बोया। ब्रिटिश शासक, मिशनरी और जेम्स मिल जैसे इतिहासकार ने बाद में भारतीय मूल निवासी की संस्कृति, सामाजिक संरचना और व्यवहार की निंदा की। ब्रिटिश शासन को भारत में इस बात– 'अपने द्वारा पैदा की गई दुर्दशा से छुटकारा पाना है और यूरोप ने जितनी प्रगति हासिल की है, उतनी हासिल करनी है' ने स्वीकृति दिलायी। ब्रिटिश ने विश्व स्तर पर गोरी नस्ल की प्रभुता को सही ठहराने के लिए गोरी नस्ल की श्रेष्ठता के सिद्धांत को प्रचारित किया।

नस्लीय भेदभाव उपनिवेशिक राजनीतिक–वैधानिक प्रणाली का हिस्सा हो गया जिसे रोजमर्रा की जिंदगी में महसूस किया जाने लगा। इसे बाद में आर्मएक्ट और वर्नाकुलर प्रेस एक्ट 1878 कहा गया। एल्बर्ट बिल ने इसे और बढ़ाया। 1883 में जब सुरेन्द्र नाथ बनर्जी को कोर्ट की अवमानना में हिरासत में लिया गया तो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर के राष्ट्रवादी चेतना– रक्षात्मक भाव हिन्दू धर्म के अतीत को बताना, की आक्रामकता को और तेज करने में मदद मिली। इसके परिणामस्वरूप अपने समुदाय में लोगों की दिलचस्पी बढ़ी जिसने दूसरे समुदाय के प्रति चेतना को और जाग्रत किया। हिन्दू धर्म की सबसे खतरनाक दृष्टि यह थी वे पिछली शताब्दियों के मुस्लिम शासकों के प्रति खराब भाव रखते थे। साम्प्रदायिकता का बीज Lord Lytton के वायसराय के काल (1876–80) में ही बो दिया गया था। 30 दिसम्बर, 1906 को एक अलग पार्टी मुस्लिम लीग की स्थापना मुस्लिम समुदाय के हित और उनकी जरूरतों को ध्यान में रखते हुए की गई। उनकी मांग को Minto Morley Reform जिसे Government of India Act 1909 के नाम से जाना जाता है, के माध्यम से स्वीकार किया गया। इस एक्ट ने एक नया तरीका ईजाद किया ताकि शक्ति का सही और बराबर बंटवारा हो सके। मुस्लिम धर्म के प्रति अपनी वफादारी हासिल करने के बाद अंग्रेजों ने गैर–ब्राह्मण जाति के उत्थान पर ध्यान दिया, इस तरह से अंग्रेजों ने जाति व्यवस्था को पुनः परिभाषित किया।

प्राच्यविदों ने भारत के प्राचीन इतिहास को समझने के लिए अपने आप को झोंक दिया। उन्होंने अपना ध्यान प्राचीनतम ग्रंथों पर केन्द्रित किया साथ ही साथ उस रीति–रिवाज को नजरअंदाज किया जो धर्मग्रंथ का हिस्सा नहीं था। उनके विश्लेषण ने प्राचीन ग्रंथों पर प्रकाश डालते हुए जाति व्यवस्था को हिन्दू सामाजिक संगठन के अनिवार्य अंग के रूप बताया। बाद में उपनिवेशी नृवंशविज्ञानशास्त्री ने जाति व्यवस्था की एक नयी समझ पैदा की और नस्लीय आयाम को जाति की अवधारण के लिए सही बताया। उनका तर्क था कि गोरे रंग की त्वचा वाले आक्रमण करने वाले आर्य का प्रतिनिधित्व करते हैं और काली त्वचा के लोग गैर आर्य हैं। इस तरह से जाति व्यवस्था को धीरे–धीरे आधिकारिक वैधता प्रदान की गई।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. कौन–सा देश हिंदू, बौद्ध, जैन और सिख धर्म की जन्म स्थली रहा है?
   (क) अमेरिका (ख) भारत
   (ग) इंग्लैंड (घ) श्रीलंका
2. किसने मध्य एशिया के कई फलों की खेती की शुरुआत भारत में की?
   (क) बाबर ने (ख) अकबर ने
   (ग) गांधी जी ने (घ) अशोक ने
3. कलकत्ता में 'एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना किसने की?
   (क) डॉव ने (ख) सैंड्रोकॉट्स ने
   (ग) विलियम जोंस ने (घ) हेनरी ने

2.3 औपनिवेशिक नीति के साधन : जनगणना, जिला गजेटियर (इंपीरियल) विवरणिका

ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा भारतीय समाज की व्याख्या ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित उपयोगितावादी तर्क द्वारा प्रेरित थी। उनका उद्देश्य भारतीय संसाधनों का दोहन करने के लिए भारतीय समाज को समझना था। प्रशासकों ने ऐसी श्रेणियां विकसित करने की मांग की, जो भारत के मूल निवासियों के जीवन से संबंधित उनके विचारों और कार्यों को क्रमबद्ध करने में उनकी मदद करें। उदाहरण के लिए, बी.एच. बैडेन पॉवेल द्वारा तैयार ब्रिटिश भारत की भूमि प्रणाली (The land system of British India) के तीन खंड (1892) केवल आंकड़ों का संकलन नहीं था बल्कि भारतीय गांव की प्रकृति और इसके संसाधनों के संबंध में तर्कों की एक शृंखला थी जो इन संसाधनों पर राज्य और उसकी जरूरतों से भी संबंधित थी। बैडेन पॉवेल ने माना है कि जमीन या भूमि जो उत्पादन से जुड़ी है, आमतौर पर उसके दो दावेदार होते हैं– राज्य और भू स्वामी। उन्होंने कहा कि सरकार ने "प्रत्येक होल्डिंग के थ्रेसिंग फ्लोर पर वास्तविक अनाज के ढेर का एक हिस्सा लेकर अपना राजस्व प्राप्त किया। इस हिस्से के संग्रह को सुनिश्चित करने के लिए राज्य और अनाज के ढेर के बीच मध्यस्थों की एक विस्तृत शृंखला विकसित हुई। वे अपनी बारी में जमीन या इसके उत्पादन पर नियंत्रण या स्वामित्व/कब्जे की अलग–अलग स्थिति का दावा करते हैं। इसके अतिरिक्त भूमि पर अधिकार पारंपरिक व्यवस्था द्वारा स्थापित किये गए थे। भारत के विभिन्न हिस्सों में प्रशासकों ने ब्रिटिश विद्वानों को नियुक्त किया। उदाहरण के लिए पूर्वी भारत में रिजले और डाल्टन आदि और उत्तरी भारत में क्रुक्स ने भारत की जनजातियों और जातियों के बारे में विश्वकोष लिखा। इस अध्ययनों का उद्देश्य औपनिवेशिक शासन को प्रभावी बनाना था तथा जातियों और जनजातियों के बारे वर्गीकृत विवरणों से सरकारी अधिकारियों को परिचित कराना था।

ब्रिटिश इंडोलॉजिस्ट विलियम जोंस का योगदान बड़ा था क्योंकि उन्होंने संस्कृत और इंडोलॉजी का अध्ययन शुरू किया था और उन्हें एशियाटिक सोसाइटी ऑफ

बंगाल की स्थापना का श्रेय जाता है। 1794 में जोंस ने मनु के कानून का भी अनुवाद किया था।

टिप्पणी

1757 से 1785 की आबादी एक ऐसा काल था जिसमें बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों को एक प्रशासनिक प्रणाली विकसित करनी थी जो कानून व्यवस्था बनाए रखने के साथ–साथ वाणिज्य पर भी नजर रखे ताकि नियमित स्रोत से आय प्राप्त होती रहे। भू राजस्व के मूल्यांकन और नियमित संग्रह के लिए भारतीय समाज की संरचना के बारे काफी ज्ञान की आवश्यकता थी। तदनुसार, बंगाल में भूमि के कार्यकाल की प्रकृति के बारे में पूछताछ पिछले शासकों के दस्तावेजों और अभिलेखों को एकत्र करके की गई थी। लेकिन ये शुरुआती प्रयास ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार क्षेत्र विस्तार के कारण अपर्याप्त साबित हुए और बिटिश लोग भारत की विविधता, इतिहास राजनीतिक और धार्मिक स्वरूप और भूमि प्रणाली को लेकर जागरूक हो गए।

उन्होंने ने यह महसूस किया कि इस तरह अव्यवस्थित रूप में इस सामाजिक जानकारी का कोई खास फायदा प्रशासनिक दृष्टिकोण से नहीं होगा। इसलिए उन्होंने वैज्ञानिक पद्धति का सहारा लेते हुए जनगणना (census) और सर्वेक्षण (survey) पर जोर दिया। इनमें सबसे पहला योगदान डॉ. फ्रांसिस बुकानन का था उन्होंने 1807 में एक व्यापक सर्वेक्षण किया था जो कभी भी पूरी तरह से प्रकाशित नहीं हुआ। लेकिन यह सर्वेक्षण कई मानों में भारतीय समाज के सभी पहलुओं पर एक गंभीर जानकारी देता है। इस प्रयास से भारत की एक समाजशास्त्रीय इकाई के उदय के बारे में जान पाते हैं। उदाहरण के लिए जाति के 'अधिकारिक' दृष्टिकोण ने इसे एक अनुभवजन्य श्रेणी के रूप में माना जिसमें जाति को परिभाषित करने योग्य ठोस और मापनीय विशेषता थी– जैसे सजातीय विवाह, सहभोज का नियम, निश्चित व्यवसाय और सामान्य अनुष्ठान व्यवहार।

उन्नीसवीं सदी एक ऐसी अवधि थी जब ब्रिटिश अधिकारी और मिशनरियों ने भारतीय समाज के बारे में काफी मात्रा में बुनियादी जानकारी एकत्र की। उन्होंने भारत के लोगों और इसकी पारिस्थितिकी, कृषि, भू–राजस्व, क्षेत्रीय समस्याओं जैसे गुजरात और पश्चिमी भारत के अन्य क्षेत्रों में कन्या भ्रूण हत्या आदि पर लिखा। एकत्र की गई जानकारी ने भारतीय समाज और संस्कृति पर एक महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध करायी, भले ही उनका उद्देश्य ब्रिटिश अधिकारियों की प्रशासनिक आवश्यकताओं को पूरा करना था। आंकड़ा संग्रह का अगला चरण 1871 की जनगणना के साथ शुरू हुआ।

प्रत्येक बीतते दशक के साथ भारतीय समाज पर आधारित जनगणना के आंकड़े स्पष्ट और जटिल होते गए। द इथनोग्राफिक सर्वे ऑफ इंडिया की स्थापना ने डिस्ट्रिक्ट गजेटियर जिसे 'इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया' के नाम से जाना जाता है उसके संकलन का नेतृत्व किया। भारत के विभिन्न क्षेत्रों की जनजातियों और जातियों पर भी कई खंड लिखे गए। लिंग्विस्टिक्स सर्वे ऑफ इंडिया ने भारत की कई भाषाओं और बोली–प्रक्रिया और उनके अंतर संबंधों पर जानकारी प्रदान की।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में फ्रांसिस बुचनैन (Francis Buchanan) ने भारतीय समाज पर लिखा। इसके बाद बैडेन–पॉवेल्स (Baden-Powells) ने ब्रिटिश इंडिया की भूमि प्रणाली पर लिखा। रिसेल (Risley) का 'पीपुल्स ऑफ इंडिया', नेसफील्ड

(Nesfield); हटन (Hutton) आदि का जनजातियों और जातियों पर काम, और माइने (Maine) के ग्राम समुदायों पर अध्ययन ने भारतीय समाज पर काफी जानकारी एकत्र करायी।

टिप्पणी

जनगणना कार्य ने ब्रिटिश प्रशासन के उद्देश्य के लिए 'सामाजिक जीवित वास्तविकता' से जाति की निश्चित श्रेणी बनाई। लॉर्ड मेयो के नेतृत्व में 1872 में पहली जनगणना हुई जहां मुक्त प्रश्न पूछे गए थे और धर्म, जाति और नस्ल की श्रेणियों का उपयोग किया गया। एकत्र किए गए आंकड़ों को एक जाति को दूसरी से अलग करने के लिए विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया था। सबसे प्रसिद्ध वर्गीकरण एच. एच. रिजले का है जिसमें उन्होंने जनगणना के आंकड़ों की मदद से 2000 विषम जातियों को सात प्रकारों में विभाजित किया जो निम्न हैं–

(1) आदिवासी

(2) कार्यात्मक

(3) सांप्रदायिक

(4) संस्करण द्वारा गठित जातियां

(5) राष्ट्रीय जातियां

(6) प्रवास द्वारा गठित जातियां

(7) रीति–रिवाजों को बदलकर बनाई जातियां।

इसके बाद, जाति के आधिकारिक शोधकर्ताओं ने हालांकि यह माना कि जाति की उत्पत्ति ब्राह्मणवादी सिद्धांत में निहित है, जिसमें वे जाति को अधिक कार्यात्मक, कुछ हद तक 'फील्ड दृष्टिकोण' के रूप में मानते हैं। नेसफील्ड ने जाति को श्रम विभाजन की जड़ से उभरने वाली माना और पेशे को इस जाति व्यवस्था का मुख्य निध ार्क कारक माना। रिजले जाति की उत्पति में नस्लीय मूल को आधार माना। इब्बेट्सन ने जाति के गठन के लिए आदिवासी मूल को प्रमुख कारक के रूप देखा। जे.एच. हटन ने चौदह ऐसे स्पष्ट कारकों की सूची तैयार की जिनका संभवतः जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास में योगदान है। आधिकारिक दृष्टिकोण केवल उन तरीकों का एक विस्तार नहीं था जिसमें जानकारी एकत्र की गई बल्कि यह 1870–1910 की अवधि के मानवशास्त्रीय हितों और सिद्धांतों को भी दर्शाता है।

जाति व्यवस्था के बारे में लिखी गई सामान्य सैद्धांतिक पुस्तकें संक्षेप में मॉर्गन, मैकलीनन, लुब्बॉक, टाइलर, स्टारके और फ्रेजर के कार्यों को दर्शाती हैं। यह प्रयास तुलना और वर्गीकरण करने के लिए था और क्षेत्र आधारित अध्ययनों से एकत्र किए गए रीति–रिवाजों, मिथकों, कहावतों, प्रथाओं और तथ्यों के बारे में कुछ सामान्य मानवशास्त्रीय समाधानों तक पहुंचाने के लिए था।

1769 में, बिहार और बंगाल के राज्यपाल हेनरी वेरेल्स ने स्थानीयों लोगों में प्रमुख परिवारों और उनके सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के अतिरिक्त उनके रीतिरिवाजों के बारे में सूचना एकत्र करने के महत्व पर जोर दिया। राजस्व अधिकारियों ने इस आदेश का पालन किया। कई महत्वपूर्ण ब्रिटिश अधिकारियों ने इस कार्य का अनुसरण किया। उदहारण के लिए, फ्रांसिस बुकानन ने 1807 में मानव जाति से संबंधित सर्वेक्षण किया। फ्रेंच मिशनरी एबे डुबोइस (Abbe Dubois) ने 1816 में "हिन्दू

मैनर्स, कस्टम एंड सेरेमनीज" (Hindu Manners, Customs and Ceremonies) लिखा जिसे समाजशास्त्री आज भी मूल्यवान मानते हैं। जातियों के अंतर–संबंधों की जांच करने वाले वे पहले व्यक्ति थे।

टिप्पणी

ब्रिटिश सरकार की 1861 की पहली अखिल भारतीय जनगणना से व्यवस्थित ढंग से आंकड़े एकत्र करने की शुरुआत का पता चलता है। हालांकि 1901 में रिजले के नेतृत्व में एक क्षेत्र आधारित नृवंशविज्ञान अनुसंधान सर्वेक्षण के लिए पहला आधिकारिक प्रयास किया गया था जो बाद में 1901 की जनगणना के एक हिस्से के रूप में विकसित हुआ जिसमें जातियों और उप–जातियों का विस्तृत वर्गीकरण था। इस सर्वेक्षण को निम्न आधार पर उचित ठहराया गया–

(1) इस तरह के सर्वेक्षण के योगदान से यूरोपीय समस्याओं का भारत में उपलब्ध उत्कृष्ट आंकड़ों से समाधान किया जा सकता था।

(2) मानव जाति संबंधी आकंड़े विशेषतौर पर जो आदिकालीन विश्वासों और प्रयोगों से संबंधित थे, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप उनके लुप्त होने से पहले एकत्र करने की आवश्यकता थी।

(3) इस तरह के आंकड़ों की अनिवार्यता न्यायिक प्रक्रिया, अकाल राहत, सफाई, संक्रामक रोगों के नियंत्रण और इसी तरह के कार्यों में हो सकती है।

ब्रिटिश सरकार ने अंत में 1905 में Ethnographic Survey (मानव जाति संबंधी सर्वेक्षण) की स्थापना की मांग मान ली जिससे बड़े पैमाने पर आंकड़े प्राप्त किये जा सकते थे जो भारत में मानव विज्ञान और समाजशास्त्र के लिए मूल्यवान थे। प्रत्येक प्रान्त में जनजाति और जाति में खंड, जिला गजेटियर और अंतः भारत का साम्राज्य संबंधी गजेटियर (26 खंड कलकत्ता 1908–09) इस सर्वे (Survey) के हिस्से के तौर पर लिखे गए।

अपनी प्रगति जांचिए

4. लिंग्विस्टिक्स सर्वे ऑफ इंडिया ने कहां की कई भाषाओं और बोली–प्रक्रिया और उनके अंतर्संबंधों पर जानकारी प्रदान की?

   (क) भारत की (ख) ब्रिटेन की

   (ग) पाकिस्तान की (घ) अमेरिका की

5. रिजले ने जनगणना के आंकड़ों की मदद से 2000 विषम जातियों को कितने प्रकारों में विभाजित किया?

   (क) दस (ख) नौ

   (ग) आठ (घ) सात

6. किसने जाति को श्रम विभाजन की जड़ से उभरनेवाली माना और पेशे को इस जाति व्यवस्था का मुख्य निर्धारक कारक माना?

   (क) हटन ने (ख) नेसफील्ड ने

   (ग) माइने ने (घ) रिजले ने

2.4 उत्तर स्वतंत्रता काल में भारत में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के विकास में औपनिवेशिक विरासत की भूमिका

टिप्पणी

भारत में समाजशास्त्र का उदय पाश्चात्य लोगों द्वारा खासकर ब्रिटिश हुकूमत के बाद भारतीय समाज और संस्कृति की पश्चिमी व्याख्या की प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्धिक दृष्टिकोण के तौर पर हुआ था। मानवशास्त्र की उत्पत्ति विगत तीन–चार शताब्दियों के दौरान यूरोपियन द्वारा विश्व भर में उसके साम्राज्य विस्तार का परिणाम था। यूरोपियन शासक द्वारा विश्व भर में अलग–अलग संस्कृति, प्रजातियों और नस्लों पर शासन करने के लिए इन संस्कृतियों और नस्लों के अध्ययन की जरूरत को महसूस किया गया। जैसे–जैसे यूरोपियन की जानकारी गैर–यूरोपियन देशों के बारे बढ़ती गई और बहुत सारे सामाजिक सिद्धांतों का निर्माण इस जानकारी को बढ़ाने के लिए किया गया, डार्विन के विकास के सिद्धांत के प्रभाव में कई विचारों ने जन्म लिया।

भारत में समाजशास्त्र की उत्पति उस समय से मानी जाती है जब ब्रिटिश अधिकारियों ने यह पाया कि भारत के सामाजिक जीवन और इसकी संस्कृति की जानकारी सरकार के आसान काम काज के लिए बेहद जरूरी है। 1769 में हेनरी वेरेलस्ट जो उस समय बिहार और बंगाल के गवर्नर थे, ने महसूस किया कि भारत के प्रमुख परिवारों और उनसे जुड़े रीति–रिवाज, परंपरा, संस्कृति से जुड़ी जानकारी बहुत जरूरी है इसके लिए उन्होंने अपने मातहत काम करने वाले राजस्व सुपरवाइजर को इसके जुड़े आंकड़े इकट्ठा करने का आधिकारिक आदेश दिया। उसी समय से ब्रिटिश अधिकारी और मिशनरी ने भारत का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्कृति से जुड़े आंकड़े इकट्ठा करने और संग्रह करने का प्रयास तेज कर दिया। उदाहरण के तौर पर फ्रांसिस बुचनैन ने एक मानवजाति विज्ञान सम्बन्धी सर्वेक्षण किया।

भारत में जिन परिस्थितियों में समाजशास्त्र का उदय हुआ उसके दोहरे पहलू पर पर्याप्त ध्यान न देने के कारण उसमें पश्चिमी समाजशास्त्र की झलक दिखाई देती है। उदाहरण के तौर पर डूमौर और पोकौक द्वारा 1957 में दिए गए कथन का कोई विरोध नहीं हुआ कि "भारत का समाजशास्त्र केवल पिछले दस वर्षों में ही ठीक से आरंभ हुआ है।"

भारतीय समाजशास्त्रियों ने आमतौर पर पश्चिम से ज्ञान प्राप्त किया है इसलिए वे पश्चिम में विकसित समाजशास्त्र की संकल्पनाओं और श्रेणियों से भलीभांति परिचित थे। उन्होंने इन संकल्पनाओं और श्रेणियों को अपनाया तथा उन्हें भारतीय संदर्भ में लागू किया। इस प्रकार अपने पश्चिम के पूर्ववर्तियों की तरह उन्होंने समाजशास्त्र की वैधता को एक गंभीर बौद्धिक विषय के रूप में स्थापित करने के लिए अधिक संघर्ष नहीं किया, जैसा कि 19वीं शताब्दी के दौरान यूरोप के समाजशास्त्रियों को करना पड़ा था।

जिस परिवेश में भारत में समाजशास्त्र और इसकी शाखा मानव विज्ञान का विकास हुआ, वह व्यापक रूप से पिछली तीन–चार शताब्दियों में यूरोपीय साम्राज्य के विस्तार का ही परिणाम था। भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान का विकास

भारतीय समाज और संस्कृति की वृहत जानकारी से ही संभव हो पाया। और यह जानकारी औपनिवेशिक शक्तियों का प्रयास था। भारत में समाजशास्त्र और मानव विज्ञान के उदय में औपनिवेशिक संदर्भ बहुत माने रखता है।

टिप्पणी

बर्नार्ड कोह के अनुसार– "18वीं शताब्दी के अंत में ब्रिटिश शासन की स्थापना से ब्रिटिश अधिकारी द्वारा भारत की विभिन्न भाषाओं को सीखने और प्रशासनिक उद्देश्यों के लिए भारतीय समाज के संरचनात्मक ज्ञान की आवश्यकता के चलते भारतीय समाज के क्रमबद्ध ज्ञान का तेजी से विकास हुआ। 18वीं शताब्दी के अंत तक भारतीय समाज के विश्लेषण के लिए तीन दृष्टिकोण सामने आए। ये उपागम थे– प्राच्यभाषाविषद, प्रशासनिक और मिशनरी।

औपनिवेशिक काल में भारतीय समाज और संस्कृति, गांवों एवं कानूनों के संबंध में अनेक अध्ययन किये गए और इन अध्ययनों ने भारत में समाजशास्त्र और मानव विज्ञान के उदय और विकास में बड़ी भूमिका निभायी। उदाहरण के लिए विलियम जोंस का भारतीय समाज और संस्कृति पर अध्ययन भारतीय समाजशास्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण है। हरबर्ट रिजले का 'पीपुल्स ऑफ इंडिया', नेसफील्ड, हटन आदि का जनजातियों और जातियों पर काम भारतीय समाजशास्त्र और मानव विज्ञान के विकास में बड़ा योगदान रखता है। इन अध्ययनों ने भारतीय विद्वानों को इन दोनों विषयों के विस्तार में काफी सहायता की। 1901 में रिजले के नेतृत्व में एक क्षेत्र आधारित नृवंशविज्ञान अनुसंधान सर्वेक्षण के लिए पहला आधिकारिक प्रयास किया गया था जो बाद में 1901 की जनगणना के एक हिस्से के रूप में विकसित हुआ जिसमें जातियों और उप–जातियों का विस्तृत वर्गीकरण था इस सर्वेक्षण की झलक बाद में किये गए सर्वे में दिखाई देती है। नृजातीयशास्त्र के अध्ययनों में रिजले का योगदान महत्वपूर्ण है। अपनी पुस्तक– 'कास्ट एंड ट्राइब इन बंगाल' (1891) में उन्होंने बंगाल की जातियों और नृजातीय का खाका खींचा, ब्राह्मणवादी समाजशास्त्र की चर्चा की और उपनिवेशवादी शासन को जाति के अध्ययन के महत्व को समझाया। उन्होंने कहा कि यदि भारत में शासन करना है तो जाति की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। पूरी 19वीं शताब्दी में नृजातीय अध्ययन छाये रहे। जाति, धर्म, संस्कार, प्रथाएं जो भारत में प्रमुखताएं थीं, अध्ययन के लिए स्वीकार कर ली गई थीं। आजादी के बाद समाजशास्त्र का विकास इन अध्ययनों में निहित था।

फ्रेंच मिशनरी एबे डुबोइस (Abbe Dubois) ने 1816 में "हिन्दू मैनर्स, कस्टम एंड सेरेमनीज" (Hindu Manners, Customs and Ceremonies) लिखा जिसे समाजशास्त्री आज भी मूल्यवान मानते हैं। जातियों के अंतर–संबंधों की जांच करने वाले वे पहले व्यक्ति थे। वाल्टर हैमिल्टन के गजेटियर –A Geographical, Statistical, and Historical Description of Hindostan and Adjacent Countries (1820) ने भारत के अलग–अलग स्थानों का उनके ऐतिहासिक सन्दर्भों में विवरण दिया।

भारत में समाजशास्त्र और मानवविज्ञान का विकास बृहत् रूप से तीन चरणों में दिखता है। पहला चरण 1773 से 1900 तक का है। इस अवधि में इन विषयों का उदय हुआ और इनके अध्ययन में वृद्धि हुई। दूसरा चरण 1901 से 1950 का समय था इस दौरान इन विषयों को व्यावसायिक रूप दिया गया और इसके बाद अंत में

तीसरा चरण स्वतंत्रता के बाद शुरू हुआ। इस अवधि में, भारतीय विद्वानों का परिचय बहुत से विदेशी विद्वानों के कार्यों से हुआ जिसने उनके कार्य को आगे बढ़ाने में अहम् योगदान दिया।

टिप्पणी

20वीं शताब्दी के प्रारंभ में समाजशास्त्र और मानव विज्ञान ने पेशे की प्रारंभिक अवस्था में प्रवेश किया। श्रीनिवास और पाणिनी के अनुसार– "यद्यपि जनगणना से जुड़े ब्रिटिश अधिकारियों ने अपना बृहत् मानवजाति से संबंधित अध्ययन जारी रखा लेकिन यूरोप में पेशेवर समाजशास्त्री और मानव विज्ञानी ने भारत में रुचि लेनी शुरू कर दी।" रीवर्स ने 'The Todas' (1906) नाम से अपना शोध प्रकाशित किया। यह आधुनिक सामाजिक मानवजाति विज्ञान परंपरा के प्रथम शोध–निबंधों में से एक था। रीवर्स ने 1901–02 की सर्दियों में दक्षिण भारत की नीलगिरी की पहाड़ियों में टोडा जनजाति पर अपना शोध कार्य किया था। उनकी मृत्यु के बाद उनके दो शिष्यों जी.एस. घुर्ये और के.पी. चट्टोपाध्याय ने भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानव विज्ञान (जो मानव विज्ञान की एक शाखा है) के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन दोनों विद्वानों के कार्य में रीवर्स का प्रभाव निरंतर बना रहा। भारत में मानव विज्ञान के विकास ने 1905 में उस समय एक बड़ी उपलब्धि हासिल की जब ब्रिटिश सरकार ने मानव जाति विज्ञान के संबंध में सर्वेक्षण करने की सहमति प्रदान की। इन सर्वेक्षणों को जिला राजपत्रों और भारत के शासकीय राजपत्र (26 खण्ड, कोलकाता 1908–09) के रूप में देखा जा सकता है।

1950 से पहले, भारतीय समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों ने ब्रिटेन की सामाजिक और सांस्कृतिक मानव विज्ञान की प्रमुख प्रवृतियों, विशेष रूप से मैलिनोवस्की के प्रकार्यवाद के सांस्कृतिक दबाव (Culturalogical Strain) का अनुसरण किया।

समाजशास्त्र और मानवशास्त्र विषयों में शिक्षण और अनुसंधान औपनिवेशिक काल की देन है। एक पूर्ण और प्रमाणिक समाजशास्त्र (और सामाजिक नृविज्ञान) की उत्पत्ति, शिक्षण और अनुसंधान में पूर्ण और प्रमाणिक समझ के लिए कलकत्ता, बंबई, लखनऊ, मैसूर के विश्वविद्यालयों के अभिलेखागार में पड़ी सामग्री के गहन शोध की जरूरत है। भारत–ब्रिटिश की टकराहट कई मानों में भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक नृविज्ञान में अनुसंधान के विकास के लिए अनुकूल थी।

औपनिवेशिक काल के दौरान भारतीय शिक्षित लोगों ने भारत की सामाजिक संस्थाओं और जीवन शैली पर गंभीर रूप से चिंतन करना शुरू किया। उन्होंने अपनी संस्कृति और सामाजिक संस्थानों की पुनर्व्याख्या करने और खराब लगने वाली सामाजिक प्रथाओं को बदलने की मांग की। भारत के अतीत को उजागर करने वाली एक प्रणाली विकसित की गई जिसने भारतीय राष्ट्रवाद में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गर्व और आत्म–सम्मान की भावना ने भारतीय समाज और संस्कृति के पुनर्निर्माण के दृढ़ संकल्प को मजबूत किया। राष्ट्रवादी भावना ने समाजशास्त्र और सामाजिक नृविज्ञान के दो विषयों पर भी विचार किया। भारत में इन विषयों की स्थापना के दौरान समाजशास्त्र और सामाजिक नृविज्ञान में अनुसंधान गतिविधियों को एक तरफ ब्रिटिश विद्वता और दूसरी ओर राष्ट्रवाद की लहर ने काफी प्रभावित किया।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

7. किसके विकास के सिद्धांत के प्रभाव में कई विचारों ने जन्म लिया?

   (क) मॉर्गन के (ख) फ्रेजर के

   (ग) डार्विन के (घ) टाइलर के

8. "भारत का समाजशास्त्र केवल पिछले दस वर्षों में ही ठीक से आरंभ हुआ है।"– 1957 में यह कथन किसने दिया था?

   (क) ड्रमौर व पोकौक ने (ख) हेनरी ने

   (ग) बुचनैन ने (घ) बर्नार्ड कोह ने

9. किस काल के दौरान भारतीय शिक्षित लोगों ने भारत की सामाजिक संस्थाओं और जीवन शैली पर गंभीर रूप से चिंतन करना शुरू किया?

   (क) औपनिवेशिक काल (ख) भूत काल

   (ग) मुगल काल (घ) महा काल

2.5 शैक्षणिक नवउपनिवेशवाद

नवउपनिवेशवाद का मतलब विकाशसील देशों के बौद्धिक जीवन, उनकी शिक्षा प्रणाली और नीति पर विकसित देशों के प्रभाव से है। आधुनिक समय में नवउपनिवेशवाद के अंतर्गत किसी भी विकसित देश का किसी विकासशील देश पर प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण नहीं होता है, जैसा कि उपनिवेशवाद के दौर में विकसित देशों का विकासशील देशों पर होता था। उदाहरण के लिए जब भारत पर अंग्रेजी हुकूमत थी तो उस समय अंग्रेजों का भारत पर सीधे तौर पर राजनीतिक नियंत्रण था। उन्होंने भारत को एक उपनिवेश के रूप में विकसित किया था ताकि उसके संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण हो सके और वे संसाधनों का शोषण कर सकें। लेकिन नवउपनिवेशवाद में अंग्रेजों का भारत पर सीधे तौर पर राजनीतिक नियंत्रण नहीं है लेकिन उस देश का प्रभाव खासतौर पर शिक्षा और नीति निर्धारण के क्षेत्र में अभी भी महसूस किया जा सकता है, विशेष रूप से अंग्रेजी भाषा और उसके प्रभाव के रूप में। क्रासले व ट्रिक्ले (2004) के अनुसार, ज्यादातर शिक्षा प्रणाली जो विद्वानों के द्वारा जांची–परखी गई है, उसकी उत्पत्ति औपनिवेशिक काल में हुई है।

नवउपनिवेशवाद वह प्रक्रिया है जिसमें अमीर, शक्तिशाली और विकसित राष्ट्र अपने आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य औपचारिक तरीकों का इस्तेमाल कर गरीब, कम शक्तिशाली और अविकसित राष्ट्र पर दबाव डालता है और अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण रखता है। विकसित राष्ट्र द्वारा अविकसित राष्ट्र में आर्थिक निवेश का मतलब उस देश का शोषण करना है न कि उस देश का आर्थिक विकास करना।

क्वाने नक्रुमाह (Kwame Nkrumah) नवउपनिवेशवाद पर लिखने वाले सबसे प्रमुख लेखक हैं और उन्होंने वास्तव में इस शब्द को गढ़ा है। वे अपनी रचना– Neo-colonialism, the last stage of imperialism (London: Thomas Nelson & Sons, Inc.), 1965 में लिखते हैं कि आज की दुनिया में कोई नया उपनिवेश पैदा नहीं किया जा

टिप्पणी

सकता है। हालांकि, अभी भी उपनिवेश मौजूद हैं, लेकिन कोई नया नहीं है। वे कहते हैं कि उपनिवेशवाद के बजाय, उच्च आय वाले देश अभी भी पुराने उपनिवेशों का अपनी आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करते हैं। उन्होंने इसे साम्राज्यवाद कहा और जोर देकर कहा कि नव–उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद का अंतिम चरण है। नक्रुमाह का कहना है कि जिस देश को नवउपनिवेशवाद का शिकार बनाया जा रहा है, वह एक स्वतंत्र एवं संप्रभुता संपन्न देश है लेकिन उसकी आर्थिक व्यवस्था और वास्तव में सार्वजनिक नीति निर्धारण एक बाहरी स्रोत जिस पर वह देश आर्थिक रूप से निर्भर हो सकता हैं, से निर्देशित होती है। नवउपनिवेशवाद कम आय वाले समाज से निर्मित राष्ट्र के लिए हानिकारक है जो इसके विकास और औद्योगिक क्षमता को कम करता है।

वास्तव में, नवउपनिवेशवाद विकासशील देशों पर उपनिवेशवाद की तुलना में ज्यादा जटिल आधिपत्य को दर्शाता है। एशिया के कई अन्य हिस्सों में औपनिवेशिक सत्ता की विरासत अभी भी स्वदेशी शैक्षिक प्रतिमानों को अनदेखा या अस्वीकार कर सकती है, जिनमें से कई उस देश के सांस्कृतिक मानदंडों और मूल्यों से निकटता से जुडे हुए हैं। कई समाजशास्त्रियों ने सहमति व्यक्त की कि नवउपनिवेशवाद साम्राज्यवाद का अंतिम चरण है और इसे सबसे खतरनाक चरण के रूप में भी लिया जाता है।

ज्यादातर विकासशील देशों की शिक्षा प्रणाली पर उसी देश के पूर्व उपनिवेशी शासक की प्रशासनिक संरचना का प्रभाव स्पष्ट रूप ने निहित होता है। विकासशील देशों के स्कूलों की संरचना और संगठन विदेशी मॉडल को प्रदर्शित करते हैं। यहाँ तक कि स्कूल और कॉलेज का पाठ्यक्रम प्रायः उस देश के पूर्व उपनिवेशिक शासक के दृष्टिकोण या अन्य विकसित देशों के दृष्टिकोण को दर्शाता है जो उनको मदद पहुंचाता है या किसी अन्य कारण से उस विकासशील देश के सन्दर्भ में शक्तिशाली है। कुछ विकासशील देशों में संचार की भाषा वही है जो उसके पूर्व के उपनिवेशिक शासक की भाषा थी। लगभग पूरी शिक्षा प्रणाली पर पूर्व के उपनिवेशिक शासन या अन्य उससे ताल्लुक रखने वाले विकसित देशों की शिक्षा प्रणाली का प्रभाव दिखायी पड़ता है।

अपनी प्रगति जांचिए

10. नवउपनिवेशवाद का मतलब विकासशील देशों के बौद्धिक जीवन, उनकी शिक्षा प्रणाली और नीति पर किसके प्रभाव से है?

    (क) अविकसित देशों के (ख) विकसित देशों के

    (ग) अर्द्धविकसित देशों के (घ) छोटे देशों के

11. किनके अनुसार ज्यादातर शिक्षा प्रणाली जो विद्वानों के द्वारा जांची–परखी गई है, उसकी उत्पत्ति औपनिवेशिक काल में हुई है?

    (क) क्रासले व ट्रिक्ले के (ख) डार्विन के

    (ग) मैलिनोवस्की के (घ) जी.एस. घुर्ये के

12. कई समाजशास्त्रियों ने सहमति व्यक्त की कि नवउपनिवेशवाद साम्राज्यवाद का कौन–सा चरण है?

    (क) पहला (ख) दूसरा

    (ग) तीसरा (घ) अंतिम

2.6 समाजशास्त्र का अमेरिकीकरण

टिप्पणी

सैटेलाइट के विकास के साथ और हाल ही में इंटरनेट के आविष्कार के चलते संस्कृति के प्रवाह के लिए दूरी एक सीमित कारक के रूप में नहीं लगती है। आचरण, उपभोग मानकों और सांस्कृतिक चलन के बारे में समान वैश्विक मानदंड हर जगह फैल रहे हैं। इस वैश्वीकृत पैकेज को कई बुद्धिजीवियों ने चुनौती दी है जो इस बात से घृणा करते हैं कि विश्वभर में सांस्कृतिक एकरूपता का रुझान है। वे वैश्विक संस्कृति और अमेरिकी संस्कृति को एक समान मानते हैं। वास्तव में, वैश्वीकरण की अंधेरी छाया में, संस्कृति का सबसे व्यापक रूप से समरूपता है जो सांस्कृतिक लक्षणों और प्रथाओं का एक सामान अभिसरण है।

जो लोग संस्कृति को समरूपता की तरफ लगातार बढ़ती हुई मानते हैं वे इस बात पर विश्वास करते हैं कि तथाकथित वैश्विक संस्कृति वैश्विक अर्थव्यवस्था का अनुसरण करती है और इसने "कोका–उपनिवेशवाद" (Coca-Colonization) और "मैकडॉनलाइजेशन" (McDonaldization) जैसे वाक्यांशों को जन्म दिया है। "मैकडॉनलाइजेशन" की धारणा बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रभाव के माध्यम से दुनियाभर के समाजों में समरूपीकरण को संदर्भित करती है। मैकडॉनलाइज़ेशन को पूरे विश्व के अमेरिकीकरण के रूप में देखा जाता है। आवश्यक रूप से अमेरिकी संस्कृति के वैश्विक प्रभाव से अपने को असहज महसूस करते हुए आलोचक इस बात पर जोर देते हैं कि हॉलीवुड, मैकडॉनल्ड्स, केंटकी फ्राइड चिकन, कोका–कोला, नाइकी, लिवाइस, डिज़नीलैंड और हाल ही में, याहू, माइक्रोसॉफ्ट, गूगल और मोटोरोला क्षेत्रीय और स्थानीय विलक्षणताओं को तेजी से खत्म कर रहे हैं। वैश्विकतावाद–विरोधी कार्यकर्ता अक्सर मैकडॉनल्ड्स, डिज़नी और कोका–कोला निगमों को वैश्विकतावाद या सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के एजेंट के रूप में चित्रित करते हैं। विश्व शक्ति के इस दृष्टिकोण के अनुसार संस्कृति का नियंत्रण राजनीतिक और भौगोलिक सीमाओं के नियंत्रण से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यूरोपीय, लैटिन अमेरिकी और अरब, वामपंथी और दक्षिणपंथी को यह भय है कि स्थानीय संस्कृति और राष्ट्रीय पहचान अमेरिकी उपभोक्तावाद में घुल रही है। इन आलोचकों का कहना है कि वैश्वीकरण पूरी दुनिया पर अमेरिकी संस्कृति को थोपने से ज्यादा कुछ नहीं है।

'समाजशास्त्र के अमेरिकीकरण' का मतलब समाजशास्त्र को अमेरिकन दृष्टिकोण देना या यों कहें अमेरिकन समाजशास्त्र में विकसित अवधारणाओं और सिद्धांतों के चश्मे से पूरे विश्व के समाजशास्त्र को देखना और समझना है। संक्षेप में 'समाजशास्त्र के अमेरिकीकरण' का अर्थ समाजशास्त्र के वैश्विक पटल पर अमेरिकन समाजशास्त्र का वर्चस्व है।

समाजशास्त्र पर अमेरिका के वर्चस्व को समझने के लिए सोरोकिन के कार्यों पर ध्यान देने की जरूरत है। सोरोकिन ने अपनी रचना "Contemporary Sociological Theories" में मानव स्वाभाव से सम्बंधित कई सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है।

विस्कॉन्सिन और मिनेसोटा के विश्वविद्यालयों में अपने प्रवास के दौरान सोरोकिन की ग्रामीण समाजशात्र में दिलचस्पी बढ़ी। विस्कॉन्सिन चार्ल्स जे. गैल्पिन के नेतृत्व में ग्रामीण जीवन पर अध्ययन का एक केंद्र बन गया। मिनेसोटा में कारले सी. जिमरमैन

टिप्पणी

और अन्य के द्वारा ग्रामीण समुदाय पर अध्ययन को और आगे बढ़ाया गया। सोरोकिन की ग्रामीण समाजशास्त्र में रुचि समाजशास्त्री के रूप में अपने "अमेरिकीकरण" का एक प्रमुख कदम था। मात्रात्मक सन्दर्भ में सामाजिक आंकड़ों के मूल्यांकन में वे निपुण थे जो उनकी रचना 'सोशल मोबिलिटी' में साफ दिखता है। ग्रामीण अध्ययन पर उनके दो कार्यों में इनकी कुशलता शिखर पर पहुँच गई। कारले सी. ज़िमरमैन के साथ सोरोकिन की रचना Principles of Rural Urban Sociology (1929) ग्रामीण और शहरी क्षेत्र के अंतर, स्वभाव और उसके अन्य पहलुओं पर केन्द्रित है। सोरोकिन द्वारा लिखित 'The Systematic Source Book in Rural Sociology' (जिमरमैन और चार्ल्स जे. गैल्पिन के साथ, तीन वॉल्यूम, 1930–1931) ग्रामीण समाजशास्त्र पर एक मूल्यवान रचना है। इसमें लेखकों का मानना है कि ग्रामीण दुनिया को हम शून्यता में नहीं समझ सकते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

13. मैकडॉनलाइजेशन को पूरे विश्व के किस रूप में देखा जाता है?

    (क) भारतीयकरण (ख) रूसीकरण

    (ग) अमेरिकीकरण (घ) जापानीकरण

14. समाजशास्त्र के अमेरिकीकरण का अर्थ समाजशास्त्र के किस पटल पर अमेरिकन समाजशास्त्र का वर्चस्व है?

    (क) वैश्विक (ख) राष्ट्रीय

    (ग) आर्थिक (घ) सामाजिक

15. समाजशास्त्र पर अमेरिका के वर्चस्व को समझने के लिए किसके कार्यों पर ध्यान देने की जरूरत है?

    (क) डार्विन के (ख) रिजले के

    (ग) ट्रिक्ले के (घ) सोरोकिन के

2.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (क)
5. (घ)
6. (ख)
7. (ग)
8. (क)
9. (क)
10. (ख)
11. (क)
12. (घ)
13. (ग)
14. (क)
15. (घ)

2.8 सारांश

टिप्पणी

भारत में भाषा, धर्म, रीति–रिवाज, संगीत, कला और भोजन आदि में एक स्थान से दूसरे स्थान पर बड़ा अंतर देखा जा सकता है हालांकि इसकी विविधता को लेकर एक कहावत काफी प्रचलित हैं– 'कोस–कोस पर बदले पानी, तीन कोस पर बानी'। साधारण शब्दों में इसका अर्थ है कि यहाँ हर एक कोस (दूरी मापने की एक इकाई) पर पानी का स्वाद बदल जाता है और हर तीन कोस पर भाषा। भारत विविधताओं का देश है। इसके बावजूद देश अनेकता में एकता का परिचायक है। भारत हिंदू, बौद्ध, जैन और सिख धर्म की जन्म स्थली रहा है। भारत में कई बाहरी लोगों ने आक्रमण किये और इसे अपना घर बनाया जैसे अफगानी, तुर्क, पर्सियन और अंग्रेज। इन लोगों ने अपने नए घर की संस्कृति में अहम् योगदान दिया। इसके परिणाम स्वरूप भारत की संस्कृति में कई तरह के रंग घुले। अठारहवीं शताब्दी के पहले चरण में भारत एक समृद्ध राष्ट्र था और व्यापार उद्योग अपने चरम पर था। भारत से बहुत सारी चीजें एशिया और यूरोप के कई देशों में निर्यात होती थीं। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी के अंत में जब अंग्रेजों ने भारत को अपना उपनिवेश बनाना शुरू किया तब उन लोगों ने भारत में निर्मित वस्तुओं के भारत से निर्यात पर रोक लगाना शुरू कर दिया था। यह पहला मौका था जब भारतीय बाजार को इंग्लैंड के बाजार के फायदे के लिए समझौता करना पड़ा। भारत में निर्मित वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध और कच्चे माल के निर्यात से भारत का व्यापार बहुत बुरी तरह से प्रभावित हुआ। इसके चलते भारतीय व्यापारी अपनी पूंजी को नहीं बचा सके। वास्तव में यह भारत में 'deindustrialization' का दौर था। औपनिवेशिक काल के पहले लोगों में अपनी जीविका के लिए व्यापार को लेकर बड़ा उत्साह था लेकिन औपनिवेशिक शासन के शुरू होते ही उनका यह उत्साह ठंडा पड़ गया। इसके बाद लोगों का झुकाव कृषि की तरफ गया लेकिन साधारण लोगों के लिए यह बहुत उत्साहवर्धक नहीं था। कृषि पर बहुत ज्यादा कर थोप दिया गया। यह औपनिवेशिक काल के पहले की तुलना में बहुत ज्यादा था। कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों का मत है कि ब्रिटिश शासन ने भारतीय प्रशासन में शांति और स्थायित्व का संचार किया और देश के विभिन्न क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था में एक प्रकार की एकता की समझ पैदा की। इस प्रकार के दावे भारतीय इतिहासकारों के द्वारा पूर्णतः खारिज कर दिए गए। लेकिन हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते हैं कि उस समय भारत में प्रशासनिक व्यवस्था काफी कमजोर थी। यह भी सही है कि उस समय देश के लोगों के बीच एकता की कमी थी जिससे अंग्रेजों को भारत पर कब्जा जमाने में मदद मिली। ब्रिटिश शासन के पूर्व या मुगल काल में कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी थी जिसका देश में आय और रोजगार पैदा करने में बड़ा योगदान था। उस समय जो कृषि उत्पाद थे उनमें मक्का, तिलहन, नील, अनाज, गन्ना, कपास, पान, भांग और अन्य नकदी फसलें थीं।

ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा भारतीय समाज की व्याख्या ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित उपयोगितावादी तर्क द्वारा प्रेरित थी। उनका उद्देश्य भारतीय संसाधनों का दोहन करने के लिए भारतीय समाज को समझना था। प्रशासकों ने ऐसी श्रेणियां विकसित करने की मांग की, जो भारत के मूल निवासियों के जीवन से संबंधित उनके विचारों और कार्यों को क्रमबद्ध करने में उनकी मदद करें। उदाहरण के लिए, बी.एच.

टिप्पणी

बैडेन पॉवेल द्वारा तैयार ब्रिटिश भारत की भूमि प्रणाली (The land system of British India) के तीन खंड (1892) केवल आंकड़ों का संकलन नहीं था बल्कि भारतीय गांव की प्रकृति और इसके संसाधनों के संबंध में तर्कों की एक श्रृंखला थी जो इन संसाधनों पर राज्य और उसकी जरूरतों से भी संबंधित थी। बैडेन पॉवेल ने माना है कि जमीन या भूमि जो उत्पादन से जुड़ी है, आमतौर पर उसके दो दावेदार होते हैं– राज्य और भू स्वामी। उन्होंने कहा कि सरकार ने "प्रत्येक होल्डिंग के थ्रेसिंग फ्लोर पर वास्तविक अनाज के ढेर का एक हिस्सा लेकर अपना राजस्व प्राप्त किया। इस हिस्से के संग्रह को सुनिश्चित करने के लिए राज्य और अनाज के ढेर के बीच मध्यस्थों की एक विस्तृत श्रृंखला विकसित हुई। वे अपनी बारी में जमीन या इसके उत्पादन पर नियंत्रण या स्वामित्व/कब्जे की अलग–अलग स्थिति का दावा करते हैं। इसके अतिरिक्त भूमि पर अधिकार पारंपरिक व्यवस्था द्वारा स्थापित किये गए थे। भारत के विभिन्न हिस्सों में प्रशासकों ने ब्रिटिश विद्वानों को नियुक्त किया। उदाहरण के लिए पूर्वी भारत में रिजले और डाल्टन आदि और उत्तरी भारत में क्रुक्स ने भारत की जनजातियों और जातियों के बारे में विश्वकोष लिखा। इस अध्ययनों का उद्देश्य औपनिवेशिक शासन को प्रभावी बनाना था तथा जातियों और जनजातियों के बारे वर्गीकृत विवरणों से सरकारी अधिकारियों को परिचित कराना था।

भारत में समाजशास्त्र का उदय पाश्चात्य लोगों द्वारा खासकर ब्रिटिश हुकूमत के बाद भारतीय समाज और संस्कृति की पश्चिमी व्याख्या की प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्धिक दृष्टिकोण के तौर पर हुआ था। मानवशास्त्र की उत्पत्ति विगत तीन–चार शताब्दियों के दौरान यूरोपियन द्वारा विश्व भर में उसके साम्राज्य विस्तार का परिणाम था। यूरोपियन शासक द्वारा विश्व भर में अलग–अलग संस्कृति, प्रजातियों और नस्लों पर शासन करने के लिए इन संस्कृतियों और नस्लों के अध्ययन की जरूरत को महसूस किया गया। जैसे–जैसे यूरोपियन की जानकारी गैर–यूरोपियन देशों के बारे बढ़ती गई और बहुत सारे सामाजिक सिद्धांतों का निर्माण इस जानकारी को बढ़ाने के लिए किया गया, डार्विन के विकास के सिद्धांत के प्रभाव में कई विचारों ने जन्म लिया।

भारत में समाजशास्त्र की उत्पति उस समय से मानी जाती है जब ब्रिटिश अधिकारियों ने यह पाया कि भारत के सामाजिक जीवन और इसकी संस्कृति की जानकारी सरकार के आसान काम काज के लिए बेहद जरूरी है। 1769 में हेनरी वेरेलस्ट जो उस समय बिहार और बंगाल के गवर्नर थे, ने महसूस किया कि भारत के प्रमुख परिवारों और उनसे जुड़े रीति–रिवाज, परंपरा, संस्कृति से जुड़ी जानकारी बहुत जरूरी है इसके लिए उन्होंने अपने मातहत काम करने वाले राजस्व सुपरवाइजर को इसके जुड़े आंकड़े इकट्ठा करने का आधिकारिक आदेश दिया। उसी समय से ब्रिटिश अधिकारी और मिशनरी ने भारत का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्कृति से जुड़े आंकड़े इकट्ठा करने और संग्रह करने का प्रयास तेज कर दिया। उदाहरण के तौर पर फ्रांसिस बुचनैन ने एक मानवजाति विज्ञान सम्बन्धी सर्वेक्षण किया।

नवउपनिवेशवाद का मतलब विकाशसील देशों के बौद्धिक जीवन, उनकी शिक्षा प्रणाली और नीति पर विकसित देशों के प्रभाव से है। आधुनिक समय में नवउपनिवेशवाद के अंतर्गत किसी भी विकसित देश का किसी विकासशील देश पर प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण नहीं होता है, जैसा कि उपनिवेशवाद के दौर में विकसित देशों का विकासशील

टिप्पणी

देशों पर होता था। उदाहरण के लिए जब भारत पर अंग्रेजी हुकूमत थी तो उस समय अंग्रेजों का भारत पर सीधे तौर पर राजनीतिक नियंत्रण था। उन्होंने भारत को एक उपनिवेश के रूप में विकसित किया था ताकि उसके संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण हो सके और वे संसाधनों का शोषण कर सकें। लेकिन नवउपनिवेशवाद में अंग्रेजों का भारत पर सीधे तौर पर राजनीतिक नियंत्रण नहीं है लेकिन उस देश का प्रभाव खासतौर पर शिक्षा और नीति निर्धारण के क्षेत्र में अभी भी महसूस किया जा सकता है, विशेष रूप से अंग्रेजी भाषा और उसके प्रभाव के रूप में। क्रासले व ट्रिक्ले (2004) के अनुसार, ज्यादातर शिक्षा प्रणाली जो विद्वानों के द्वारा जांची–परखी गई है, उसकी उत्पत्ति औपनिवेशिक काल में हुई है।

सैटेलाइट के विकास के साथ और हाल ही में इंटरनेट के आविष्कार के चलते संस्कृति के प्रवाह के लिए दूरी एक सीमित कारक के रूप में नहीं लगती है। आचरण, उपभोग मानकों और सांस्कृतिक चलन के बारे में समान वैश्विक मानदंड हर जगह फैल रहे हैं। इस वैश्वीकृत पैकेज को कई बुद्धिजीवियों ने चुनौती दी है जो इस बात से घृणा करते हैं कि विश्वभर में सांस्कृतिक एकरूपता का रुझान है। वे वैश्विक संस्कृति और अमेरिकी संस्कृति को एक समान मानते हैं। वास्तव में, वैश्वीकरण की अंधेरी छाया में, संस्कृति का सबसे व्यापक रूप से समरूपता है जो सांस्कृतिक लक्षणों और प्रथाओं का एक सामान अभिसरण है।

'समाजशास्त्र के अमेरिकीकरण' का मतलब समाजशास्त्र को अमेरिकन दृष्टिकोण देना या यों कहें अमेरिकन समाजशास्त्र में विकसित अवधारणाओं और सिद्धांतों के चश्मे से पूरे विश्व के समाजशास्त्र को देखना और समझना है। संक्षेप में 'समाजशास्त्र के अमेरिकीकरण' का अर्थ समाजशास्त्र के वैश्विक पटल पर अमेरिकन समाजशास्त्र का वर्चस्व है।

2.9 मुख्य शब्दावली

- **बानी** : भाषा, बोली।
- **समृद्ध** : संपन्न।
- **प्रतिबंध** : पाबंदी, रोक।
- **तिलहन** : तेल से संबंधित अनाज।
- **इलाका** : क्षेत्र।
- **अवगत** : परिचित होना, जानना।
- **हासिल करना** : प्राप्त करना।
- **अवमानना** : अपमान।
- **दिलचस्पी** : रुचि।
- **वास्तविकता** : असलियत, हकीकत।
- **समाधान** : हल।
- **उत्कृष्ट** : श्रेष्ठ, उत्तम।

- **लुप्त** : गायब।
- **निरंतर** : लगातार, सदैव।
- **अनुसंधान** : खोज।
- **अनुकूल** : उपयुक्त।
- **गढ़ा** : रचा।
- **रचना** : कृति।
- **क्षमता** : कूवत।
- **आचरण** : व्यवहार।

टिप्पणी

2.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय समाज पर प्राच्यविद के प्रभाव से आप क्या समझते हैं?
2. रिजले ने जनगणना के आंकड़ों की मदद से 2000 विषम जातियों को किन सात प्रकारों में विभाजित किया था?
3. समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र विषयों में शिक्षण तथा अनुसंधान किस काल की देन है?
4. अधिकांश विकासशील देशों की शिक्षा प्रणाली पर किसका प्रभाव होता है?
5. वैश्विक संस्कृति किसका अनुसरण करती है और इसने कैसे वाक्यांशों को जन्म दिया है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय समाज के खंडित व स्थैतिक प्रतिनिधित्व की औपनिवेशिक नृवंश विज्ञान के संदर्भ में व्याख्या कीजिए।
2. औपनिवेशिक नीति के साधनों जनगणना, जिला गजेटियर विवरणिका की विवेचना कीजिए।
3. भारत में उत्तर स्वतंत्रता काल में समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र की उन्नति में औपनिवेशिक विरासत की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
4. शैक्षणिक नवउपनिवेशवाद पर प्रकाश डालिए।
5. समाजशास्त्र के अमेरिकीकरण की विधिवत विवेचना कीजिए।

2.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

गुप्ता, एम. एल. तथा शर्मा, डी. डी., *समाजशास्त्र,* साहित्य भवन पब्लिकेशंस, आगरा, 1997

सिंह, जे. पी., *समाजशास्त्र : अवधारणाएं एवं सिद्धांत,* प्रेंटिस हाल ऑफ इंडिया प्रा. लि. , नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2006

टिप्पणी

मुकर्जी, रवीन्द्र नाथ, *भारतीय समाज व संस्कृति*, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, नवीनतम संस्करण, 2010

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, *समाजशास्त्रीय चिंतन के आधार*, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2005

एस. सी. दूबे, *इंडियन सोसायटी*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2010

डी. पी. मुखर्जी, *आधुनिक भारतीय संस्कृति*, हिंद किताब, मुंबई (1942 और 1948)

डॉ. जी. के. अग्रवाल, *समाजशास्त्र के सिद्धांत*, साहित्य भवन, आगरा, 2000

राम आहूजा, *भारतीय समाज*, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पुनर्मुद्रित, 2010

इकाई 3 सैद्धांतिक दृष्टिकोण

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय

3.1 उद्देश्य

3.2 वैचारिक/शाब्दिक दृष्टिकोण (जी.एस. घुर्ये, लुई ड्यूमा)

- 3.2.1 जी. एस. घुर्ये (1893–1984)
- 3.2.2 लुई ड्यूमा (1911–1998)

3.3 मूल पाठ और अध्ययन के क्षेत्र में विचारों का संश्लेषण (इरावती कर्वे, ए.एम. शाह)

- 3.3.1 इरावती कर्वे (1905–1970)
- 3.3.2 ए.एम. शाह

3.4 सभ्यात्मक दृष्टिकोण (एन.के. बोस, सुरजीत सिन्हा)

- 3.4.1 निर्मल कुमार बोस
- 3.4.2 सुरजीत सिन्हा

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

3.6 सारांश

3.7 मुख्य शब्दावली

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

अध्ययन से पता चलता है कि जाति व्यवस्था के बारे में पारंपरिक मूल्य मूल रूप से प्रतिष्ठा प्रणाली को परिभाषित करते रहे। औपचारिक शिक्षा का व्यवहार, सैद्धांतिक दृष्टिकोण और विचार पर कुछ प्रभाव पड़ता है। कृषि कार्यों के संबंध में सहायता आम तौर पर अपनी जाति के लोगों से प्राप्त की जाती है। जाति के बाहर मदद के कुछ अवसर थे। इसके अलावा, बीमारी के दौरान मदद और व्यक्तिगत उपस्थिति को शामिल करने के लिए ज्यादातर परिजनों और कभी–कभी जाति तक सीमित किया गया था, लेकिन दवाओं को जाति के सदस्यों को छोड़कर अन्य लोगों द्वारा स्वतंत्र रूप से दिया जाता था। अंतिम संस्कार के समय सहायता देना और प्राप्त करना पारंपरिक नियम से होते थे।

अनुसूचित जाति (SC) को ग्रामीण अर्थव्यवस्था में जगह नहीं मिली और उनका उत्थान करना बहुत कठिन था। इस प्रकार, स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति का अधिकांश मेल–जोल परिजनों के समूह तक ही सीमित था। और अंतर–समूह मेल–जोल सामाजिक क्रम द्वारा शासित था। दृष्टिकोण और विचार पर्याप्त सबूत प्रदान करते हैं कि सामाजिक दूरी के संदर्भ में व्यवहार पैटर्न जाति व्यवस्था द्वारा शासित थे।

प्रस्तुत इकाई में सैद्धांतिक दृष्टिकोण से संबंधित घुर्ये, ड्यूमा, कर्वे, शाह, बोस तथा सिन्हा के विचारों का अध्ययन किया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- विभिन्न सैद्धांतिक दृष्टिकोणों को समझ पाएंगे;

टिप्पणी

- जी.एस. घुर्ये तथा लुई ड्यूमा के वैचारिक व शाब्दिक दृष्टिकोणों को जान पाएंगे;
- अध्ययन के क्षेत्र में इरावती कर्वे तथा ए.एम. शाह के विचारों के संश्लेषण के बारे में जानकारी ग्रहण कर पाएंगे;
- सभ्यात्मक दृष्टिकोण के संदर्भ में निर्मल कुमार बोस तथा सुरजीत सिन्हा के विचारों से अवगत हो पाएंगे।

3.2 वैचारिक/शाब्दिक दृष्टिकोण (जी.एस. घुर्ये, लुई ड्यूमा)

जी.एस. घुर्ये एवं लुई ड्यूमा ने अपने सैद्धांतिक दृष्टिकोणों को विस्तार से प्रस्तुत किया है।

3.2.1 जी. एस. घुर्ये (1893–1984)

गोविंद सदाशिव घुर्ये का जन्म 12 दिसम्बर,1893 को महाराष्ट्र में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था और वर्ष 1984 में 91 साल की उम्र में बंबई में उनका निधन हो गया।

उन्हें भारतीय समाजशास्त्र में उनके योगदान के लिए 'भारतीय समाजशास्त्र के पिता' के रूप में जाना जाता है। वे भारतीय समाजशास्त्रियों की पहली पीढ़ी का निर्माण करने वाले पहले व्यक्ति थे। घुर्ये ने 1952 में इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी और इसके प्रमुख जर्नल सोशियोलॉजिकल बुलेटिन की स्थापना में अग्रणी भूमिका निभाई। उनकी रुचि की सीमा बहुत व्यापक थी। उन्हें विश्व सभ्यता और विशेष रूप से हिंदू सभ्यता में बहुत रुचि थी। उनका ध्यान भारत–आर्य सभ्यता और भारत में इसके विकास पर था।

घुर्ये ने भारत–आर्य सभ्यता के विभिन्न महत्वपूर्ण पहलुओं जैसे जाति का विकास, परिवार संरचना और इसके भारत–यूरोपीय परिवार संरचना के साथ संबंध, धार्मिक चेतना के विकास पर ध्यान देने की कोशिश की। वे न केवल पिछले विकास के साथ बल्कि अपने समय की समकालीन समस्याओं से भी मतलब रखते थे।

'द बर्निंग कॉलड्रन ऑफ द नॉर्थ ईस्ट इंडिया' समकालीन मुद्दों में उनकी रुचि का एक सबसे अच्छा उदाहरण है। उनके अनुसार, समाजशास्त्री का कर्तव्य भूतकाल के सामाजिक इतिहास का पता लगाना है।

कार्य

कुछ बड़े अध्ययन जो कि घुर्ये कि रचनाओं में है, निम्न हैं–

1. जाति
2. जनजाति
3. नातेदारी
4. संस्कृति और सभ्यता
5. धर्म
6. संघर्ष और एकता का समाजशास्त्र
7. परिवार और विवाह

रचनाएं

1. कास्ट एंड रेस इन इंडिया (1932)
2. इंडियन साधुज (1953)
3. भरतनाट्यम एंड इट्स कॉस्ट्यूम (1958)
4. फैमिली एंड किनशिप इन इंडो यूरोपियन कल्चर (1955)
5. सोशल टेंशन इन इंडिया(1968)
6. शैड्यूल्ड ट्राइब्स (1963)

टिप्पणी

घुर्ये का पद्धतिगत दृष्टिकोण

जी. एस. घुर्ये के अनुसार, समाजशास्त्रियों का कार्य सामाजिक इतिहास का पता लगाना है। उन्होंने इतिहास और समाजशास्त्र के बीच एक महत्वपूर्ण समानता देखी। घुर्ये ने वेस्टर्मार्क की रचना 'हिस्टरी ऑफ मैरेज' के पढ़ने के क्रम में ही समाजशास्त्र को समझा।

वे रिवरस, हैडन और अन्य लोगों से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने महसूस किया कि भारत के पास अपने प्रारंभिक सामाजिक संस्थानों और उनके विकास के बारे में दुनिया को बताने के लिए कई तथ्य हैं। घुर्ये के लिए इंडोलोजी दृष्टिकोण भारत के समाजशास्त्र को समझने के लिए जरूरी था।

हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते हैं कि जब समाजशास्त्री भारत के सामाजिक संस्थानों की उत्पत्ति और विकास के विश्लेषण में लगे हुए थे तो घुर्ये अपने इंडोलोजिकल दृष्टिकोण को मजबूती प्रदान कर रहे थे। यहाँ यह उल्लेख करना जरूरी होगा कि संस्कृत साहित्य के बारे में अपने ज्ञान के कारण प्राचीन ग्रंथों का विश्लेषण करना उनके लिए संभव हो पाया।

उनका यह भी मत था कि जो भी भारत में समाजशास्त्र के लिए रुचि रखता है, उसे संस्कृत साहित्य का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए, जिससे संस्कृत में लिखे गए प्राचीन भारतीय ग्रंथों की व्याख्याओं में मदद मिल सके।

कैम्ब्रिज में डब्लूएचआर रिवर्स के तहत प्रशिक्षण प्राप्त करने और संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की उनकी स्वीकृति के बाद भी, घुर्ये ने भारतीय समाज की संस्थाओं की व्याख्या करते समय प्रकार्यवाद परंपरा का कड़ाई से पालन नहीं किया। उन्होंने फील्डवर्क पर जोर दिया, भले ही वे आर्मचेयर समाजशास्त्री (श्रीनिवास और पाणिनि, 1973) थे।

घुर्ये ने फील्डवर्क परंपरा को अपने अध्ययन से अलग नहीं किया। यह इस बात से साबित होता है कि उनके मोनोग्राफ– 'महादेव कोलिस' और दूसरी महत्वपूर्ण रचना 'सेक्स हैबिट्स ऑफ मिडिल क्लास पीपुल इन बॉम्बे' दोनों फील्डवर्क पर आधारित हैं।

घुर्ये 'सैद्धांतिक बहुलतावाद को माननेवालों में से थे और वह आगमन अनुभवजन्य अभ्यास (Inductive Empiricism exercise)में रुचि रखते थे।

उन्होंने मुख्य रूप से इंडोलोजिकल दृष्टिकोण (इंडोलोजिकल मेथड) का उपयोग करके भारतीय सामाजिक वास्तविकता को चित्रित करने की कोशिश की। उन्होंने ऐतिहासिक और तुलनात्मक तरीकों का भी इस्तेमाल किया है।

टिप्पणी

भारत में जाति

घुर्ये की जाति के बारे में समझ तुलनात्मक, ऐतिहासिक और इंडोलोजिकल दृष्टिकोण पर आधारित है। अपने समकालीनों के विपरीत वे जाति को महिमामंडित या इसकी निंदा नहीं करते हैं, बल्कि जाति को भारतीय संस्कृति के एक उत्पाद के रूप में मानते हैं, जिसमें समय बीतने के साथ बदलाव हो रहा है इसलिए यह समाजशास्त्र की रुचि का विषय है। घुर्ये ने जाति का अध्ययन पहले diffusionist और इतिहासकार के रूप किया बाद में एक इंडोलोजिस्ट के रूप में। वे अपनी किताब– 'कास्ट एंड रेस इन इंडिया' में सर हर्बर्ट रिसले की इस बात से सहमत हैं कि जाति प्रजाति का उत्पाद है जो की भारत में आर्यों के साथ आई।

घुर्ये इस बात को दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं कि जाति व्यवस्था को ज्यादातर ब्राह्मणी वर्चस्व के संदर्भ में देखा जाता है।

जाति भारतीय इतिहास में विभिन्न तरीकों से विलयन और विखंडन की प्रक्रिया से गुजरी है। वैदिक काल में जाति प्रजाति (Race) की उपज थी।

आर्यों ने गैर आर्यों से सिर्फ रंग के मामले में खुद को अलग किया, लेकिन बाद में विभिन्न नृजातीय समूहों ने एक–दूसरे के साथ गठबंधन/संबंध विकसित किया। और हिंदू संस्कृति और इसके मूल्य आर्य समुदाय से गैर–आर्य समुदायों में स्थानांतरित हो गए। आर्य समाज ने स्वयं विभिन्न प्रकार के व्यवसायों को अपनाया जो विभिन्न व्यक्तियों और परिवारों को आवंटित किए गए थे। उनके काम (व्यवसाय) के आधार पर विभिन्न समूहों को जाति के नाम आवंटित किए गए थे। इसलिए आर्य समाज में वास्तुकार, किसान, योद्धा और कारीगर आदि थे और उनका समाज अत्यधिक अनुशासित, संगठित और प्रगतिशील था।

घुर्ये बताते हैं कि यह एक तथ्य का विषय हो सकता है कि आर्यों के आगमन के साथ भारत में जाति का विकास हुआ, क्योंकि उनका नस्लीय चरित्र भारतीयों से अलग था।

लेकिन उसी समय आर्यों के आने से पहले भारत में विभिन्न नस्लीय श्रेणियां मौजूद थीं। भारत एक नस्लीय समूह की भूमि नहीं था। आर्यों के आगमन ने पहले से मौजूद नस्लीय श्रेणियों में एक और नस्ल की बढ़ोतरी की।

जाति एक पदानुक्रमित शोषक प्रणाली नहीं थी। आर्य लोग जाति व्यवस्था के साथ चलते थे जिसने उनके जीवन में अनुशासन को बढ़ावा दिया और उन्हें विशेष व्यवसाय पर विशेषज्ञता प्रदान की। इसमें व्यवसाय परिवर्तन संभव था। इसलिए आर्य अत्यधिक विशिष्ट और स्वदेशी हो गए। लोग प्रगति के लिए आर्यों की ओर देखते थे। इसलिए उन्होंने इन तत्वों को अपने जीवन में उतारना शुरू कर दिया। शासकों को ब्राह्मणों द्वारा आर्यों के गुण सिखाए गए, जिन्होंने आर्य संस्कृति का महिमामंडन किया।

घुर्ये बताते हैं कि जाति को आर्य समाज के श्रम विभाजन के संगठित रूप का केंद्रीय आधार माना जाता था। जब आर्यों और स्वदेशी समुदायों ने संचार और युद्ध के माध्यम से पारस्परिक संबंध विकसित किए, तो आर्य समाज के अनुशासित स्वभाव को स्वदेशी शासकों द्वारा सराहना मिली, जिन्होंने जाति के तत्वों को अपने सामाजिक जीवन में शामिल किया। इसके अलावा, पुजारियों, मठों और यात्रियों ने आर्य जाति

व्यवस्था के गुणों का महिमामंडन किया। इसलिए जाति का तत्व उत्तरी भारत से देश के अन्य हिस्सों में फैल गया।

टिप्पणी

जाति की विशेषताएं

घुर्ये ने सांस्कृतिक और संरचनात्मक दृष्टिकोण से जाति व्यवस्था को परखा। हिंदू समाज जाति के आदर्श पैटर्न से संचालित होता है। उन्होंने जाति व्यवस्था की निम्नलिखित छह संरचनात्मक विशेषताओं की ओर इशारा किया है–

1. जाति समाज के खंडीय विभाजन पर आधारित है। घुर्ये जाति को एक बंद समूह या खंड के रूप में देखते हैं जिसकी अपनी एक जीवन शैली होती है तथा जिसकी सदस्यता का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति जाति पदानुक्रम में व्याप्त क्रम से निर्धारित होती है।
2. जातिगत समाज सोपानिक विभाजन पर आधारित होता है। सोपानिक विभाजन एक योजना है, जो किसी एक जाति को किसी अन्य जाति से उच्च या श्रेष्ठ और निम्न या नीचे होने की व्यवस्था करती है। हालांकि, यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि जाति समूहों की सापेक्ष रैंकिंग एक स्थान से दूसरे स्थान पर भिन्न होती है। लेकिन पूरे भारत में यह देखा गया है कि ब्राह्मण सर्वोच्च स्थान पर हैं और अछूत सबसे निचले स्थान पर हैं।
3. संस्था के रूप में जाति कई प्रकार की सामाजिक अंतःक्रिया पर प्रतिबंध लगाती है खासकर साथ बैठकर भोजन करने पर। किस प्रकार के भोजन को विभिन्न जातियों के बीच किस तरह से वितरित किया जाए, इसके अपने नियम हैं जो पवित्रता और अपवित्रता के विचार से संचालित होते हैं।
4. सोपानिक और प्रतिबंधित सामाजिक अंतःक्रिया के सिद्धांतों को मानते हुए जाति व्यवस्था में विभिन्न जातियों के लिए भिन्न–भिन्न अधिकार तथा कर्तव्य निर्धारित हैं। उनके अधिकार एवं कर्तव्य केवल धार्मिक कार्यों तक सीमित नहीं हैं बल्कि जीवनशैली को भी प्रभावित करते हैं।
5. जाति व्यवसाय के चुनाव को भी सीमित कर देती है। इस जातिगत समाज में जातिगत श्रम विभाजन में कठोरता देखी जाती है। व्यवसाय भी जन्म पर आधारित और वंशानुगत होता है। कुछ खास तरह के व्यवसाय कुछ विशिष्ट जाति को ही मान्य हैं।
6. विवाह के नियम भी जातियों द्वारा निर्धारित होते हैं। जाति में अंतःविवाह (इंडोगेमी) के साथ ही बहिर्विवाह (किससे शादी नहीं हो सकती) के नियम भी हैं।

भारत में ग्रामीण शहरीकरण

घुर्ये का मानना है कि भारत में शहरीकरण औधोगिक विकास का परिणाम नहीं है। भारत में बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक शहरीकरण की प्रक्रिया ग्रामीण क्षेत्रों से ही शुरू हुई थी। उन्होंने इसको सही ठहराने के लिए कुछ संस्कृत ग्रंथों और दस्तावेजों के उदाहरण देकर समझाया कि सुदूर गावों में बाजार की आवश्यकता के कारण शहरी क्षेत्रों का विकास हुआ। कृषि व्यवस्था में प्रगति एवं विस्तार के कारण अनाज और अन्य फसलों की पैदावार स्थानीय खपत से ज्यादा होने लगी। इसके विनिमय के लिए और

टिप्पणी

अधिक मंडियों और बाजारों की जरूरत महसूस होने लगी। कई ग्रामीण इलाकों में किसी बड़े गाँव के एक हिस्से को मंडी या बाजार में तब्दील कर दिया गया। इसके परिणाम स्वरूप ऐसे क्षेत्रों में कस्बों के निर्माण के साथ ही साथ प्रसाशनिक, न्यायिक और अन्य संस्थाएं भी अस्तित्व में आईं। इस बात का उल्लेख जरूरी है कि शहरी क्षेत्रों के निर्माण में भी सामंतवादी संरक्षण का हाथ रहता था। अगर हम अतीत के कुछ उदाहरण लें तो वाराणसी, जयपुर, कांचीपुरा, मुरादाबाद आदि शहरों का विकास रेशमी कपड़ों, हथियारों, आभूषणों, धातु की शिल्पकृतियों की मांग के कारण हुआ।

संक्षेप में, घुर्ये के अनुसार, ग्रामीण–शहरीकरण का कारण गाँव की स्थानीय आवश्यकता ही थी। ब्रिटिश उपनिवेश काल में महानगरीय केन्द्रों के विकास से भारतीय शहरी जीवन में बदलाव आया। अब ये छोटे–छोटे शहर कृषि उत्पादन और हस्तशिल्प की वस्तुओं की खपत के क्षेत्र ही नहीं रहे बल्कि वे प्रमुख निर्माण केंद्र बन गए जिन्होंने भीतरी ग्रामीण हिस्से को कच्चा माल पैदा करने का केंद्र बना दिया। इसके साथ–साथ ये ग्रामीण क्षेत्र औधोगिक उत्पादनों की खपत के केंद्र भी बन गए। इस प्रकार महानगर केंद्र ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर हावी हो गए। पिछली व्यवस्था के विपरीत अब शहरीकरण का फैलाव भीतरी ग्रामीण क्षेत्रों में होने लगा। घुर्ये ने 1957 में, महाराष्ट्र के पुणे के लोनीकांड गाँव का अध्ययन किया था।

भारतीय परंपरा में साधु की भूमिका

घुर्ये ने अपनी किताब– इंडियन साधुज में संन्यास की दोहरी प्रकृति का विश्लेषण किया है। भारतीय संस्कृति के अनुसार ऐसा माना जाता है कि साधुओं और संन्यासियों को सभी जाति प्रतिमानों, सामाजिक परंपराओं आदि से मुक्त होना चाहिए। वस्तुतः वह समाज के दायरे से बाहर होता है। शैवमतावलंबियों में आम रिवाज है कि जब उनके समूह का कोई व्यक्ति संन्यास या आत्मत्याग के मार्ग को अपनाता है तो वे उसका 'नकली दाहसंस्कार' कर देते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि वह समाज के लिए तो 'मृत' समान है लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से उसका 'पुनर्जन्म' होता है।

यह दिलचस्प बात है कि आठवीं शताब्दी के सुधारक शंकराचार्य के समय से प्रायः हिन्दू समाज का मार्गदर्शन साधुओं ने किया। इनमें से अधिकांश मठ–व्यवस्था से जुड़े थे जिनकी अपनी विशिष्ट परंपरा होती थी। भारत में मठ–व्यवस्था बौद्ध धर्म और जैन धर्म की देन है। बाद में शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म के मठ स्थापित किए।

भारतीय साधुओं का काम धार्मिक विवादों में मध्यस्था के साथ–साथ बाहरी हमलों से धर्म की रक्षा करना था। वे धर्मग्रंथों के पठन–पाठन के संरक्षक थे। इस प्रकार हिन्दू समाज में संन्यास एक रचनात्मक शक्ति के रूप में था।

भारत में जनजाति

घुर्ये ने अपनी रचना शैड्यूल्ड ट्राइब्स में भारत की जनजातियों के ऐतिहासिक, प्रशासनिक और सामाजिक आयामों का वर्णन किया है। इनके अनुसार भारतीय जनजातियों की स्थिति पिछड़े वर्ग के हिंदुओं जैसी थी। उनके पिछड़ेपन का कारण था, उनका हिन्दू समाज में पूरी तरह से एकीकृत न होना। दक्षिण–मध्य भारत में रहने वाली संथाल, भील और गोंड आदि जनजातियों के कुछ समूह पूरी तरह से एकीकृत हो गए हैं, लेकिन इनकी बड़ी आबादी कभी भी पूर्ण रूप से एकीकृत नहीं हुई।

3.2.2 लुई ड्यूमा (1911–1998)

टिप्पणी

फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई ड्यूमा को भारतशास्त्री (इंडोलॉजिस्ट) माना जाता है। ड्यूमा ने अपने अध्ययन में मानवशास्त्रीय विवरण का उपयोग किया और समग्र दृष्टिकोण लागू किया। उन्होंने संस्कृत भी सीखी। 1950 में भारत में अध्ययन के लिए इकाई के रूप में गाँव की उपयोगिता को स्वीकारने की प्रवृति थी। यह माना जाता था कि भारतीय समाज के अध्ययन के लिए गाँव ही श्रेष्ठ इकाई है। 1974 तक यही मान्यता रही। ग्राम के सामाजिक संगठन को कम आंकने के लिए ड्यूमा की आलोचना भी हुई और उनके विचारों को कम महत्व दिया जाने लगा। ऐसा कहा जाने लगा कि सामाजिक संगठन का मूल भारतीय ग्राम ही हैं।

1955 में उन्होंने ने कहा कि जाति की हर जगह उपस्थिति ने भारत की सांस्कृतिक एकता और विशिष्टता को एक विशिष्ट दर्जा दिया है। ड्यूमा ने 1966 में फ्रेंच और 1970 में अँग्रेजी ने लिखित 'होमो हायरकस', जो एक विशद अध्ययन और शोध का प्रतीक था, में अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया। लुई ड्यूमा ने कहा कि भारत के समाजशास्त्र में समाजशास्त्र और भारतशास्त्र (Indology) का समन्वय होना चाहिए।

पद्धतिशास्त्र

भारत में जाति व्यवस्था के अध्ययन के रूप में, ड्यूमा का होमो हायरकस (Homo Hierarchius) सामाजिक संरचना के कई नए परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। विचारधारा और परंपराओं की धारणा ड्यूमा के प्रतिमान में निहित हैं। उन्होंने जाति व्यवस्था को समझने के लिए संरचनात्मक विश्लेषण का तरीका अपनाया।

उनकी पद्धति की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं–

1. विचारधारा और संरचना
2. द्वंद्वात्मक परिवर्तनकारी संबंध और तुलना
3. भारतशास्त्र और उसके संरचनात्मक संबंध
4. संज्ञानात्मक ऐतिहासिक उपागम

ड्यूमा इंडोलॉजी में जातियों की विचारधारा को भारतीय सभ्यता की एकता के संदर्भ में देखते हैं। विचारधारा को परिभाषित करते हुए, लिखते हैं– "यह विचारों और मूल्यों के समन्वय का प्रतिनिधित्व है।" भारतीय सभ्यता, उनके लिए एक विशिष्ट विचारधारा है और यह विचारधारा पाश्चात्य आधुनिक तत्वों से एकदम भिन्न है। पाश्चात्य आधुनिक विचारधारा में भारतीय सभ्यता के तत्व व्यक्तिवाद, असांनता वाला संस्तरण, शुद्धता बनाम अशुद्धता, प्रस्थिति के साथ शक्ति नहीं हैं। यही द्वंद्वात्माक जाति व्यवस्था के विरुद्ध वैश्विक विचारधारा के संदर्भ में समझना जरूरी है। शुद्धता और अशुद्धता के सिद्धांत में यह द्वंद्वात्मकता साफ नजर आती है।

विचारधारा और संरचना के अलावा, पदानुक्रम या स्तरण की धारणा का ड्यूमा के जाति व्यवस्था के अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान है। पदानुक्रम या स्तरण का तात्पर्य शुद्ध और अशुद्ध के बीच विरोध है, जो इसकी द्वंद्वात्मकता को भी निर्धारित करता है। पदानुक्रम भी अशुद्धियों को शामिल करता है। इस प्रकार भारत की जाति व्यवस्था के अध्ययन में ड्यूमा के दृष्टिकोण ने सार्थक बहस पैदा की है।

टिप्पणी

ड्यूमा द्वारा एक संज्ञानात्मक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सामाज के विश्लेषण को अपनाया गया। वे भारतीय समाज की समझ रिश्तों की प्रणालियों के संदर्भ में नहीं, बल्कि आदर्श या मूल्य पैटर्न या संज्ञानात्मक संरचनाओं की प्रणालियों के रूप में करते हैं।

ड्यूमा के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन में पश्चिमी संस्कृति को प्रकट करने के लिए भारतीय दिमाग की प्रतिक्रिया पर केन्द्रित होना चाहिए और पश्चिमी संस्कृति के संज्ञानात्मक तत्वों जैसे कि व्यक्तिवाद, स्वतंत्रता, लोकतंत्र आदि के प्रभाव में होना चाहिए। भारतीय परंपरा की संज्ञानात्मक प्रणाली अस्वीकृति या स्वीकृति के लिए प्रतिक्रिया कर रही है। भारतीय और पश्चिमी संज्ञानात्मक प्रणालियों में विरोधाभास पूर्व के समग्र चरित्र और बाद के व्यक्तिवादी विशेषता में निहित है; यह विरोधाभास भारत में परंपरा बनाम आधुनिकता के बीच तनाव की प्रकृति को दर्शाता है।

ड्यूमा का लेखन

जैसा कि शुरू में कहा गया कि, ड्यूमा की रुचि के मुख्य क्षेत्र सामाजिक नृविज्ञान और इंडोलॉजी हैं। उन्होंने भारत के हिंदू धर्म, जाति, रिश्तेदारी और सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों जैसे विषयों पर खूब लिखा है। उनके प्रमुख लेखन कार्य इस प्रकार हैं–

1. La Tarasque (1951)
2. One sous-caste de Inde du sud: Organzation sociale et religion des pramalai kallar (1957)
3. Homo Hierarchicus: The Caste System and Its Implications (1966)
4. Religion, Politics and History in India: Collected Papers in Indian Sociology (1970)
5. Homo aequalis (1977)

होमो हायरकस : द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इंप्लीकेशंस (1966) ड्यूमा की अपनी अवधारणा, डिजाइन और निष्पादन में एक असामान्य काम है। यह एक संपूर्ण, सैद्धांतिक काम है जो हमें जाति पर मानव संबंधी आँकड़े को समझने में मदद करता है। यह रचना दूसरी रचनाओं से अलग है जो 'परानुक्रम' (hierarchy) की मुख्य रूप से सैद्धांतिक व्याख्या करती है जिसके आधार पर ड्यूमा ने जाति व्यवस्था को समझने के लिए एक प्रकार का प्रारूप तैयार किया है।

पदानुक्रम या संस्तरण भारतीय समाज को आधुनिक समाजों से अलग करता है, जिसका मूल सिद्धान्त सामाजिक समानता है। इस समीक्षा के विषय का अनुमान इस प्रकार लगाया जा सकता है– कोई भी पदानुक्रम, किसी भी समतामूलक प्रणाली की तरह, उन लोगों द्वारा विरोध किया जाता है जो स्वयं पर इसके प्रभाव को नुकसानदेह मानते हैं, फिर चाहे वे कितने ही जोर या निष्ठा से इसकी वकालत करने वाले हों, जो इसका लाभ उठाते हैं। एक पदानुक्रमित प्रणाली में जो सार्वभौमिक रूप है वह उसके लिए हानिकारक है जिस पर यह स्वयं लागू होता है।

जाति व्यवस्था

ड्यूमा उन लोगों का वर्णन करते हैं जो भारतीय जाति व्यवस्था में स्तरीकरण को नृजातीय या 'सामाजिक–केंद्रित' के रूप में लिखते हैं। वे शुद्ध रूप से भारतीय स्रोतों से जाति के अपने दृष्टिकोण को प्राप्त करने का दावा करते हैं।

टिप्पणी

हालांकि, उनकी अंतर्दृष्टि का परिणाम भारत में जाति और संस्कृति की व्याख्या है, जो विरोध या दो भागों के विभाजन (आधुनिक / पारंपरिक, पदानुक्रम / समानता, शुद्धता / अशुद्धता, स्थिति / शक्तियां आदि) की एक श्रृंखला पर आधारित है, जो उनके यूरोपीय और विशेष रूप से फ्रेंच, बौद्धिक अग्रदूतों के द्वंद्वात्मक और संरचनात्मक दृष्टिकोण के अनुरूप है।

इनकी व्याख्या कम से कम संदिग्ध नृजातीयकेन्द्रित है जैसे स्तरीकरण समाजशास्त्रियों के रूप में वे इसके लिए आलोचना करते हैं, जितना कि वे विदेशी, पश्चिमी दृष्टिकोण को दर्शाते हैं। ड्यूमा द्वारा वर्णित भारतीय दुनिया का अनुष्ठानिक पदानुक्रम उतना ही बड़ा असत्य और अर्थहीन है जितनी समाजशास्त्रियों द्वारा चित्रित स्तरीकरण की दुनिया।

ड्यूमा का विचार है कि जाति वह व्यवस्था है जिसके संबंध आर्थिक, राजनीतिक तथा नातेदारी मान्यताओं के साथ भी जुड़े हुए हैं। ये संबंध मूल्य आधारित हैं, जिनका संबंध धर्म की मान्यताओं के साथ भी जुड़ा हुआ है। ड्यूमा का मानना हैं कि जाति संस्तरण का हिस्सा नहीं है बल्कि असमानता का एक विशिष्ट स्वरूप है।

ड्यूमा की जाति की परिभाषा के वर्णन से प्रारंभ करते हैं कि सारा भारतीय समाज वंशानुगत समूहों में विभाजित है जो एक–दूसरे से अलग–अलग हैं पर तीन लक्षणों के आधार पर एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं।

1. विवाह, संपर्क तथा भोजन के आधार पर।
2. काम के लिए एक–दूसरे के ऊपर निर्भरता या श्रम विभाजन।
3. वह श्रेणीबद्धता जिसके आधार पर सारी संरचना में किसी समूह की स्थिति उच्च श्रेणी की है और कुछ की निम्न श्रेणी की।

ड्यूमा का मत है कि यह परिभाषा जाति व्यवस्था के लक्षणों का भी संकेत है। मुख्यतया तीन लक्षणों की चर्चा उन्होंने की–

1. भारत छोटे क्षेत्रों और छोटी–छोटी जातियों से निर्मित है।
2. प्रत्येक जाति छोटे–छोटे विशिष्ट क्षेत्रों में सीमित है।
3. जाति व्यवस्था में अपनी जाति से बाहर विवाह करना संभव नहीं है।

वस्तुतः ड्यूमा ने उन मानसिकताओं का उल्लेख किया है जो जाति की अलग–अलग परिस्थितियों में जन्मी हैं। वे जाति व्यवस्था को विचारों और मूल्यों की व्यवस्था कहते हैं, जो संपूर्णतः गुंथी हुई तार्किक व्यवस्था हैं। उनका विश्लेषण एक सूत्रीय आधार– शुद्धता और अशुद्धता के अंतर्विरोध के साथ जुड़ा हुआ है। यह धारणा श्रेणीबद्धता का निर्माण करती है। शुद्ध और अशुद्ध जातियों का विभाजन इसका मर्म है। यही सिद्धांत इन जातियों को अलग–अलग भी रखता है। ड्यूमा को विश्वास था कि भारत को समझने के लिए जाति व्यवस्था को समझना जरूरी है। इनका सारा विश्लेषण शास्त्रीय साहित्य के ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर किया गया था।

शुद्धता और अशुद्धता की अवधारणा

शुद्धता और अशुद्धता की अवधारणा को समझने के लिए ड्यूमा ने दो बुनियादी सवालों को उठाया था वे हैं– वंशानुगत समूहों के लिए अंतर क्यों लागू किया जाता है? और

यदि विभेदीकरण ब्राह्मणों और अस्पृश्यों के बीच था, तो क्या यह समाज के विभाजन के लिए समान रूप से बड़ी संख्या में अन्य समूहों के बीच भी परिचायक था क्योंकि इसी आधार पर विभिन्न जातियों में भी उपविभाजन संभव था।

टिप्पणी

ड्यूमा के अनुसार शुद्धता और अशुद्धता का यह विभाजन हमेशा दो चरम श्रेणियों के बीच है। ब्राह्मणों का उच्च जाति का होना और पुरोहिती का कार्य शुद्ध माना जाता है। अस्पृश्यों कर निचले पायदान पर होना और छोटे काम जैसे घरेलू सेवक वाले काम को अपवित्र माना जाता है।

दूसरी ओर अशुद्ध जातियाँ अस्पृश्य थीं उनका निवास गाँव से बाहर अलग होता था। जिस कुएं से ब्राह्मण पानी भरते थे, उसमें से अस्पृश्यों को पानी लेने की मनाही थी। हिन्दू मंदिरों में उन्हें जाने की इजाजत नहीं थी। अछूत अस्पृश्यता वाले काम करते थे। कुछ श्रेणियों के लिए यह नियम जीवन भर के लिए था। इस कार्य के लिए वे स्थायी हो चुके थे। वस्तुओं को भी शुद्धता और अशुद्धता में बांटा गया जैसे सूती कपड़े की अपेक्षा रेशमी साड़ी अधिक शुद्ध है। चाँदी की अपेक्षा सोना अधिक शुद्ध है। पीतल की अपेक्षा तांबा अधिक शुद्ध हैं। इन पदार्थों का संबंध छूने से नहीं है बल्कि उनके उपयोग से है। किस अवसर पर क्या शुद्ध है अथवा अशुद्ध है, यह उस पदार्थ की मान्यता के ऊपर निर्भर है।

वर्णों का सिद्धांत

ड्यूमा ने देखा है कि भारत में वर्ण, रंग के पारंपरिक पदानुक्रम हैं। इसके माध्यम से समाज का चार भागों में विभाजन होता है, जैसे कि ब्राह्मण या पुजारी, खत्री या योद्धा, वैश्य या व्यापारी और शूद्र या नौकर। उन्होंने पाया कि इसकी एक श्रेणी अस्पृश्यों की है जिसे अछूत कहा जाता है और ये इस वर्गीकरण के दायरे से बाहर हैं। जाति और वर्ण को पदानुक्रम और शक्ति के संबंध के साथ समझा जा सकता है।

विश्लेषण के अनुसार, जाति अन्य प्रकार के संस्तरणों से भिन्न है। संस्कारों के साथ इसमें आर्थिक और राजनीतिक निरपेक्षता भी सम्मिलित हैं।

अंत में, ड्यूमा जाति व्यवस्था में हुए कुछ परिवर्तनों की समीक्षा करते हैं। वे मानते हैं कि पहले से चली आ रही जातीय अंतर निर्भरता अब समाप्त हो गई है। इसके स्थान गुट पैदा हो गए हैं। आवश्यक आत्म निर्भरता बढ़ी है और पहचान के आधार पर एक–दूसरे के बीच में प्रतियोगिताएं बढ़ी हैं। ड्यूमा इसे यथार्थिकरण (substantialzation) की संज्ञा देते हैं।

जाति व्यवस्था में इन परिवर्तनों के कारण कानूनी और राजनीतिक हैं। धार्मिक, सामाजिक सुधार, पाश्चात्यीकरण, आधुनिक व्यवसायों में वृद्धि, नगरीकरण, गतिशीलता, बाजारी अर्थव्यवस्था, सभी ने इन परिवर्तनों को प्रोत्साहन दिया है। ये जितने भी प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं वे सामान्य तथा प्रत्यक्ष हैं। वस्तुतः ये परंपरा और आधुनिकता का अजीब मिश्रण हैं।

आलोचनात्मक समीक्षा

ड्यूमा का काम पारंपरिक भारतीय ग्रंथों पर आधारित है। नतीजतन, ड्यूमा द्वारा अनुमानित जाति प्रणाली की विशेषताएं अपरिवर्तित लगती हैं। वास्तव में, समय की अवधि के दौरान जाति व्यवस्था में कई तरह से बदलाव आया है।

टिप्पणी

ड्यूमा भी भारतीय समाज को लगभग स्थिर बताते हैं, क्योंकि वे जाति व्यवस्था के एकीकृत कार्य पर जोर देते हैं। ड्यूमा की इस आधार पर आलोचना की गई है कि वे हमेशा परिवर्तन या संघर्ष के बजाय सिस्टम (प्रणाली) एकीकरण और सिस्टम (प्रणाली) रखरखाव से चिंतित हैं। यहां तक कि शुद्धता और अशुद्धता पर उनके विचारों के लिए भी आलोचना की गई, क्योंकि वे सार्वभौमिक नहीं हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. गोविंद सदाशिव घुर्ये का जन्म कब हुआ था?
   (क) 2 दिसंबर, 1893 को (ख) 12 दिसंबर, 1893 को
   (ग) 12 नवंबर, 1998 को (घ) 1 जनवरी, 1893 को
2. घुर्ये ने महाराष्ट्र के पुणे के लोनीकांड गांव का अध्ययन कब किया था?
   (क) 1957 में (ख) 1857 में
   (ग) 1947 में (घ) 1837 में
3. फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई ड्यूमा को क्या माना जाता है?
   (क) पाकशास्त्री (ख) अर्थशास्त्री
   (ग) भारतशास्त्री (घ) रूसशास्त्री

3.3 मूल पाठ और अध्ययन के क्षेत्र में विचारों का संश्लेषण (इरावती कर्वे, ए.एम. शाह)

ग्रामीण भारत शीर्षक का 'पुस्तक दृश्य' इंडोलॉजिस्ट और ओरिएंटलिस्ट का है, जो हिंदू धर्मग्रंथों और ऐतिहासिक रिकॉर्ड से निर्मित है। स्वतंत्रता के बाद की अवधि में यह धीरे–धीरे प्रतिभागी अवलोकन के आधार पर समाजशास्त्री और मानवविज्ञानी के 'फील्ड व्यू' (Field View) द्वारा बदल गया। उनके अध्ययन ने गाँव समुदाय की प्रकृति पर नई रोशनी डाली, विशेष रूप से जाति, लिंग और राजनीतिक गुट के संबंध में। यह कार्य विकास के संदर्भ में महत्वपूर्ण है क्योंकि पारंपरिक समाज प्रवाह की स्थिति में था और बना हुआ है। हालांकि, 'फील्ड व्यू' का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि भारत के गांवों पृथक समुदायों के रूप में दिखने के बजाय बहुत लंबे समय के लिए एकीकृत व्यापक अर्थव्यवस्था और समाज के रूप में प्रतीत होते हैं।

3.3.1 इरावती कर्वे (1905–1970)

इरावती कर्वे भारतीय समाजशास्त्र की एक पुरोधा थीं, जब देश में इस विषय को संस्थागत रूप दिया गया था। पुरुष–प्रधान अनुशासन में अपनी छाप छोड़ना कोई आसान उपलब्धि नहीं थी, लेकिन कर्वे की अपने विषय में कुशलता ने उन्हें अपना मुकाम हासिल करने में मदद की। वे एक सफल लेखिका भी थीं, अपने करियर के दौरान उनके कार्यों की काफी प्रशंसाएं हुईं। उन्होंने भारतीय समाज के ताने–बाने के लिए इंडोलॉजी दृष्टिकोण का उपयोग करने का बीड़ा उठाया। नातेदारी पर उनके कामों

और ज्ञान की बहु–अनुशासनात्मक संग्रह पैदा करने की योग्यता ने उन्हें एक अलग पहचान दिलायी। वे भारत की पहली महिला मानव विज्ञानी थीं।

टिप्पणी

महाराष्ट्र से तालुक रखनेवाली इरावती कर्वे का जन्म एक सांस्कृतिक संदर्भ में हुआ था जो शिक्षा को सभी से ऊपर रखता था और इसे प्राप्त करने का साधन था। उनके पिता बर्मा में एक इंजीनियर के रूप में काम कर रहे थे। उसका नाम बर्मा की इरावडी नदी के नाम पर रखा गया था। उनका अनोखा नाम संभवतः उनके जीवन की निरंतर वैश्विक विरासत और उनके काम की विविधता का एक प्रतीक है।

पुणे के फर्ग्युसन कॉलेज में दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने के बाद उन्हें महाराष्ट्र सरकार द्वारा दी जाने वाली दक्षिणा फैलोशिप मिली। इस अनुदान ने उन्हें 1928 में जी. एस. घुर्ये के अधीन बंबई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्रीय अध्ययन का मौका दिया। जी. एस. घुर्ये ने अपने को कर्वे के लिए एक उत्कृष्ट गुरु साबित किया और उनकी शैक्षणिक योग्यता ने कर्वे को विचारधारा के स्तर पर और जिस बिन्दु पर वह काम करना चाहती थीं एक प्रेरणा के रूप में काम किया। घुर्ये के मार्गदर्शन में कर्वे ने 'चितपावन ब्राह्मण' पर एक निबंध प्रकाशित किया। अंतरिम रूप में उन्होंने दिनकर ढोंडो कर्वे से शादी की, जो प्रसिद्ध कर्वे परिवार से थे जिनका शैक्षणिक संस्थानों को स्थापित करने में एक बड़ा योगदान था।

इरावती कर्वे के ससुर महर्षि धोन्डो केसव कर्वे ने बंबई (अब मुंबई) में भारत का पहला महिला विश्वविद्यालय– SND-Women's University स्थापित किया था। अपने पति दिनकर के सहयोग से इरावती कर्वे ने जर्मनी के Kaiser Wilhelm Institute of Anthropology, Human Heredity और Eugenics में अध्ययन किया। वहाँ जर्मनी में नस्ल, आनुवंशिकी, मानव शरीर रचना विज्ञान जैसे विषयों पर इनके अध्ययन ने बाद के वर्षों में इनके विचारों को गढ़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

इरावती कर्वे, जर्मनी में अपने कार्यकाल के बाद, मानवशास्त्र के क्षेत्र में भी आगे आईं। 20 वीं शताब्दी की शुरुआत में, मानवशास्त्र और समाजशास्त्र की अनुसंधान विधियों के बीच स्पष्ट सीमांकन था। मानवशास्त्र में जहां फील्ड वर्क पर जोर था वहीं समाजशास्त्र अध्ययन case studies पर आधारित था। किसी भी महिला के लिए मानवशास्त्र पढ़ना बड़ा असामान्य था क्योंकि इसमे शारीरिक मेहनत की आवश्यकता थी और अपनी संस्कृति के बाहर अनुसंधान की की जरूरत थी। मानवशास्त्र का वैज्ञानिक आधार महिलाओं को यह विषय चुनने में रोकता था। इसलिए इरावती कर्वे को इस विषय के इतिहास में एक असाधारण महिला के रूप में जाना जाता है जिसने धारा के विपरीत जाकर इस विषय का चुनाव किया।

उन्होंने 1963 में पुणे विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र विभाग की स्थापना की। कुछ समय बाद समाजशास्त्र और मानवशास्त्र विभाग एक हो गए और बाद में फिर अलग हो गए। इरावती कर्वे ने डक्कन कॉलेज, पुणे में मानवशास्त्र विभाग के प्रमुख के रूप में भी कार्य किया। उन्होंने कुछ वर्षों के लिए एसएनडीटी विश्वविद्यालय के कुलपति का पद भी संभाला। समाजशास्त्री–सह मानवशास्त्री के रूप में अपने करियर के दौरान, इरावती कर्वे अपनी भारतीय विरासत के प्रति सच्चाई से लगी रहीं। उन्होंने एक ऐसे वातावरण में कार्यप्रणाली का प्रयोग किया जो महिला शोधकर्ताओं के लिए स्वागत योग्य नहीं था। अपनी कुलीन पृष्ठभूमि के बावजूद, उन्होंने भारत के भीतरी इलाकों में

जाकर शोध किया और देश भर के युवा मानवविज्ञानियों के लिए खुद को एक प्रेरणादायक के रूप में साबित किया। 1970 में उनकी मृत्यु हो गई, जबकि उस समय वे नौकरी में थीं।

टिप्पणी

पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण

कर्वे की जीवनी पर अभूतपूर्व काम करने वाली नंदिनी सुंदर बताती हैं कि उनकी रचनाएँ चार प्रमुख बौद्धिक परंपराओं से प्रभावित हैं। पहली एक वैचारिक परंपरा थी जिसे उन्होंने अपने गुरु जी.एस. घुर्ये से सीखा था। दूसरी एक Ethnological tradition है जिसे व्यापक सर्वेक्षणों में पाया जा सकता है जिसका उन्होंने अपने कार्यों में इस्तेमाल किया। तीसरी जर्मन भौतिक मानव शास्त्र की है, जो मूल रूप से विभिन्न समूहों की आनुवांशिकी के बारे में पता कर रही है ताकि उनकी उत्पत्ति को समझा जा सके। चौथी परंपरा सामाजिक–आर्थिक अनुसंधान और पुरातात्विक अन्वेषण है जो सभी शोधों के लिए कर्वे का अनुसंधान के प्रति जुनून का परिणाम था।

घुर्ये के प्रभाव को उनके कार्यों में व्यापक रूप से देखा जा सकता है क्योंकि दोनों का मानना था कि भारतीय समाज के आधार को समझने के लिए परिवार, जाति, धर्म और रिश्तेदारी का अध्ययन करना महत्वपूर्ण है और साथ ही व्यापक सर्वेक्षण डेटा पर उनकी निर्भरता तथ्यों को बताने के लिए थी। इंडोलॉजिस्ट के रूप में, कर्वे प्राचीन ओरिएंटलिस्ट इंडोलॉजिस्ट से जुड़ी थीं वे प्राचीन संस्कृत ग्रंथों को वर्तमान की व्याख्या करने के लिए उपयोग करती थीं। इस समूह ने स्वतंत्रता के बाद यह भी विश्वास किया कि भारतीय एकता अपने विविध जातिगत संस्थानों के सात अनिवार्य रूपों में अपने संस्कृत ग्रंथों में पाई जाती है।

रचनाएँ

कर्वे का मराठी और अँग्रेजी में समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक रचनाओं में महत्वपूर्ण योगदान है। उनके द्वारा लिखित कुछ पुस्तकें निम्न हैं–

1. Kinship Organzation in India (1953)
2. The Bhils of West Khandesh (1958)
3. Hindu Society : An Interpretation (1961,1968)
4. Group Relations in Village Community (1963)
5. The Social Dynamics of a Growing Town and Its Surrounding Area (1965)
6. Maharashtra: Land and People (1968)
7. Yuganta: The End of an Epoch (1968)
8. परिपूर्ति (मराठी 1949)
9. आमची संस्कृति (मराठी)
10. संस्कृति(मराठी)
11. गंगाजल (मराठी)
12. भोवरा (मराठी)

इरावती कर्वे महाराष्ट्र में अपने मराठी लेखन के कारण ज्यादा जानी जाती हैं। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वे भारत की सामाजिक संस्थाओं पर अपने लेखों के कारण

टिप्पणी

प्रसिद्ध हैं। विशेष रूप से उनकी पुस्तक 'किनशिप ऑर्गनाइजेशन इन इंडिया' सारे विश्व में काफी पढ़ी गई। उनकी रचना 'युगांत' वर्ष 1968 का साहित्य अकादमी पुरस्कार जीता था। यह रचना ऐतिहासिक, मानवशास्त्रीय और धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण से महाभारत के प्रमुख, पौराणिक वीर विषयक आंकड़ों का अध्ययन करती है। सामाजिक, सांस्कृतिक मानवीय स्वरूप, मानवशास्त्र तथा भाषा में उनका समान रूप से दखल था। भारत के भ्रमण के दौरान उन्होंने देश के विभिन्न उत्सवों और मेलों को भी देखा।

उन्होंने समाज की तुलना एक ऐसी रजाई से की जो कपड़ों के अलग–अलग टुकड़ों से बनती है और ये टुकड़े अलग–अलग आकार और रंग के होते हैं। समाज में भी लोग तरह–तरह के हैं। उनके संबंधों के स्वरूप अलग–अलग हैं। वे आपस में जुडते हैं, बिखरते हैं पर उनको आपस में बांधने का सूत्र एक जैसा है।

भारत में नातेदारी व्यवस्था का अध्ययन

इरावती कर्वे की पुस्तक 'किंनशिप ऑर्गेनाइजेशन इन इंडिया', 1953 में पहली बार प्रकाशित हुई। यह भारत में पारिवारिक संरचना के कई पहलुओं को दर्शाती एक प्रसिद्ध कृति मानी जाती है। इसने मूल रूप से विवाह प्रथाओं के अनुसार देश को चार अलग–अलग सांस्कृतिक क्षेत्रों में वर्गीकृत किया– उत्तरी, मध्य, दक्षिणी और पूर्वी। भारत में किसी भी सांस्कृतिक घटना को समझने के लिए तीन अवधारणाएँ– भाषाई क्षेत्र, जाति की संस्था और परिवार संगठन आवश्यक हैं। नातेदारी संगठन भाषाई पैटर्न को प्रदर्शित करता है, लेकिन कुछ पहलुओं में, इसमें अंतर पाया गया है। यद्यपि महाराष्ट्र क्षेत्र संस्कृत भाषाओं के क्षेत्र से संबंधित है, लेकिन इसका नातेदारी संगठन द्रविड़ियन या दक्षिण भारतीय नातेदारी प्रणाली से संबंधित है। इरावती कर्वे के अनुसार– "जाति वंशानुगत एंडोगैमस समूह है जो भाषाई क्षेत्र तक सीमित है। यह एक विस्तारित परिजन समूह है। जाति के सदस्य एक विशेष व्यवसाय का हिस्सा हैं और सामाजिक स्तरीकरण में जातियों को एक निश्चित क्रम में स्थान दिया गया है।"

भारत में सांस्कृतिक घटना को समझने के लिए संयुक्त परिवार एक और महत्वपूर्ण संस्थान है। यह परिवार प्रणाली भारतीय अर्थव्यवस्था की कृषि पृष्ठभूमि के साथ संगत रही है। संयुक्त परिवार कई पीढ़ियों के परिजनों का एक समूह है, जो एक शासक होता है, जिसमें संयुक्त निवास, चूल्हा और संपत्ति होती है और जिनके सदस्य एक–दूसरे के साथ आपसी दायित्वों से बंधे होते हैं। जैसा कि इरावती कर्वे द्वारा कहा गया है, संयुक्त परिवार उन लोगों का एक समूह है जो आम तौर पर एक ही छत के नीचे रहते हैं, जो एक रसोई में पका हुआ भोजन खाते हैं, जो सार्वजनिक रूप से संपत्ति रखते हैं, सार्वजनिक पारिवारिक पूजा में भाग लेते हैं और एक–दूसरे से सगे–संबंधी के रूप में जुड़े होते हैं। एक संयुक्त परिवार में ऊर्ध्वाधर (vertical) और क्षैतिज (horzontal) विस्तार होते हैं। इसकी मुख्य विशेषता संपत्ति की अविभाज्यता और साझाकरण है। सबसे बड़े पुरुष सदस्य को संपत्ति के प्रबंधन का अधिकार होता है और वह देखता है कि कोई भी सदस्य इसके लाभों से वंचित नहीं है। कर्वे ने प्राचीन तीन या चार पीढ़ी के फार्मूले का पालन किया है, लेकिन वे समान पूर्वजों की पीढ़ी, परदादा को पीढ़ियों की संख्या में शामिल नहीं करती हैं और अविवाहित पुरुषों का बिल्कुल भी उल्लेख नहीं करती हैं। इसका अर्थ है कि संयुक्त परिवार की वंशावली गहराई का सूत्र शास्त्रीय सूत्र से अधिक गहरा है। उन्होंने कहा कि प्रत्येक संयुक्त परिवार के पास एक

पुश्तैनी सीट या ठिकाना होता है, जिसे कुछ सदस्य अनिश्चित काल के लिए छोड़ सकते हैं। इस प्रकार भाषाई क्षेत्र, जाति और परिवार भारत में किसी भी समूह की संस्कृति के तीन सबसे महत्वपूर्ण पहलू हैं। यह बात भारत की आदिम जनजातियों पर लागू होती है।

टिप्पणी

कर्वे द्वारा कुछ मानवशास्त्रीय समस्याओं को संबोधित किया गया है। भारत के अधिकांश क्षेत्रों में परिवार एक स्वायत्त इकाई है, जिसका अपना आर्थिक संगठन है, जबकि जाति एक बंद स्वायत्त इकाई है जिसका अन्य समान इकाइयों के साथ कुछ सीमित संपर्क है। संयुक्त परिवार ने आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा प्रदान की है। औद्योगिक शहरों के उदय और रोजगार के नए अवसरों के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार और ग्राम समुदाय के बंधनों का विघटन हुआ है।

इस पुस्तक में वर्णित रिश्तेदारी संगठन विवाह के विभिन्न तरीकों के साथ विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्र प्रस्तुत करता है। कर्वे ने देखा कि उत्तर में, शादी के नियम यह कहते हैं कि दुल्हन को उन परिवारों से लाया जाना चाहिए जो रक्त से संबंधित नहीं हैं। दक्षिणी विवाह पद्धति का उनका विश्लेषण, परिजनों के पीढ़ियों के बजाय, वृद्ध और छोटे परिजनों के कालानुक्रमिक विभाजन के आधार पर भारतीय नृविज्ञान में एक महत्वपूर्ण योगदान है। कर्वे अपने सम्पूर्ण अध्याय में सम्पत्ति, पीढ़ी और वंशानुक्रम के व्यापक सर्वेक्षण (1965) के बारे में बताती हैं। वे बिहार और बंगाल की दयाभागा प्रणाली और शेष हिंदू भारत में प्रचलित मिताक्षर प्रणाली के बीच अंतर के बारे में बताती हैं और उन्होंने केरल की मातृवंशीय व्यवस्था की भी चर्चा की है।

गाँव में समूह संबंधों की गतिशीलता

इरावती कर्वे की पुस्तक 'ग्रुप रिलेशन इन विलेज कम्युनिटी' (1963), महाराष्ट्र के तीन गांवों में करवे और दामले (1963) द्वारा किए गए एक अध्ययन का वर्णन करती है, जो ग्राम समुदाय में समूह संबंधों की गतिशीलता की जांच करते हैं। उन्होंने नातेदारी, जाति और इलाके के संदर्भ में अंतर्व्यक्ति और अंतर–समूह संबंधों की संरचना की परिकल्पना की जांच करने के लिए मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों डेटा एकत्र किए। लेखकों ने परिजनों और जाति की सीमाओं को देखा जो आर्थिक संबंधों द्वारा शासित विभिन्न प्रकार की अंतर–निर्भरता में मौजूद थे। आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ सामाजिक मेल–जोल नहीं था। लेकिन, सामाजिक स्तरीकरण की प्रणाली व्यक्तिगत और सामाजिक मेल–जोल को परिभाषित और सीमा निर्धारण करती है।

एक बढ़ते शहर की सामाजिक गतिशीलता

कर्वे और रानाडिव (1965) ने अपनी रचना– 'द सोशल डायनेमिक्स ऑफ ग्रोइंग टाउन एंड इट्स सराउंडिंग एरिया' में विकासशील शहर और उसके आसपास के क्षेत्र की सामाजिक गतिशीलता का एक अध्ययन किया। सतारा जिले के फलटन शहर के आसपास के क्षेत्रों और महाराष्ट्र के शहर के आसपास के 23 गांवों को भी इस अध्ययन में शामिल किया गया। लेखकों में से एक के अनुसार, भारत का छोटा शहर भीड़भाड़ वाले और परिष्कृत नगर और गाँव के बेहद अलग–थलग समाज के बीच एक भूमिका निभाता था। अपने साप्ताहिक बाजार के साथ शहर, नगर और गांव के बीच का पुल था। नगर के निवासियों के लिए, एक छोटा शहर आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक अवसरों के बिना एक पिछड़ा स्थान है। गाँव के लोगों के लिए, यह उत्कृष्ट आर्थिक और सामाजिक

टिप्पणी

अवसर प्रदान करता है। इसके अलावा, नगर अपनी भीड़ और दूरियों के चलते एक निश्चित वर्ग को कम से कम सुविधाएं प्रदान करता है, जो एक छोटे शहर (कस्बा) की ओर आकर्षित हो सकता है जो भविष्य का नगर बन सकता है। लेखकों ने उपरोक्त बिंदुओं को प्रकाश में रखते हुए छोटे शहर की व्याख्या करने की कोशिश की।

लेखकों ने शिक्षा, धर्म और आर्थिक गतिविधियों के संदर्भ में छोटे शहर और गांवों के विचार और व्यवहार पैटर्न को समझने का प्रयास किया। कस्बे और गाँव के व्यावहारिक पैटर्न में अंतर कभी–कभी शिक्षा के कारण भी दिखता है।

यह शहर सौ मील से अधिक दूर के लोगों को आकर्षित नहीं करता था, लेकिन यह निश्चित रूप से आसपास के क्षेत्रों के लिए आकर्षण का केंद्र था। शहर में ग्रामीण और नगरीय दोनों तरह के चरित्र थे। शहर और गांव के बीच का अंतर नई जीवन शैली को स्वीकार करने के कारण था, जो पहले के सामाजिक–सांस्कृतिक संस्थानों को बदल देता था। यह अंतर सामान्य परिवारों द्वारा तैयार सामानों की सूची से, पोशाक के तौर–तरीकों से, कुछ चीजों का उपयोग करने के तरीके से और फुर्सत के घंटे बिताने से पता चला था।

काम के दूसरे भाग में, लेखकों ने फलन और आसपास के गांवों में अपने अवलोकन के आधार पर, समुदायों के निर्माण के लिए एक मॉडल का सुझाव दिया, जिससे सरकार द्वारा अधिकतम सांस्कृतिक सुविधाएं प्रदान की जा सकें।

'युगान्त' : द एण्ड ऑफ एन एपोक

'युगान्त' महाभारत के प्रमुख मिथकीय चरित्र तथा नायक के ऐतिहासिक, मानवशास्त्रीय तथा निरपेक्ष परिप्रेक्ष्य द्वारा किया गया चित्रण है। इरावती कर्वे ने इस रचना में समग्र महाभारत को समीक्षात्मक दृष्टि देखकर उसके विशिष्ट पात्रों का एक नया चित्र गढ़ा है। इसमे कोई शक नहीं है कि कर्वे ने महाभारत का गहराई से अध्ययन करते हुए सामान्य तर्क और व्यावहारिक दृष्टि से इन पात्रों का मूल्य मापन किया हैं। इसे कुछ उदाहरण द्वारा समझा जा सकता हैं। कर्वे इस रचना में लिखती हैं कि– "महाभारत में बहुत–सी अद्‌भुत बातें हैं। किसी की संगति तो मानवीय स्तर पर लगाई जा सकती, किसी की नहीं। महाभारत की अद्‌भुत घटनाओं में एक यह भी है कि सूर्य से कुंती को जो पुत्र प्राप्त हुआ, उसे जन्मते ही कवच और कुंडल प्राप्त थे इसकी क्या संगति लगाई जा सकती है। कुंती ने ऋषि की सेवा की। इस सेवा का क्या अर्थ है। इस सेवा का दुष्फल कर्ण था क्या? यदि ऐसा था तो फिर उसका संबंध सूर्य से क्यों जोड़ा गया?"

W. Norman Brown के अनुसार– "इस पुस्तक को पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि इरावती कर्वे का पसंदीदा संस्कृत कार्य महाभारत है। अगर कोई किताब पढ़ने से पहले उन्हें जान लेता तो शायद वह पहले ही उस नतीजे पर पहुँच जाता। महाभारत को भारतीय सभ्यता के छात्रों द्वारा देश के प्राचीन साहित्य में सबसे अधिक जानकारीपूर्ण साहित्य के रूप में चित्रित किया गया है। यह कई शताब्दियों का परिणाम है, जिसमें कई स्रोतों से तैयार की गई कई प्रकार की सामग्री शामिल है – संभवतः थोड़ा इतिहास, निश्चित रूप से बहुत मिथक, किंवदंती, परियों की कहानी, कल्पित, किस्सा, धार्मिक और दार्शनिक लेखन, कानूनी सामग्री, यहां तक कि मानवविज्ञानी सामाग्री और विविध अन्य प्रकार के डेटा। यह मूल चरित्र में एक वास्तविक लोक महाकाव्य है, जिसे एक तरह के हिंदू सांस्कृतिक विश्वकोश में बदल

दिया गया है। इरावती कर्वे महाभारत की महान विभूतियों की मानवता का अध्ययन करती हैं और उनमें से कोई भी उनके लिए न तो पूरा अच्छा है न तो पूरा खराब।"

3.3.2 ए.एम. शाह

टिप्पणी

प्रो. अरविंद एम. शाह ने एमएस विश्वविद्यालय, बड़ौदा (1964) से अपनी पीएचडी पूरी की और दिल्ली विश्वविद्यालय जाने से पहले यहाँ कुछ समय के लिए अध्यापन किया। वे 1996 में समाजशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में दिल्ली विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त हुए। प्रो शाह दिल्ली विश्वविद्यालय (1996–98) में ICSSR के national fellow थे। उन्होंने शिकागो विश्वविद्यालय (1960–61) सहित कई महत्वपूर्ण फैलोशिप भी धारण किए– सेंटर फॉर एडवांस्ड स्टडी इन द बिहेवियरल साइंसेज, स्टैनफोर्ड (1961–62) आदि। प्रोफेसर शाह अपने शोध और लेखन में श्रमसाध्य थे और चाहते थे कि छात्र भी वही हों। वे जोर देकर कहते थे कि विश्लेषणात्मक कल्पना और व्याख्या की उड़ानों को समय–समय पर परत–दर–परत नृवंशविज्ञान पर आधारित होना चाहिए।

रचनाएँ

प्रोफेसर शाह ने एक सौ से अधिक पत्र और पुस्तकें लिखी हैं। उनकी मुख्य रचनाएं निम्न हैं–

1. The Household Dimension of the Family in India (1973), co-authored with I. P. Desai
2. Division and Hierarchy: An Overview of Caste in Gujarat (1985)
3. Exploring India's Rural Past: A Gujarat Village in early Nineteenth Century
4. The Structure of Indian Society: Then and Now (2010)
5. The Writings of A-M- Shah: The Household and Family in India (2013)
6. Sociology and History: Dialogues towards Integration (2016).

'द हाउसहोल्ड डायमेंशन ऑफ द फैमिली इन इंडिया' पुस्तक राधावनज ग्राम, मध्य गुजरात की एक गृहस्थ (Household) जनगणना का विश्लेषण करती है जिसे लेखक ने 1950 के दशक के उत्तरार्ध में लिया था, इन आंकड़ों की तुलना उसी गाँव की 1825 की जनगणना से की जाती है। इस सूक्ष्म अध्ययन का निष्कर्ष "भारत में परिवार के गृहस्थ के आयाम" पर केंद्रित है। यह गृहस्थी के आकार और वंशावली घटकों तक ही सीमित है, जानबूझकर इसके कानूनी, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक और अन्य पहलुओं को अलग किया गया है। इस गाँव में प्रति गृहस्थ व्यक्ति की औसत संख्या केवल 4.6 है और लगभग दो तिहाई घर 'सरल' हैं। इस रचना के आधार पर उन्होंने गृहस्थ को दो– साधारण और जटिल में विभाजित किया। साधारण गृहस्थ को उन रूपों में परिभाषित किया जाता है, जिनमें माता–पिता के परिवार का पूरा या कुछ हिस्सा होता है, जबकि जटिल गृहस्थ को उन रूप में परिभाषित किया जाता है, जिनमें दो या अधिक माता–पिता या माता–पिता के परिवार शामिल होते हैं।

शाह ने कहा कि एक साधारण गृहस्थ में छह संभावित संरचनाएं होती हैं–

1. एक आदमी और उसकी पत्नी।
2. या तो केवल एक पुरुष या केवल उसकी पत्नी।
3. एक आदमी, उसकी पत्नी और उसके अविवाहित बच्चे।

टिप्पणी

4. अविवाहित भाई–बहन।
5. एक पिता और उसके अविवाहित बच्चे।
6. एक माँ और उसके अविवाहित बच्चे।

शाह के अनुसार, एक जटिल गृहस्थ में तीन संभावित संरचनाएं होती हैं–

1. दो या अधिक माता–पिता का परिवार।
2. एक माता–पिता का परिवार और माता–पिता के परिवार का कुछ भाग।
3. एक माता–पिता के परिवार का हिस्सा और दूसरे माता–पिता के परिवार का हिस्सा।

आकार के आधार पर, शाह ने गृहस्थ को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया है–

- तीन या उससे कम सदस्यों वाले छोटे गृहस्थ
- चार से छह सदस्यों वाले मध्यम गृहस्थ
- सात से नौ सदस्यों वाले बड़े गृहस्थ
- दस या अधिक सदस्यों वाले बहुत बड़े गृहस्थ

एक गृहस्थ एक घर या एक मालिक के अधीन रहने वाले व्यक्तियों का समूह है जिसमें बच्चों के माता–पिता और नौकर शामिल होते हैं। गृहस्थ के साधारण और जटिल में विभाजन की तुलना अक्सर एकल और संयुक्त परिवारों से होती है शाह इसे अलग मानते हैं। इनके अध्ययन से यह साबित हुआ कि साधारण गृहस्थ का प्रतिशत जटिल गृहस्थ के प्रतिशत से बहुत बड़ा है। यह ग्रामीण भारत में परिवारों के बीच संयुक्तता के विघटन का सूचक भी था। शाह का मानना है कि हमें स्पष्ट रूप से परिवार और गृहस्थ (1974) के बीच अंतर करना चाहिए। उन्होंने परिवार के अध्ययन में शामिल जटिलताओं की ओर संकेत किया और बहुत ही सही तरीके से सिफारिश की कि गृहस्थ को परिवार के अध्ययन में अवलोकन की इकाई होना चाहिए। मेरे मन में परिवार और गृहस्थ के बीच का अंतर गुजराती भाषा में दिये गए– घर और कुटुम्ब के बीच के भेद को दर्शाता है। इस प्रकार गृहस्थ शब्द का उपयोग आवासीय समूह के लिए और परिवार के लिए रिश्तेदारी, भावनात्मक, अनुष्ठान और कानूनी आयामों से संबंधित समूहों के लिए किया जाता है।

अरविंद एम. शाह अपनी रचना– 'द स्ट्रक्चर ऑफ इंडियन सोसाइटी : देन एंड नाऊ' में लिखते हैं– चूंकि भारत के समाजशास्त्र ने लंबे समय तक केवल हिंदुओं पर ध्यान केंद्रित किया है, इसलिए यह समझ में आता है कि शहरी संदर्भ में सभी धार्मिक समूहों के बीच संबंधों पर पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। हालाँकि, शाह कहते हैं कि शहरी संदर्भ में जाति की प्रकृति और हिन्दू में कई अन्य संरचनाओं और संस्थानों का गहन अध्ययन करने में भी विफलता हुई है। इस तरह के अध्ययनों से हमें न केवल जातियों के बीच संबंधों को देखना होगा बल्कि पूरे शहरी संदर्भ में इन संबंधों को परिभाषित करना होगा। दूसरे शब्दों में, हमें यह देखना होगा कि अंतरजातीय संबंध इस तथ्य से कैसे प्रभावित होते हैं कि ये जातियाँ गैर–हिंदू समूहों के बीच रहती थीं। यह एक कठिन कार्य है, जिसके लिए समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक अनुसंधान दोनों की आवश्यकता होती है।

शाह ने कई निबंधों में गुजरात में शहरी जाति का विश्लेषण किया है और अपनी पुस्तक में आई. पी. देसाई के साथ सह–लेखन किया है। इस विश्लेषण की सामान्य विशेषताएं कमोबेश अन्य क्षेत्रों में भी लागू होंगी।

टिप्पणी

हर क्षेत्र में जातियों की तीन श्रेणियां थीं– (क) कस्बे में विशेष रूप से पाई जाने वाली जातियाँ, जो इतनी अधिक हैं कि उन्हें आनुवंशिक रूप से शहरी आबादी बनाने के रूप में माना जा सकता है। वे एक शहर से दूसरे शहर में आसानी से चले गए, न केवल क्षेत्र के भीतर बल्कि अक्सर लंबी दूरी के साथ एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में। यह सदियों से भारतीय समाज की एक विशेषता रही है लेकिन अभी तक इस पर बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है। भारतीय समाज और संस्कृति की एक महान एकीकृत विशेषता रही है, जो आज की क्षेत्रीय कट्टरता की मान्यताओं के विपरीत है। (ख) कस्बों और गाँवों दोनों में पाई जाने वाली जातियाँ। ऐसी जातियों के ग्रामीण और शहरी भाग आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से भिन्न थे और उनकी आबादी के साथ–साथ उनकी संस्कृति के तत्वों की भी दो तरफा आवाजाही थी। ग्रामीण जातियों के करीबी अध्ययन से पता चलता है कि कुलीन और सर्वहारा दोनों स्तरों पर छोटे लेकिन पर्याप्त शहरी घटक हैं। (ग) गाँवों में विशेष रूप से पाई जाने वाली जातियाँ। जातियों का बहुत कम अनुपात इस अंतिम श्रेणी का था।

शहर में अंतर–जातीय संबंध कई मामलों में गाँव के अंतर–जातीय संबंधों से भिन्न थे। प्रतिस्पर्धा के बजाय सहयोग और अनुबंध के बजाय प्रस्थिति गाँव के अंतर जातीय संबंध में मिलते हैं। गांव के विशिष्ट माने जाने वाले जजमानी संबंध कस्बे में अनुपस्थित नहीं थे, लेकिन आदर्श रूप में नहीं थे। यहां तक कि अगर वे अस्तित्व में थे, तो भी जातियों के बीच और हिंदुओं और गैर–हिंदुओं के बीच आदान–प्रदान की गई वस्तुओं और सेवाओं का भुगतान आम तौर पर वस्तु के बजाय नकद होता था। निश्चित रूप से, कटाई के समय थ्रेशिंग फ्लोर पर अनाज के ढेर से कारीगरों और नौकरों को अनाज का वितरण, जो गांव की विशेषता थी, कस्बे में प्रबल नहीं हुआ। कस्बे में आर्थिक लेन–देन अनुबंध और बाजार पर हावी था, जिसमें गैर–हिंदुओं ने भी भाग लिया। जबकि गाँव में सामाजिक संबंध आम तौर पर आमने–सामने, अतिव्यापी और बहुआयामी थे, कस्बे में वे काफी हद तक एकतरफा थे। आमतौर पर एक जाति के लोग एक–दूसरे के करीब में रहते थे, और उच्च जाति के जो अमीर थे, अक्सर एक ही गली में रहते थे जो कभी–कभी दीवारों से घिरी होती थी, जिसमें एक तरफ गेट और दूसरी तरफ रास्ता बंद होता था। जाति का सामुदायिक पहलू गाँव की तुलना में कस्बे में अधिक दिखाई देता था।

गाँव की अपेक्षा कस्बे में जाति पदानुक्रम की समस्या कहीं अधिक जटिल थी। कस्बे में जातियों की संख्या ज्यादा होने के कारण पदानुक्रम को समझना असंभव है। शाह कहते हैं कि शीर्ष पर ब्राह्मण और सबसे नीचे मेहतर के बीच की जातियों की स्थिति की अस्पष्टता कस्बे में एक हद तक काफी प्रबल थी। और वर्ण पदानुक्रम दो कारणों से वहां गड़बड़ हो गया था। सबसे पहले, अक्सर कस्बे में राजनीतिक अधिकार गैर–हिंदुओं के पास होते थे, जो क्षत्रियों को शक्तिहीन बनाते थे, अगर पूरी तरह से अप्रासंगिक न हों। और दूसरी बात, व्यापारिक जातियों– हिंदू और जैन ने आर्थिक शक्ति को काफी बढ़ाया जो अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक ताकत में परिवर्तित हुई। केवल इतना ही नहीं, बल्कि देश के कुछ हिस्सों में, वैश्यों ने खुद को क्षत्रियों से बेहतर माना है, अनुष्ठान की स्थिति में भी, अर्थात्, शुद्धता और अशुद्धता के मामलों में। कस्बे में व्यक्ति

टिप्पणी

गाँव की तुलना में बहुत अधिक विविध सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अन्य व्यक्तियों के संपर्क में था। निम्नलिखित विषयों पर भी इस रचना में चर्चा की गई हैं–

(i) जाति अंतर्विवाह बनाम अंतर्जातीय अतिविवाह (Caste endogamy versus Inter-Caste hypergamy)

पिछड़े वर्गों की तीन श्रेणियों (अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़ा वर्ग) में शामिल हर जाति या आदिवासी के पास जो अलग–अलग एक निश्चित सीमाएं हैं वे एंडोगामी की मान्यता के कारण हैं, फिर भी caste endogamy नियम की आलोचनात्मक व्याख्या जरूरी है। हालाँकि धार्मिक ग्रन्थों ने सभी हिंदुओं को caste endogamy के नियम का पालन करने के लिए जोर दिया, लेकिन उन्होंने हाइपरमस (hypermous) और हाइपोगैमस (hypogamous) विवाहों को भी मान्यता प्रदान की, जबकि दोनों ने इस नियम का उल्लंघन किया। हाइपोगैमी में एक निम्न जाति की महिला को एक उच्च जाति के पुरुष से शादी की अनुमति थी लेकिन उच्च जाति के पुरुष ने आपस में आदान–प्रदान नहीं किया। हाइपोगैमी में यह बिलकुल उल्टा था। लगभग हर बड़ी जाति के पास अपनी आंतरिक पदानुक्रम से संबंधित आंतरिक hypergamy होती थी। आंतरिक hypergamy ने ऊपरी पायदान में विवाह योग्य महिलाओं की अधिकता और निचले पायदान पर उनकी कमी पैदा की। बाद के संदर्भ ने (निचले पायदान पर विवाह योग्य महिलाओं की कमी) आमतौर पर पुरुषों को स्वीकार्य निचली जातियों और आदिवासी जैसे समूहों की महिलाओं से शादी करने के लिए प्रेरित किया। अंतरा–जाति हाइपरगैमी इस प्रकार अंतरजातीय हाइपरगैमी के साथ अंतरंग रूप से जुड़ी थी।

(ii) आधुनिक अंतर्जातीय विवाह (Modern Inter-Caste Marriage)

ऊपर चर्चा किए गए पारंपरिक हाइपरगैमस अंतर जातीय विवाह के अलावा, पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण के प्रभाव में भी अंतरजातीय शादियां हो रही हैं। शहरी क्षेत्रों में इस तरह की शादियां तेजी से बढ़ रही हैं, लेकिन वे ग्रामीण इलाकों में भी धीरे–धीरे बढ़ रही हैं। उनका विरोध कमजोर हुआ है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, कोई भी जाति पंचायत अब शहरी क्षेत्रों में नहीं है और ग्रामीण इलाकों में कुछ ही पंचायतें बची हैं लेकिन वे दंडात्मक कार्रवाई करने में सक्षम नहीं हैं। किसी भी मामले में, ऐसी सजा अब वास्तविक खतरा नहीं है। आधुनिक कानून इसका समर्थन नहीं करता है।

(iii) जाति संघ (Caste Association)

इस पुस्तक में जतियों के संघ के बारे बताते हुए शाह कहते हैं कि कम से कम 20वीं शताब्दी की शुरुआत के बाद से जाति संघ एक महत्वपूर्ण नई संस्था के रूप में उभरा है जो जातियों का समर्थन करता है। प्रारंभ में वे जाति के सदस्यों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए बड़े शहरों में स्थापित छोटी इकाइयाँ थीं। धीरे–धीरे उन्होंने अपनी कल्याणकारी गतिविधियों में विविधता लाने के साथ–साथ छोटे शहरों और गांवों को शामिल करने के लिए अपनी सदस्यता का प्रसार किया। अब जाति, उपजाति और उप–उपजाति संघ भी प्रत्येक शहर और स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और यहां तक कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मौजूद हैं। आमतौर पर इन संघों का सदस्यता शुल्क, नियमों, विनियमों, कार्यालयों, चुनावों के साथ लिखित संविधान होता है। कई सोसायटी पंजीकरण अधिनियम या सार्वजनिक ट्रस्ट अधिनियम के तहत पंजीकृत हैं और कुछ

का दावा है गैर सरकारी संगठनों के रूप में। जबकि 20वीं शताब्दी में प्रकट राजनीतिक उद्देश्यों के साथ कुछ संघों का अस्तित्व काफी पहले से था, इस तरह के संघों का गठन स्वतंत्रता के बाद चुनावी राजनीति में जाति का प्रतिनिधित्व करने और आरक्षण के लाभों के लिए अपने दावों को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से किया गया था।

हालाँकि एक जाति संघ जाति का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकता है, लेकिन जाति के संघ की सदस्यता के बिना भी सदस्य के रूप में रहा जासकता है। मुख्य कारण यह है कि जाति का प्रत्येक सदस्य हमेशा संघ का सदस्य बनने में दिलचस्पी नहीं रखता है, क्योंकि वह अपनी गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग नहीं ले सकता है। कुछ संघ केवल गुटबाजी करके पूरी जाति का प्रतिनिधित्व करने के झूठे दावे करते हैं। प्रत्येक जाति धन, प्रतिष्ठा और शक्ति में आंतरिक रूप से विभेदित होती है इसलिए कोई भी जाति संघ पूरी जाति के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करता है।

निरंतरता और परिवर्तन : परिवार की संस्था (Continuity and Change: The Institution of Family)

भारत में परिवार का गृहस्थ आयाम है जो बताता है कि शहरीकरण और 'अलग' एकल गृहस्थ के बीच कोई संबंध नहीं है। ए एम शाह ने शहरी भारत में संयुक्त परिवार के टूटने के मिथक को दूर किया। उन्होंने गुजरात के सामाजिक इतिहास का अध्ययन किया और अपने निष्कर्षों के आधार पर, उनका दावा है कि अतीत में संस्कृतनिष्ठ जातियों (यानी उन जातियों, जिन्होंने उच्च जातियों के मूल्यों, रीति–रिवाजों और व्यवहार को अपनाया है) ने गांवों की तुलना में कस्बों (या शहरों) में जनसंख्या का बहुत अधिक अनुपात बनाया है। इससे पता चलता है कि कस्बों में माता–पिता की मृत्यु के बाद एक साथ रहने वाले दो या अधिक विवाहित भाइयों से बने गृहस्थ की एक बड़ी संख्या शामिल थी। इसमें कुछ बड़े गृहस्थ भी शामिल हो सकते हैं जहाँ विवाहित चचेरे भाई अपने पिता और दादा की मृत्यु के बाद भी एक ही गृहस्थ में एक साथ रहते थे। माता–पिता और दो या दो से अधिक विवाहित बेटों से बने गृहस्थ का एक बड़ा हिस्सा कस्बों में मिलता है।

अपनी प्रगति जांचिए

4. इरावती कर्वे ने पुणे विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र विभाग की स्थापना कब की?

   (क) 1863 में (ख) 1860 में

   (ग) 1959 में (घ) 1963 में

5. इरावती कर्वे की किस रचना ने वर्ष 1968 का साहित्य अकादमी पुरस्कार जीता था?

   (क) युगांत ने (ख) भोवरा ने

   (ग) गंगाजल ने (घ) संस्कृति ने

6. प्रो. अरविंद एम. शाह समाजशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में दिल्ली विश्वविद्यालय से किस वर्ष सेवानिवृत्त हुए?

   (क) 1993 में (ख) 1994 में

   (ग) 1995 में (घ) 1996 में

3.4 सभ्यात्मक दृष्टिकोण (एन.के. बोस, सुरजीत सिन्हा)

टिप्पणी

सभ्यात्मक दृष्टिकोण भारतीय समाज और संस्कृति के लिए आत्मसातकरण (assimilation) और मिश्रण के माध्यम से समाज के विकास और वृद्धि का मूल तत्व से आधुनिक जटिल रूप में पता लगाने और विश्लेषण करने का प्रयास करता है। यह भारतीय समाज को एक सभ्यता के रूप में समझाने की कोशिश करता है जिसके पूरे हिस्से या विभाजन, सांस्कृतिक निरंतरता, मिश्रण या एकीकरण के माध्यम से परस्पर जुड़े हुए हैं।

सभ्यता शब्द का उपयोग आम तौर पर एक अत्यधिक जटिल रूप में किया जाता है, इसके उलट अपेक्षाकृत सरल है संस्कृति। सभ्यात्मक दृष्टिकोण के अनुयायी 'सभ्यता' शब्द का उपयोग एक ऐतिहासिक वास्तविकता को संदर्भित करने के लिए करते हैं जो समय के साथ विकसित आकार ले चुकी है। आवश्यक रूप से, ऐतिहासिक और आगमनात्मक तरीकों का उपयोग इस दृष्टिकोण के प्रवक्ताओं के कार्यों की विशेषता है। यह समझ में आता है कि सभ्यता की प्रक्रिया में बहुधा समाज की संरचना और संस्कृति में क्रमिक और स्थिर परिवर्तन होते हैं जो मिश्रित और जटिल संस्थानों, मान्यताओं और प्रथाओं के विकास के माध्यम से होते हैं। दूसरे शब्दों में, सभ्यात्मक दृष्टिकोण से, एक सभ्यता का एक महत्वपूर्ण अतीत होता है जबकि इसका वर्तमान संस्कृति और संरचना की जटिलताओं को दर्शाता है। इसलिए, इस दृष्टिकोण के अनुयायी एक सामाजिक–व्यवस्था और एक राष्ट्र को एक ऐतिहासिक–सभ्यता के फ्रेम से विश्लेषित करने का प्रयास करते हैं और अपने सामाजिक संस्थानों, प्रथाओं और संबंधों (जैसे जाति, जनजाति, गाँव, भूमि संबंध) के कथनों में texual और क्षेत्र के दृष्टिकोण से गहराई में उतरने का प्रयास करते हैं। ज्ञान के ऐसे मूल्यवान और समृद्ध स्रोतों का संयोजन इस तरह के विश्लेषण को प्रबुद्ध और आकर्षक बनाता है।

सभ्यात्मक दृष्टिकोण को पहली बार शिकागो विश्वविद्यालय के रॉबर्ट रेडफील्ड (1930) ने मैक्सिकन ग्राम समुदाय के अपने अध्ययन में डिजाइन किया था, जिसने लोक समाज के आदर्श–विशिष्ट निर्माण की रूपरेखा तैयार की। रेडफील्ड के अनुसार, लोक समाज छोटे, पृथक, गैर–साक्षर और सामाजिक रूप से सजातीय हैं। एक मजबूत समूह एकजुटता, नातेदारी और एक सामान्य संस्कृति परंपरा और धर्म में निहित है। उन्होंने इस प्रकार एक गांव या छोटे समुदाय (1955) को चार विशेषताओं द्वारा परिभाषित किया– (क) विशिष्टता, (ख) लघुता, (ग) समरूपता और (घ) आत्मनिर्भरता। इसके विपरीत, शहरी समाजों की विशेषताएं हैं– अलगाव, विषमता, सामाजिक अव्यवस्था, धर्मनिरपेक्षता और व्यक्तिवादी। इसके बाद, उन्होंने सुझाव दिया कि शहरी–आधारित सभ्यता का प्रसार लोक समाजों को बदलता है और व्यक्तिगत बस्तियों को विकासवादी 'लोक–शहरी सातत्य' के साथ रखा जा सकता है।

रेडफील्ड के आदर्श प्रकार औद्योगिक–शहरी और पूर्व–औद्योगिक समाजों के बीच एक अंतर का विस्तार करते हैं। हेनरी मेन फर्डिनेंड टोननीज और एमिल दुर्खीम जैसे समाजशास्त्री पहले इसका अनुमोदन कर चुके थे। उनके काम ने ग्रामीण समाजशास्त्र और सामुदायिक अध्ययनों को बहुत प्रभावित किया। बाद में मिल्टन सिंगर के साथ–साथ शिकागो विश्वविद्यालय के मैककिम मैरियट ने भारतीय सभ्यता के आयामों के रूप में भारत में लोक और शहरी समुदायों को समझने के लिए सैद्धांतिक

और पद्धतिगत दृष्टिकोण दिया। रेडफील्ड के मॉडल के बाद, सिंगर और मैरियट ने भारतीय गाँव की 'छोटी और महान परंपराओं' के वैचारिक ढांचे का निर्माण किया।

टिप्पणी

सभ्यात्मक दृष्टिकोण मानता है कि सभी समाज सांस्कृतिक संगठन के प्राथमिक या रूढ़िवादी स्तर से शुरू होते हैं, और समय के साथ आंतरिक विकास के माध्यम से विविधतापूर्ण होते हैं। इस परिप्रेक्ष्य के बाद, कोई भी दावे के साथ कह सकता है कि भारतीय सभ्यता अपने लोक या जनजातीय अतीत से लेकर वर्तमान शहरी स्थिति तक, अपने सामाजिक और सांस्कृतिक संगठनों में अंतर–संपर्क और जटिलताओं के विकास के माध्यम से निरंतरता का प्रतिनिधित्व करती है।

सिंगर का यह भी मानना था कि अंतिम चरण में इस तरह के इंटर–लिंकेज संस्कृति के वैश्विक और सार्वभौमिक पैटर्न में परिणत होते हैं, खासकर सभ्यताओं के बीच बढ़ते क्रॉस–कॉन्टैक्ट के जरिए। मैरियट (1955) ने आगे बढ़ते हुए यह दिखाया कि लघु (little) और महान (great) परंपराएं न केवल अंतःक्रिया करती हैं बल्कि भारत में अन्योन्याश्रित हैं और आधुनिक बलों को न केवल स्वीकार किया जाता है, बल्कि जीवन के पारंपरिक तरीकों द्वारा अवशोषित किया जाता है। लघु परंपरा के सांस्कृतिक तत्वों की महान परंपरा के स्तर तक पहुँचने की इस 'ऊपर की गतिशीलता' की प्रक्रिया को संदर्भित करने के लिए मैरियट ने 'सार्वभौमिकरण' शब्द का इस्तेमाल किया और महान परंपरा के सांस्कृतिक तत्वों को छोटी परंपरा के स्तर तक पहुँचने की इस 'नीचे की ओर गतिशील' होने की प्रक्रिया को संदर्भित करने के लिए 'पैरोकीकरण' (Parochialzation) शब्द का इस्तेमाल किया।

बोस और सिन्हा ने भारतीय समाज और संस्कृति के लिए सभ्यात्मक दृष्टिकोण को विकसित किया, हालांकि अलग–अलग बिंदुओं से। बोस ने कुछ अलग 'जनजाति–हिंदू सातत्य मॉडल' का पालन किया जबकि सिन्हा, रेडफील्ड और सिंगर के बाद 'जनजाति–जाति–किसान सातत्य' मॉडल के साथ आगे आए। शिकागो मानवविज्ञानी से प्रेरणा के बाद, बोस ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में सांस्कृतिक नृविज्ञान को पुनर्जीवित किया। परंपरागत रूप से, सांस्कृतिक मानवविज्ञानी ने एक विशेष संस्कृति के पूरे जीवित पैटर्न का विश्लेषण करने और सामाजिक जीवन के अंतर–गटबंधन को खोजने का प्रयास किया है। मानव विज्ञानी फ्रांज बोस के प्राकृतिक इतिहास के दृष्टिकोण से प्रेरित होकर बोस व सिन्हा भारतीय समाज की जड़ें तलाशने में रुचि रखने लगे।

बोस और सिन्हा (बर्नार्ड एस. कोहन, डी. एन. मजूमदार, पी. के. भौमिक, एल. पी. विद्यार्थी और अन्य के साथ) दोनों का मानना था कि भारतीय सभ्यता मूल रूप से यूरोप की सभ्यता से अलग है। उन्होंने कुछ मतभेदों के बावजूद लचीलापन और सामान्यता विकसित करने के लिए भारतीय सभ्यता की पारंपरिक सामाजिक संरचना की रचनात्मक क्षमताओं पर जोर दिया।

भारतीय सभ्यता यूरोप के विपरीत, सांस्कृतिक बहुलवाद के विकास के लिए अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण स्थितियों से बढ़ी। इसलिए इसने विभिन्न संस्कृतियों को प्रोत्साहित किया भले ही इसने आर्थिक संगठनों के माध्यम से सभी समुदायों को अन्योन्याश्रय के नेटवर्क के रूप में बुना हो। बोस ने यह समझाने का प्रयास किया है कि भारत के क्षेत्रों (जैसे उत्तर/दक्षिण) या राज्यों में जो लोग भाषा या पारिस्थितिकी के माध्यम से मतभेद पैदा करते हैं वास्तव में भौतिक संस्कृति के कई तत्वों को साझा करते हैं। इसलिए, भारतीय सभ्यता की अनिवार्य विशेषता उसका अस्तित्व बनने के बजाय उसका तनाव

टिप्पणी

है। भारत की सांस्कृतिक एकता, एन. के. बोस के अनुसार, इसके विभिन्न रीति–रिवाजों, संस्कारों, संस्थाओं और प्रथाओं के माध्यम से एक पिरामिड की तरह परिलक्षित होती है, जहां जीवन के भौतिक आधार पर मतभेद अधिक प्रमुख हैं और जैसे–जैसे एक के ऊपर एक बढ़ते है मतभेद उत्तरोत्तर कम होते हैं। भारतीय सभ्यता के इस आंतरिक सांस्कृतिक सार का अध्ययन सामाजिक वैज्ञानिकों की जिम्मेदारी है।

3.4.1 निर्मल कुमार बोस

सामाजिक नृविज्ञानी (सोशल एंथ्रोपोलॉजिस्ट) निर्मल कुमार बोस गांधीवादी विद्वानों में से एक हैं। राजनीतिक गतिविधियों में व्यस्त रहने के बावजूद, उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। बोस अग्रणी भारतीय सामाजिक नृविज्ञानियों में से एक थे, जो फ्रांज बोस के साथ इस बिन्दु पर खड़े थे कि भाषा, नस्ल और संस्कृति स्वतंत्र और फिर भी ऐतिहासिक रूप से जुड़े चर हैं। एक प्रकार्यवादी (फंक्शनलिस्ट) के रूप में बोस ने संस्कृति को समझने के लिए मालिनोवस्की के प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण का बहुत ही अनुकूल रूप से जवाब दिया।

अपनी पुस्तक 'ऑन कल्चरल एंथ्रोपोलॉजी' (1929) में उन्होंने स्वतंत्र रूप से संस्कृति की प्रकृति को जो अनुकूली उपकरण के रूप में 'संस्कृति की आत्मा' के चारों ओर व्यवस्थित रहता है, को परिभाषित करने में एक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण लिया है। लेकिन उन्होंने प्रकार्यात्मकवादियों की ऐतिहासिकता को खारिज कर दिया और एक सुसंगत स्थिति ले ली कि सांस्कृतिक नृविज्ञान का उचित डोमेन सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया का एक कार्यात्मक अध्ययन है। हालांकि इनकी पुस्तक में एक स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है– 'संस्कृति का अनुकूली कार्य' और 'संस्कृति की आत्मा'। एन.के. बोस के अनुसार– "प्रत्येक व्यक्ति पृथ्वी पर जीवन का अपना संक्षिप्त समय व्यतीत करता है। वह जरूरतों और इच्छाओं के अधीन है जो अधिक या कम सीमा के समूहों के साथ सहयोग में संतुष्ट हैं, जबकि उसकी प्रेरणाओं को मूल्यों और पैटर्न के अनुरूप ढाला जाता है जो उसके समय में वर्तमान हैं।"

1947–48 के दौरान लिखी गई बोस की महान कृति – Hindu Samajer Garan (in Bengali) (द स्ट्रक्चर ऑफ हिंदू सोसाइटी) में भारतीय समाज की पेचीदगियों को समझने और विश्लेषण करने के लिए एक सभ्यतागत दृष्टिकोण विकसित किया गया है। इस पुस्तक में बोस ने हिंदू समाज को संगठित करने वाले सिद्धांतों की पहचान करने की कोशिश की, जो कारक सदियों से इसकी निरंतरता सुनिश्चित करते थे और जिन बलों द्वारा इसे अंततः कमजोर किया गया था। यह स्पष्ट रूप से बोस की दलील के कारण था। आंद्रे बेते कहते हैं कि इतना बड़ा काम अकेले किया गया। उन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति के समग्र दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए एक ही ढांचे में नृवंशविज्ञानियों, भारतविदों और सामाजिक इतिहासकारों के दृष्टिकोण को संयोजित करने का प्रयास किया है। बेते ने बोस के Hindu Samajer Garan रचना के अनुवाद के 'परिचय' में लिखा है कि बोस, एक मानवविज्ञानी ने अपने कैरियर में हिंदू सभ्यता के विशाल पैमाने को काफी पहले ही पहचान लिया था और महसूस किया कि इसे समझने के लिए ऐसे मानवविज्ञानी की आवश्यकता होगी जिसके पास उत्तरी अमेरिका, मेलनेशिया या ऑस्ट्रेलिया में आदिवासी समुदायों के अध्ययन के लिए लागू दृष्टिकोणों से परे दृष्टिकोण हो।

टिप्पणी

1940 के अंत में देश में राष्ट्रवादी आंदोलन के व्यापक संदर्भ में संस्कृत विचारों की शास्त्रीय विरासत के साथ फील्डवर्क को संयोजित करने के लिए बोस के प्रयास ने उन्हें Hindu Samajer Garan लिखने के लिए प्रेरित किया था। लगभग एक दशक बाद ड्यूमॉ और पोकॉक ने भारतीय समाज के अध्ययन में नृविज्ञान और इंडोलोजी को एक साथ लाने पर जोर दिया। छोटानागपुर जनजाति पर जानकारी रखने वाले महान शरत चंद्र रॉय, साथ ही साथ महात्मा गांधी के विचारों और दर्शन ने बोस की सोच को बहुत प्रभावित किया। फिर भी, भारतीय परंपरा की विशिष्टता और निरंतरता के बारे में बोस के विचार मौलिक थे और ये भी प्रमुख भारतीय समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवविज्ञानियों द्वारा गूँज रहे थे जिनमें जी. एस. घुर्ये, डी. पी. मुकर्जी, ए.के. सरन और एम. एन. श्रीनिवास प्रमुख थे। निर्मल कुमार बोस का जन्म कलकता में 22 जनवरी, 1901 को और निधन 15 अक्टूबर, 1972 को हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा बिहार, बंगाल और ओडिशा के विभिन्न विद्यालयों में हुई।

पद्धतिशास्त्र : बोस ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को समझने के लिए नृजातीय शास्त्र, भारत शास्त्र और सामाजिक इतिहास का समन्वय स्थापित किया। ऐतिहासिक एवं निगमन पद्धति का उन्होंने प्रयोग किया। मैलीनास्की के प्रकार्यात्मक उपागम का प्रयोग भी उन्होंने किया।

आदिवासी जीवन पर नृजातीय अध्ययन

बोस ने अपने करियर की शुरुआत उड़ीसा के जुआँग आदिवासी समूह पर गहन फील्डवर्क के साथ की थी। उन्होंने छोटा नागपुर के आदिवासी इलाकों की भी बड़े पैमाने पर यात्रा की और भारत में आदिवासी समुदायों की प्रकृति और व्यापक समाज के साथ उनके संबंध को दर्शाने के लिए चुनिंदा तरीका इस्तेमाल किया। कुछ व्यापक चरणों के माध्यम से सरल समुदायों के विकास के लोकप्रिय विकासवादी मॉडल का पीछा करते हुए उन्होंने तर्क दिया कि भारत में आदिवासी समाज भी एक तरह का नहीं है और परिणामस्वरूप व्यापक समाज के साथ उनका संबंध अलग–अलग होता है। बोस ने इस तरह के विकास को निर्धारित करने में दो केंद्रीय कारकों को महत्व दिया– (क) तकनीकी विकास का स्तर जिससे एक समुदाय उजागर होता है और (ख) उनके भौगोलिक और सामाजिक अलगाव का स्तर। उनका मानना था कि भारत में कई आदिवासी समूहों को वर्गीकृत करने का सबसे अच्छा तरीका भाषा, धर्म या नस्ल से नहीं, बल्कि आजीविका के तरीके से है।

उड़ीसा के कुछ दूरस्थ पहाड़ी आदिवासियों– जुआंगों, सवाराज और पौड़ी भुइयों के बारे में पता चलता है कि उनकी आजीविका का तरीका शिफ्टिंग खेती पर आधारित था और उन्होंने प्रभावशाली ब्राह्मणवादी सभ्यता के साथ कम से कम निकटता बनाए रखी। भले ही इन दूरदराज के आदिवासी समुदायों ने भौगोलिक और सामाजिक अलगाव का एक स्तर बनाए रखा और इसके परिणामस्वरूप उनकी प्रौद्योगिकी का स्तर विकसित नहीं हो सका वे भी हिंदू सभ्यता की छाया में सदियों तक जीवित रहे।

वैष्णव साहित्य के अपने ज्ञान और मंदिरों के फैलाव के साथ उनकी नजदीकियों का उपयोग करते हुए, बोस ने दावा किया कि भारत में सदियों से 'आदिवासी' और 'गैर–आदिवासी' समूह एक–दूसरे की आपसी जागरूकता में रहते हैं। बोस ने गैर–आदिवासी सामाजिक संगठन के रूप को 'ब्राह्मणवादी' रूप वाला संगठन कहा

टिप्पणी

जिसका एक बेहतर तकनीकी आधार है और आदिवासी के सामाजिक संगठन की तुलना में इस संगठन का रूप बड़े पैमाने वाला और अधिक जटिल है। आदिवासी तेजी से मैदानों के उन्नत लोगों के संपर्क में आए और बेहतर तकनीकी आधार से इनसे प्रभावित हो गए क्योंकि उनकी सरल तकनीक भूमि पर जनसंख्या के दबाव का सामना करने में असमर्थ थी। बोस ने घुर्ये के विपरीत, ब्राह्मणवादी सभ्यता की श्रेष्ठ राजनीतिक शक्ति या धार्मिक ताकत के बजाय उनकी उच्च तकनीकी और आर्थिक दक्षता पर बल देते हुए आदिवासी समुदायों का ध्यान इस ओर आकर्षित करने पर बल दिया।

हिंदू सामाजिक व्यवस्था के भीतर सभी समुदायों के विशिष्ट रीति–रिवाजों और व्यवसायों के एक पदानुक्रमित संरचना के भीतर चलन के अधिकार ने आकर्षण बढ़ाया। बोस आदिवासी समूहों को हिन्दू धर्म में शामिल करने की प्रक्रिया की व्याख्या गैर–आर्थिक विचार के आधार पर देना चाहते थे। दूसरे शब्दों में, हिंदू समाज की संपूर्णता की किसी भी समझ के लिए न केवल उसकी तकनीक के स्तर को ध्यान में रखना चाहिए, बल्कि डिजाइन पर भी सोचना चाहिए जिसके द्वारा आर्थिक संबंधों को संगठित किया जाता है। इस प्रकार, बोस ने तकनीकी या आर्थिक निश्चयवाद (determinsim) के सभी रूपों को खारिज कर दिया और आर्थिक और सामाजिक संगठन के आदर्शों या कुछ सिद्धांतों के संदर्भ में सामाजिक जीवन की व्याख्या करने की मांग की। आंद्रे बेते का तर्क है कि सामूहिक जीवन की विविधता और समृद्धि और मानव रचनात्मकता में उनकी आस्था के लिए उनके मूल्यांकन की पुष्टि 'द स्ट्रक्चर ऑफ हिंदू सोसाइटी' में बहुत प्रभावशाली रूप से होती है।

जैसे कि 'सांस्कृतिक' और 'गैर–सांस्कृतिक' तत्व जुआँग के अनुष्ठानों में समान रूप से पहचाने जाते हैं, बोस ने सवाल उठाया कि क्या इन समुदायों को हिंदुओं के रूप में माना जाना चाहिए या नहीं। लोकप्रिय रूप से, उन्हें गैर–आर्यों के रूप में वर्गीकृत किया जाता है जो हिंदू धर्म के अंदर आते हैं। इस प्रकार, जुआंगों ने एक हिंदू देवी की पूजा शुरू कर दी थी, हालांकि आमतौर पर आदिवासी तरीके से। जुआंग गाँव में कई समारोहों में ब्राह्मणवादी संस्कृति के प्रभाव को भी देखा जा सकता है। स्नान करना, उपवास करना, हल्दी का उपयोग, धूपबत्ती और धूप में सुखाए गए चावल का उपयोग, लक्ष्मीदेवता व ऋषिपत्नी जैसे शब्दों का नवाचार, इसके विपरीत, पुजारियों और औपचारिक प्रार्थना की अनुपस्थिति, मुर्गा बलि, बरम्बुरा–बरम्बुरी की पूजा, एक अलग भाषा, विवाह और अंतिम संस्कार के रीति–रिवाज, गोमांस खाना आदि एक स्वायत्त, गैर–हिंदू लोक संस्कृति के गवाह हैं। इसलिए हिंदू समाज की अपनी जटिल जाति संरचना और हाशिये पर स्थित जुआंगों और इनके जैसे आदिवासी समुदायों के बीच एक व्यापक अंतर करना चाहिए, जिन्होंने श्रम के ऐसे विभाजन को नहीं बनाए रखा।

बोस के अनुसार यह बहुत स्पष्ट है कि ये हाशिये पर रखे गए समुदाय सिर्फ 'पिछड़े हिंदू' (Backward Hindus) नहीं थे, यह शब्द जी. एस. घुर्ये द्वारा प्रतिपादित एक शब्द था। बोस ने गैर–जनजातियों के साथ जनजातियों के किसी भी प्रकार के पूर्ण और जबरदस्त एकीकरण का पक्ष नहीं लिया, क्योंकि वे जानते थे कि मुंडा या उरांव जैसे विकसित समूहों ने भी पूरी तरह से अपनी पहचान को खत्म नहीं किया। बोस ने सामाजिक संगठन के दो रूपों के सह–अस्तित्व और अंतर्विरोध को मान्यता दी और यह विश्वास नहीं किया कि प्रभुत्व हिंदू या ब्राह्मणवादी व्यवस्था पूरी तरह से लोक या स्थानीय आदिवासी संस्कृति को ग्रहण करेगी। इस तरह के विश्लेषण 19वीं सदी के

उत्तरार्ध में आदिवासी पहचान (और इसी तरह की अन्य जातीय और स्थानीय पहचान) के उदय और विकास को समझाने की क्षमता रखते हैं।

टिप्पणी

बोस ने छोटानागपुर के दो मुख्य आदिवासियों अर्थात् मुंडा और ओरांव के बारे में भी अध्ययन किया। ये आदिवासी समूह न केवल आकार में बड़े थे, बल्कि उन्होंने ग्राम संगठन के एक अधिक जटिल पैटर्न के साथ मिलकर तकनीकी विकास के उच्च स्तर का प्रतिनिधित्व भी किया। बोस ने देखा कि मुंडा भाषा आर्य परिवार की भाषाओं का हिस्सा नहीं है; लेकिन अभी तक लंबे जुड़ाव के परिणामस्वरूप, कई हिंदी शब्दों को थोड़ा संशोधित रूप में शामिल किया गया है। मुंडाओं ने विभिन्न जातियों के बीच घनिष्ठ संबंध के परिणामस्वरूप विकसित ब्राह्मणवादी समाज के उत्पादक संगठन की श्रेष्ठ प्रणाली को भी स्वीकार किया है। मुंडा गाँवों को आमतौर पर khuntkattidars के परिवारों के बीच विभाजित किया जाता है जो लोहारों, बुनकरों और टोकरी निर्माताओं की तुलना में जमीन के मामले में ज्यादा अधिकार और ज्यादा प्रतिष्ठा का दावा रखते हैं। जुआंगों की तरह, मुंडा भी हल्दी, विनिमय सिंदूर (दुल्हन और दुल्हन द्वारा) और धार्मिक समारोहों के दौरान उपवास और स्नान करते हैं। पंच–परगना के निवासी मुंडाओं में से कुछ ने वैष्णव धर्म को अपनाया है। कुल मिलाकर, वे खुद को एक किसान जाति के रूप में मानने लगे थे और जाति खोने के डर से, उन्होंने या तो तेली, बड़ई, लोहार की परंपराओं से हाथ खींच लिया या कार्य प्रक्रिया में संशोधन किया। उन्होंने सूत बोना और सूत कातने के साथ सूत बनाना सीखा। उन्होंने कोलस के अधिक विस्तृत तेल प्रेस को अपनाया। लेकिन चूंकि हिंदू समाज में कोलस को कम दर्जा दिया गया था, मुंडाओं ने काम को अंजाम देने के लिए बैलगाड़ियों से परहेज किया और अपनी खुद की महिलाओं को शामिल किया। इसके परिणामस्वरूप मुंडा समाज में जाति की तरह ही भेद या पदक्रम स्थापित हो गया। उदाहरण के लिए, खेती करने वाले मुंडा खुद को दूसरी खेती करने वाली जातियों के बराबर और दूसरे कई शिल्पियों और हस्तकरधा पेशेवरों को नीचा समझने लगे। इसी प्रकार मुंडा राजा ने क्षत्रियों का दर्जा प्राप्त किया। पंच–परगना के मुंडा जिन्होंने ब्राह्मणवादी प्रभाव के बाद अपने रीति–रिवाजों को संशोधित किया उन्हें 'शुद्ध मुंडा' और गोमांस खाने वाले मुंडाओं को 'मुंडारी' या 'उराम–मुंडा' कहा जाता है।

'शुद्ध मुंडाओं' का यह भी मानना था कि वे सैंडिल वंश (Clan) के हैं और ऋषि सांडिल्य उनके पूर्वज थे। इस तरह, कोल भाषी मुंडा सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए हिंदू समाज का हिस्सा बन गए, भले ही भूमि अधिकार या सामाजिक व्यवस्था के मामले में वे हिंदू जातियों से काफी भिन्न थे। उन्होंने अपने प्राचीन ग्राम देवताओं की पूजा को भी नहीं छोड़ा और महादेव के लिए पशु बलि के एक गैर–ब्राह्मणवादी रिवाज का पालन करना पसंद किया। यह आश्चर्यजनक है, सैंडिल वंश के मुंडा सदस्य एक–दूसरे से शादी कर सकते हैं, आमतौर पर हिंदुओं के बीच यह निषिद्ध है। यह इस तथ्य के कारण था कि अलग–अलग वंश (Clan) से संबंधित मुंडाओं ने हिंदू के रूप में अपनी पहचान बनाने के प्रयास में सैंडिल गोत्र की सदस्यता का दावा किया।

इस तरह के एक विशाल क्षेत्र के अनुभव के आधार पर, बोस ने निष्कर्ष निकाला कि जुआंगों, सवाराज और पौड़ी भुईयों की तुलना में, मुंडों और ओरांव पर आर्य या ब्राह्मणवादी सभ्यता का प्रभाव अधिक गहरा था। लेकिन पिछली कुछ शताब्दियों के दौरान ऐसे सभी आदिवासी अपने जंगलों की छाया से निकलकर अन्य समुदायों के

टिप्पणी

साथ आर्थिक और सांस्कृतिक संबंधों में प्रवेश कर गए। इस तथ्य के बावजूद उन्होंने अपनी भाषाई पहचान को आज भी बरकरार रखा है और अपने स्थानीय रीति–रिवाजों और आदतों को भी जारी रखा है। बोस ने वर्णाश्रम प्रणाली में अन्य समुदायों के लिए स्थान खोजने की इस सदियों पुरानी प्रक्रिया को 'हिंदू पद्धति का आदिवासी अवशोषण' कहा।

इस तरह के अवशोषण के कारण कई लोगों ने व्यापक हिंदू समाज को फलने–फूलने और समृद्ध करने के लिए अपनी व्यक्तिगत पहचान लगभग छोड़ दी है। बोस के अनुसार, इस पद्धति की विशिष्टता यह है कि यह हाशिये पर के समुदायों को उनके सभी विशेष रिवाजों को छोड़ने की आवश्यकता के बिना हिंदू समाज का हिस्सा बनने में सक्षम बनाती है। इसलिए, बोस के अनुसार भारतीय सभ्यता की किसी भी समझ और विश्लेषण को संज्ञान में लेना चाहिए जैसे कि दो अलग–अलग संस्कृति के बीच अंतर–क्रिया, यदि विरोध नहीं किया गया तो। एम. एन. श्रीनिवास ने बाद में अवशोषण की इस प्रक्रिया को 'संस्कृतिकरण' कहा। इस प्रकार बोस ने न केवल भारतीय समाज में सांस्कृतिक बहुलता के एक निश्चित पैटर्न का खुलासा किया, बल्कि पैटर्न के पीछे के सिद्धांत का भी विश्लेषण किया।

यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि बोस ने स्वतंत्र भारत में आदिवासी–गैर आदिवासी बातचीत के अपने मूल्यांकन को संशोधित किया। बोस ने अपने जीवन के अंतिम समय में लिखते हुए जोर दिया कि 'भारत में उत्पादन के तीन से चार अलग–अलग तरीके मौजूद हैं और व्यावहारिक रूप से अंडमान द्वीप समूह के जारवा और सेंटीनीलीज' (Sentinelese) को छोड़कर सभी आदिवासी किसी तरह से इनमें से एक उत्पादक प्रणाली को अपना चुके हैं। कुछ ने शिकार करना और बीनना छोड़ दिया है और हल का उपयोग करते हुए किसान की तरह या नीचे के स्तर के कारीगरों के रूप में बस गए हैं। अन्य लोग झूम खेती की अपनी प्राचीन प्रणाली और सीमांत क्षेत्रों में बीनने के काम में लगे हैं। तीसरे भाग के अंतर्गत लोगों को व्यावहारिक रूप से बागानों, खानों और कारखानों में काम करने वाले मजदूरों में बदल दिया गया है, जहाँ वे आमतौर पर अकुशल नौकरियों में कार्यरत होते हैं।

स्वतंत्र भारत में आदिवासी जीवन में परिवर्तन के स्पेक्ट्रम ने भी बोस का ध्यान आकर्षित किया। इसलिए उन्होंने लिखा है कि अतीत में आदिवासियों का गैर–आदिवासियों के साथ संपर्क आमतौर पर धीमा था और कई पीढ़ियों तक चला था। ऐसे मामलों में जहां वे गैर आदिवासी की सामाजिक प्रणाली में पूरी तरह से शामिल नहीं थे और तुलनात्मक रूप से बड़ी संख्या में रहने में सक्षम थे, उन्होंने अपनी आर्थिक संबंधों में आमूल–चूल बदलावों के बावजूद अपनी भाषा और सामाजिक और धार्मिक संस्थानों को बरकरार रखा । लेकिन हाल के दिनों में, बड़े पैमाने पर उत्पादन की औद्योगिक प्रणाली के साथ कई आदिवासी समुदायों का संपर्क तेज हुआ है। यह अनिवार्य रूप से बड़े तनाव और थकान का कारण बना है; इस तथ्य के कारण कि किसान अपने आर्थिक उत्पादन पर लगभग सभी नियंत्रण खो चुके हैं।

आदिवासी लोगों ने यथासंभव अपने स्वयं के सांस्कृतिक अतीत की एक सुधारित विविधता के लिए अपनी 'आत्माओं' को बचाने की कोशिश की है। बोस ने आर्थिक संगठन और आबादी के विभिन्न क्षेत्रों के बीच के आपसी विश्वास और आत्मसात के

टिप्पणी

माध्यम से एकता और संतुलन के पुराने पैटर्न को नष्ट होने से परेशानी महसूस की। एक पुरानी सभ्यता को पुनर्जीवित नए राष्ट्र में बदलने की समस्या के साथ उनकी चिंता ने उन्हें विभिन्न समुदायों की अलग–अलग संस्थाओं को बनाए रखते हुए विविधता और संस्कृतियों की बहुलता के लिए बहस करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने भारत की अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के पिछड़ेपन के प्रशासनिक वर्गीकरण के सांप्रदायिक आधार के खिलाफ एक मजबूत मोर्चा भी लिया। बल्कि उन्होंने सुझाव दिया कि आधुनिक भारत में राजनीतिक शक्ति मेहनतकश लोगों तक फैलानी चाहिए चाहे वे किसी जाति और समुदाय के हों और यह देश के लिए प्राथमिक कार्य के रूप में निर्धारित करना चाहिए।

जातिगत समाज की रचना

बोस ने हिंदू समाज के डिजाइन के बारे में अपने विचारों की व्याख्या करने के लिए इंडोलॉजी का भी सहारा लिया। उन्होंने इस प्रयास के लिए बौद्ध ग्रंथों सहित महाकाव्यों, मनु–स्मृति जैसे प्राचीन ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया। इस तरह के अध्ययन ने एक विचार को मजबूती से पुष्ट किया कि हिंदू समाज का निर्माण युगों से विभिन्न समुदायों के एकीकरण द्वारा हुआ है। पारंपरिक रीति–रिवाजों के शुद्धिकरण द्वारा हिंदू समाज का हिस्सा बनने का प्रयास केवल मुंडाओं या ओराव के बीच ही सीमित नहीं था बल्कि यह कई जाति समूहों और रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों के बीच देखी गई एक सामान्य प्रक्रिया थी जो इनके अनुभवों की गवाही देती है।

बोस ने रामायण की एक कहानी के हवाले से यह साबित किया कि निचली जातियों ने द्विज जाति की प्रथाओं को अपनाने का अधिकार हासिल किया। इसी प्रकार, महाभारत से हमें विभिन्न समुदायों के वर्ण व्यवस्था में शामिल होने के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। बोस के श्रुति और मनु स्मृति के अध्ययन ने उन्हें यह तर्क देने के लिए प्रेरित किया कि चतुरवर्ण प्रणाली मानव समाज सहित विभिन्न प्रकार की घटनाओं को चार अलग–अलग श्रेणीबद्ध वर्गों में विभाजित करने के लिए एक विशेष विधि थी।

बोस ने यह भी दिखाया कि सामाजिक रीति–रिवाजों या व्यावसायिक तकनीकों में बदलाव के माध्यम से एक ही जाति के भीतर कैसे नई उपजातियां उभरीं। बोस ने जाति व्यवस्था की व्याख्या करते हुए ईश्वरीय उत्पत्ति, पुनर्जन्म और पवित्रता और अपवित्रता की धारणा को खारिज कर दिया। इसके बजाय उन्होंने प्रकार्यात्मकवादी दृष्टिकोण का समर्थन इस विचार से किया कि गैर–प्रतिस्पर्धी, वंशानुगत, व्यवसाय–आधारित उत्पादक संगठन द्वारा विशेष रूप से निम्न जाति के लोगों को प्रदान किए गए व्यावसायिक और सांस्कृतिक सुरक्षा के सकारात्मक 'कार्यों' के कारण, पारंपरिक भारत में जाति व्यवस्था स्थिर हो गई। प्रक्रियात्मक विशिष्टताओं के आधार पर उप–जातियों के गठन पर घुर्ये की चर्चा भी इसी तरह की प्रवृत्ति के कारण हुई। जाति संरचना के भीतर सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तनों की कुछ प्रक्रियाओं को निर्दिष्ट करने के लिए बोस को श्रेय देने कि जरूरत है जो बाद में श्रीनिवास जैसे समाजशास्त्रियों के लिए चिंता का विषय बन गया। उन्होंने एक जटिल लेकिन एकीकृत हिंदू समाज की पेंचीदगियों को 'विविधता में एकता' पैटर्न द्वारा निर्धारित, एक तस्वीर भी प्रदान की।

हालांकि, बोस ने यह नहीं सोचा कि अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर भारतीय समाज की संरचना में सहयोग और अंतर–निर्भरता का आदर्श समाजवाद या 'आदिम साम्यवाद' का उदाहरण है, क्योंकि उनके ऐसा मानने का कोई कारण नहीं था।

टिप्पणी

ब्राह्मणवादी समाज पूरी तरह से समतावादी था। इसके विपरीत, ब्राह्मणों के बुरे डिजाइन के कारण निचली जाति के लोग उच्च शिक्षा के अवसरों और धार्मिक बलि चढ़ाने के चलन से वंचित थे। विरोध या विद्रोह के ऐसे गंभीर कारणों के बावजूद, हिंदू समाज एकजुट रहा।

बोस ने जाति व्यवस्था के मूल में एक पारिस्थितिक ज्ञान की खोज की। उनका यह मत था कि 'मनुष्य समाज के अधीन है'। लोहार, कुम्हार, धोबी, नाई, ब्राह्मण या ज्योतिषी अपने–अपने निर्धारित तरीके से समाज की सेवा करके अपना जीवन यापन करते हैं। वे समाज में जाते हैं और समाज उनकी ओर जाता है। अधिकार और दायित्व अटूट हैं। गाँव कई मानों में पारंपरिक व्यवस्था में आर्थिक संगठन की मूल इकाई था और इसलिए जब तक वर्ण व्यवस्था के भीतर श्रम का विभाजन काफी हद तक समान रहा, बड़े समाज ने उसी मूल डिजाइन को बनाए रखना जारी रखा। अंग्रेजों के आगमन के बाद इस व्यवस्था की नींव हिल गई और बाधित हो गई।

सामाजिक परिवर्तन

बोस के सामाजिक इतिहास के विश्लेषण ने उन्हें उस प्रक्रिया को समझने के लिए प्रेरित किया जिसके माध्यम से ब्रिटिश शासन के दौरान हिंदू समाज की संरचना बदलने लगी थी। उन्होंने स्वीकार किया कि मुस्लिम शासन ने भारतीय समाज में कुछ बदलाव किए हैं। कुछ नए शिल्प पेश किए गए थे, लेकिन ये मुख्य रूप से कस्बों और शहरों तक ही सीमित थे और यहां तक कि जब वे ग्रामीण क्षेत्रों में प्रवेश करते थे, तो वे गांव में आर्थिक संगठन के बुनियादी पैटर्न में बदलाव नहीं करते थे। मुस्लिम शासक एक नई धार्मिक विचारधारा लाए लेकिन वे समाज के आर्थिक संगठन के लिए कोई नया डिजाइन नहीं लाए।

जिन सिद्धांतों पर हिंदू समाज संगठित था उन्हें भी भीतर से सवालों के घेरे में खड़ा किया गया। बोस ने प्राचीन काल के बौद्ध धर्म के उदाहरणों और मध्ययुगीन काल के चौतन्य के भक्ति आंदोलन का हवाला देते हुए ऐसी चुनौतियों का उल्लेख किया। इन दोनों आंदोलनों ने जन्म और उनकी पदानुक्रम रैंकिंग के आधार पर जाति की सामाजिक स्थिति को अस्वीकार कर दिया। फिर भी वे प्रचलित सामाजिक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण सेंध लगाने में असफल रहे भले ही उन्होंने पुराने मूल्यों में जीवन के नए मूल्यों और ताकतों को उतारा।

ब्रिटिश शासन की शक्ति ने उत्पादन के हिंदू संगठन में मूलभूत परिवर्तनों की शुरुआत की। अंततः जो नई आर्थिक व्यवस्था वे लाये वह एक सामाजिक प्रणाली के डिजाइन को बदलने में सफल रही जिसने समय के साथ निरंतरता के एक उल्लेखनीय मानदंड को बरकरार रखा। व्यापारियों, कारखाने के मालिकों, मजदूरों या पेशेवरों जैसे नए वर्गों की वृद्धि ने भारतीयों के लिए सामाजिक और व्यावसायिक गतिशीलता की मांग को संभव बना दिया । इन शक्तियों से नए शहरों और कस्बों का उदय भी हुआ। उत्पादन की इस नई प्रणाली की 'भावना' हमारी पुरानी प्रणाली के विपरीत थी

टिप्पणी

और फिर जाति और व्यवसाय के बीच की असंगति शुरू हो गई थी। बोस ने इस तरह की असहमति साबित करने के लिए जनगणना के आंकड़ों का हवाला दिया। उनके अनुसार सबसे महत्वपूर्ण बदलाव कारीगरों की जातियों के बीच देखा गया, जिन्हें पारंपरिक हस्तशिल्प की गिरावट के परिणामस्वरूप नए व्यवसायों की ओर मुड़ना पड़ा। शिक्षित मध्यवर्ग की ऊर्ध्वगामी गतिशीलता की तुलना में, विशेष व्यवसायों पर किसी जाति के एकाधिकार के बिखराव का विशेष रूप से निम्न जाति के लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

बोस ने आधुनिक भारत में परिवर्तनों की विशेषता को समझने के लिए अपनी दृष्टि का विस्तार किया था। उनके लिए, नए आर्थिक और राजनीतिक संदर्भ जातियों के बीच एक बड़े सामाजिक आंदोलन के उदय के लिए अनुकूल थे। अतीत के सामूहिक हित के विपरीत स्वहित की वृद्धि हमारे जुनून को निर्धारित करती है। जाति पत्रिकाओं और अन्य दस्तावेजों के अध्ययन ने बोस को हमारे सामाजिक–राजनीतिक जीवन में जातिगत देशभक्ति और अनुभागीय दावों के उभरने का एहसास कराया। हालांकि बोस ने इस तरह के विकास पर खेद व्यक्त किया, लेकिन उन्होंने पुराने डिजाइन में नए समाज को आकार देने की कोई संभावना नहीं देखी। उसी समय, बोस के लिए, दोनों पूंजीवादी और विकास के समाजवादी मॉडल गंभीर दोषों से मुक्त नहीं थे। उन्होंने केवल यह महसूस किया कि यदि कोई अतीत की सामाजिक व्यवस्था में कुछ सकारात्मक विशेषताओं की खोज कर सके तो उनकी व्याख्या की जानी चाहिए और भविष्य के समाज को डिजाइन करने में उनका उपयोग करना चाहिए। चूंकि बोस सामाजिक विकास की किसी भी एक या निश्चित योजना के सख्त खिलाफ थे, इसलिए उन्होंने मानव भाग्य को निर्धारित करने में मिश्रित और कई हस्तक्षेपों की सराहना की। इसलिए उन्होंने लिखा, 'मानव जाति की एकता को जगह या समय से छिन्न–भिन्न नहीं किया जा सकता है।'

भारतीय सभ्यता में एकता और विविधता

बोस ने कहा कि भारतीय सभ्यता यूरोप की सभ्यता से एकदम अलग है। भारतीय सभ्यता, सांस्कृतिक बहुलवाद के एक पैटर्न पर आधारित थी और यूरोप की तुलना में अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण थी, यूरोप जो युद्ध के बार–बार के अनुभवों से गुजारा था। विदेशी शासक भारत में आए, लेकिन ब्रिटिश काल के आगमन तक पारंपरिक हिंदू सामाजिक संरचना की रचनात्मक क्षमता को नष्ट नहीं किया जा सका। इसलिए यह एक दिए गए ढांचे के भीतर भी संस्कृति की विविधता को प्रोत्साहित कर सकता है जो विभिन्न समुदायों को अन्योन्याश्रय के नेटवर्क में लाता है। भाषाई और क्षेत्रीय विभाजन के रूप में भारत के सांस्कृतिक विभाजन सर्वव्यापी हैं। फिर भी, बोस के लिए राज्य या क्षेत्र जो इस कसौटी पर अंतर रखते थे भौतिक संस्कृति के कई तत्वों को साझा करते थे।

बोस की रचनाएँ

मानवशास्त्र में बोस एक बड़ा नाम हैं। मयूरभंज में उन्होंने पुरातत्व सर्वेक्षण किया था और डी. सेन के साथ उन्होंने उस स्थान के पाषाण युग की सभ्यता का विश्लेषण किया था। उनकी अँग्रेजी एवं बंगाली रचनाएँ हैं– मबेन–ओ प्राचीन, परिब्राजकेर, डायरी और हिन्दू समाज के ग्रहण। पहली दो रचनाएँ निबंधों और शब्द चित्रों का संग्रह हैं। भारत

टिप्पणी

की पुरानी मानवशास्त्रीय पत्रिका 'मैन इन इंडिया' का भी उन्होंने संचालन किया। उनकी मुख्य रचनाएँ निम्न हैं–

1. Canous of Orissan Architecture (1932)
2. Excavations in Mayrbhanj (1948)
3. हिन्दू समाज के ग्रहण (1949) (बंगाली में), 1976 में आंद्रे बेते द्वारा अँग्रेजी में अनुवादित
4. Studies in Gandhism (1959)
5. Cultural Anthropology (1961)
6. Peasant Life in India: A Study in Indian Unity and Diversity (1961)
7. Culture and Socitey in India (1967)
8. Problems of National Integration (1967)
9. The Structure of Hindu Society (1975)

निष्कर्ष : बोस का आदिवासी समाजों और जातियों के बारे में अध्ययन भारत की संस्कृति को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। बोस के लिए भारत में एकता का एक पैटर्न है, हालांकि इसमें कई सांस्कृतिक क्षेत्र हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक Peasant Life in India: A Study of Indian Unity and Diversity में भारत की एकता की एक पिरामिडिक कल्पना का प्रस्ताव रखा। बोस ने यह भी प्रदर्शित किया कि कैसे भारत में जाति व्यवस्था के माध्यम से भौगोलिक और यहां तक कि पारिस्थितिक रूप से भिन्न क्षेत्रों के बीच एक तरह की एकरूपता बढ़ी। भारतीय सभ्यता कुछ सामान्य बौद्धिक और भावनात्मक तत्वों को भी साझा करती है और हमारे विचारकों, कलाकारों, चित्रकारों और संतों ने पारंपरिक मीडिया के माध्यम से ऐसे तत्वों को साझा किया है। इसलिए सभ्यता का अध्ययन अनिवार्य रूप से इसके आंतरिक भाग का अध्ययन है। इस तरह के दृष्टिकोण से, एक सभ्यता हमेशा बनाने, बनने और न होने की प्रक्रिया में होती है। इसलिए इस चर्चा को इस विश्वास के साथ समाप्त किया कि 'जीवन के तथ्यों के साथ एक गहरा परिचय शायद सामाजिक विज्ञान के किसी भी रूप का सबसे अच्छा परिचय है।

3.4.2 सुरजीत सिन्हा

बंगाल के एक प्रख्यात सांस्कृतिक मानव विज्ञानी सुरजीत सिन्हा ने विभिन्न पदों पर भारत सरकार की सेवा की। वे भारत के एंथ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के निदेशक और विश्वभारती के कुलपति थे। उन्होंने बंगाल और बिहार के भूमिज आदिवासी पर बहुत काम किया है। मध्य भारत के आदिवासी–जाति और आदिवासी–किसान निरंतरता के विकासवादी मॉडल को विकसित करने के अलावा, सिन्हा ने आदिवासी आंदोलनों, जाति व्यवस्था, धर्म के समाजशास्त्र, स्थानीय समुदायों, क्षेत्र के अध्ययन, और नृजाति समूहों के अध्ययन में भी योगदान दिया है। वे भारतीय समाज और उसके सामाजिक संगठन की प्रकृति की खोज में रेडफील्ड, सिंगर और बोस से बहुत प्रभावित थे। एक सांस्कृतिक मानव विज्ञानी के रूप में उन्होंने समूहों के व्यक्तिपरक और उद्देश्यपूर्ण तरीके का जीवन जीने के लिए 'आवश्यक' माना, ताकि उनके बीच सामाजिक संपर्क की प्रकृति को पूरी तरह से समझा जा सके। सिन्हा ने जर्नल ऑफ

टिप्पणी

अमेरिकन फोकलोर, मैन इन इंडिया, ईस्टर्न एंथ्रोपोलॉजिस्ट्स, कंट्रीब्यूसन टु इंडियन सोशियोलॉजी, सोशियोलॉजिकल बुलेटिन जैसी प्रतिष्ठित राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में अपने शोध के क्षेत्रों पर कई लेख लिखे। उन्होंने भारत के लोगों पर 'फील्ड स्टडीज : मेथड्स एंड पर्सपेक्टिव्स' (1978) नामक एक पुस्तक भी लिखी। उनका विद्वत्तापूर्ण योगदान हालांकि प्रकाशन के लिए उनकी उदासीनता से मेल नहीं खाता।

भारतीय सभ्यता का अध्ययन

सिन्हा ने 'महान परंपरा' (great tradition) और 'छोटी परंपरा' (little tradition) की धारणा पर ध्यान केंद्रित करके स्वदेशी सभ्यता की उत्पत्ति और कार्यप्रणाली का विश्लेषण शुरू किया था। इन परंपराओं को एक–दूसरे के साथ निरंतर बातचीत में तर्क दिया जाता है। एक सामाजिक समूह जो एक सभ्यता के संबंध में छोटी परंपरा (लिटिल ट्रेडिशन) को बनाए रखता है, उसे रेडफील्ड द्वारा एक 'किसान समुदाय' के रूप में चिह्नित किया गया, जिसे पृथक आत्मनिर्भर 'लोक समाज' से अलग माना जाता है, जिसे उसने पहले के काम में एक आदर्श प्रारूप के रूप में माना था। हालांकि, रेडफील्ड ने आदिवासी लोगों के किसानों में परिवर्तित होने को स्वदेशी सभ्यता के विकास की भूमिका बताया था। आदर्श लोक समाज के विपरीत, किसान समाज एक या अधिक शहरी केंद्रों के साथ 'देशव्यापी नेटवर्क' के साथ निरंतर संपर्क में है। रेडफील्ड, सिंगर और सिन्हा ने दिखाया कि किसान के गाँव और भारतीय महान परंपरा के महान संस्कृति समुदाय के बीच संचार के ऐसे स्थायी कई चैनल पूरे उत्तर भारत और कुछ हद तक भारत के दूसरे भाग तक की किसानी की एक सामान्य विशेषता है।

तीसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व में यह बातचीत शुरू हुई, सिन्हा ने तर्क दिया कि सभी संभावना में भारत की प्राथमिक सभ्यता का मूल अभिविन्यास आर्यन घुसपैठ से पहले मुंडा और द्रविड़ छोटे समुदायों की छोटी परंपराओं के लंबे समय तक संपर्क के माध्यम से रखा गया था। स्पष्ट रूप से, रूपांतरण को एक त्वरित प्रक्रिया जो एक कदम तक समान तीव्रता के साथ पूर्व–सभ्य (Pre-civilzed) आदिवासी भारत में पहुंची है, के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। उन्होंने भारतीय सभ्यता के अध्ययन के संबंध में प्रायद्वीपीय भारत के तथाकथित आदिवासी क्षेत्र जैसे पहाड़ियों, पठारों और बंबई, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, उड़ीसा, दक्षिणी बिहार और पश्चिम बंगाल के मैदानी इलाकों के छोटे समुदायों की सामाजिक–सांस्कृतिक परंपरा पर ध्यान केंद्रित करके अपने 'सभ्यतावादी दृष्टिकोण' को विकसित करने का प्रयास किया था पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा में हिंदू किसान समुदायों की सामान्यीकृत विशेषताएं आंशिक रूप से सिन्हा की हिंदू ग्राम समुदायों की सामान्य धारणा और अन्य दूसरे स्रोतों भी ली गई हैं।

यहां यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारत में आदिवासी जीवन में अनुसंधान ने फिर से स्थापित किया है कि आदिवासी और जाति के बीच बहुत लचीली रेखा है जो आदिवासी को नियमित रूप से जाति में समाहित करने की संभावना बनाए रखती है। इन दावों ने कई सैद्धांतिक रूपरेखाओं को जन्म दिया है ताकि विभिन्न तरीकों से यह समझाया जा सके कि आदिवासियों का जातियों में परिवर्तन किया जाता है। सुरजीत सिन्हा ने ऐसे परिवर्तन को समझने के लिए राजपूत या क्षत्रिय मॉडल प्रदान किया। उन्होंने हिंदू जाति व्यवस्था में आदिवासियों के अवशोषण का श्रेय राज्य गठन की प्रक्रिया को दिया जो प्राचीन और मध्ययुगीन काल के दौरान प्रायद्वीपीय भारत के

टिप्पणी

कई हिस्सों में जनजातीय राजवंशों की स्थापना के साथ हुई। जबकि इनमें से अधिकांश राजवंश, जैसे गोंड और भूमिज जो आदिवासी अभिजात वर्ग से प्रमुखता से उभरे, असम में अहोम साम्राज्य जैसे कुछ विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा स्थापित किए गए थे। इनमें से कई राजवंशों ने ब्राह्मण हिंदू धर्म के केंद्रों के रूप में कार्य किया, एक विरासत उन्होंने ब्राह्मण को भूमि अनुदान के चलन से प्राप्त की थी।

अर्थव्यवस्था के विकास में तेजी लाने और प्रशासन की लागत को पूरा करने के लिए, कई प्रमुखों ने ब्राह्मणों और अन्य उच्च जातियों को अपने राज्य में बसने के लिए प्रोत्साहित किया ताकि राज्य को उनके मितव्ययी तरीके, शैक्षणिक अनुभव और कृषि के विशाल ज्ञान से लाभ हो। अपनी उदारता के लिए लाभार्थी को पुरस्कृत करने के लिए, विद्वान ब्राह्मणों ने न केवल जनता को शिक्षित करने का बीड़ा उठाया, बल्कि उन प्रमुख वंशावलियों के बारे में भी बताया, जिन्होंने प्रमुख हिंदू वंशों को पौराणिक हिंदू आंकड़ों से जोड़ा। इस प्रक्रिया में हिंदू धर्म के मूल्यों और मानदंडों को आदिवासी लोगों को प्रेषित किया गया था। इस प्रथा ने जहां आदिवासी शासकों को क्षत्रिय का प्रतिष्ठित दर्जा दिलाया, वहीं इसने अपेक्षाकृत समतावादी आदिवासी समाज में जाति के पदानुक्रमिक ढांचे को फिर से तैयार करने का काम भी किया।

भूमिज–हिंदू अंतःक्रिया सिन्हा का एक विस्तृत अध्ययन का विषय रहा है (1950 से) जिन्होंने आदिवासी–जाति की अंतःक्रिया की व्याख्या अपने शोध पत्रों की शृंखला में की और 'आदिवासी–जाति–किसान निरन्तरता' के साथ–साथ 'भूमिज–क्षत्रिय' और 'आदिवासी–राजपूत निरन्तरता' जैसी कई उपयोगी अवधारणाओं का प्रस्ताव रखा। हालांकि, सिन्हा ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया कि ये 'निरन्तरता के आदर्श रूप' हैं और समीपस्थ सीमा के भीतर निरन्तरता को परिभाषित करने के लिए उपयोग किए जाने वाले मानदंडों के अंतर के आधार पर ये वास्तविक व्यवहार में भिन्न हो सकते हैं। फिर भी, ये अवधारणाएँ पूरे मध्य भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए एक मॉडल प्रदान करती हैं। यहां यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि आत्मसात करने की प्रक्रिया कई सदियों से भारतीय आदिवासी संस्कृति का एक अभिन्न हिस्सा रही है। यहां तक कि हमारे औपनिवेशिक शासक, जिन्होंने कुछ नृजातीय समूहों को 'आदिवासी' के रूप में चिह्नित किया था, बाद में यह बताने में विफल रहे कि आदिवासी कहाँ खत्म हो गए और जाति शुरू हो गयी जब जनगणना अभियान चालू हुआ।

कई भारतीय समाजशास्त्री और सामाजिक मानवशास्त्री जैसे एन. के. बोस, जी. एस. घुर्ये और एम. एन. श्रीनिवास ने इस तरह के बदलावों को अपने तरीके से समझने और समझाने का प्रयास किया है।

मध्य प्रदेश के भूमिजों की तरह, बिहार के चेरोज, खरवार और पहाड़ीयज हिंदूकरण के क्षत्रिय मॉडल से बहुत प्रभावित हुए हैं और उन्होंने खुद को क्षत्रिय ब्रांड बनाने के लिए अपनी जीवन शैली का संस्कृतिकरण किया है। सिन्हा का 'आदिवासी–जाति–किसान निरन्तरता' मॉडल, हिंदू किसानी (Hindu peasantry) में आदिवासियों के क्रमिक आत्मसात को समझाने के ऐसे प्रयासों की एक निरंतरता है। 'आदिवासी–राजपूत निरन्तरता' को भूमिज के ऐतिहासिक और नृजातीय अध्ययनों (Ethnographic studies) के मद्देनजर सुझाया गया है। सिन्हा ने कहा था कि यद्यपि राज्य के गठन की वास्तविक

प्रक्रिया ने विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न पाठ्यक्रमों को शामिल किया था, तथापि बीरभूम के भूमिज राज जैसे गोंडवाना के गोंड राज, छोटानागपुर के मुंडा राज मुख्य रूप से एक आदिवासी आधार के आंतरिक विकास के माध्यम से उत्पन्न हुए लगते हैं।

टिप्पणी

आदिवासी और जाति : सांस्कृतिक प्रणाली के दो रूप

भले ही जाति व्यवस्था के साथ आदिवासियों के सामान्य विलय की तस्वीर कई मानवशास्त्रीय अध्ययनों में स्पष्ट हो गई, परंतु घुर्ये और एलविन जैसे विद्वानों ने दो आदर्श सामाजिक–सांस्कृतिक 'प्रणालियों' को परिभाषित करने की कोशिश किए बिना लक्षणों के मनमाने क्लस्टर के संदर्भ में इस विषय पर दृष्टिकोण दिया। इसलिए, सिन्हा ने जाति और आदिवासी की आदर्श विशिष्ट धारणाओं के बीच प्रमुख अंतरों को ध्यान में रखते हुए अपना विश्लेषण शुरू किया।

सबसे पहले, मध्य भारत के आदिवासी ठौर–ठिकाने का एक बड़ा हिस्सा पहाड़ी और जंगल हैं। आदिवासी गाँव जलोढ़ पौधों से दूर आमतौर पर नदियों के समीप क्षेत्रों में पाए जाते हैं। इसके विपरीत, हिंदू किसान गांवों का एक बड़ा हिस्सा वन–रहित पठारों या मैदानी भागों में है। इनमें से कई गांव नदी के इलाकों में होते हैं।

दूसरा, आदिवासियों की निर्वाह अर्थव्यवस्था या तो शिकार, एकत्रीकरण और मछली पकड़ने या शिकार और एकत्रीकरण के मिश्रण के साथ झूम खेती पर आधारित है। इसके विपरीत, हिंदू किसान बैल या भैंसे द्वारा खींचे गए हल की मदद से गहन कृषि का उपयोग करते हैं। उनके साथ, स्वर्णकार, बुनकर, धातु श्रमिक आदि जैसे पूर्णकालिक विशेषज्ञ हैं। स्थानीय आत्मनिर्भरता का एक सीमित स्तर से परे, ग्राम समुदाय बाजारों के एक देशव्यापी नेटवर्क से जुड़ा हुआ है, अंततः वाणिज्यिक शहरों से संबंधित है।

तीसरा, सामाजिक संरचना के स्तर पर, सबसे बड़ा एवं महत्वपूर्ण संदर्भ समूह आदिवासी या इसके एक खंड, उप–आदिवासी हैं। एक आदिवासी विशेष रूप से प्रादेशिक सामंजस्य और मजबूत संगठित पहचान के साथ, बाह्यजन टोटेमिक कुल (exogamous totemic clan) में विभाजित है। सामाजिक भूमिकाओं की बहुत कम विशेषज्ञता है और एक व्यक्ति में धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक नेतृत्व संयुक्त हैं। इसी तरह, कठोर स्तरीकरण बहुत कम है। लेकिन हिंदू किसान समाज अपने जटिल रूप से स्तरीकृत जाति विभाजन को बनाए रखता है। endogamy और exogamy दोनों के नियम किसानों के रिश्तेदारी और शादी के रीति–रिवाजों को नियंत्रित करते हैं। जातिगत पेशे ज्यादातर वंशानुगत होते हैं धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक नेतृत्व स्पष्ट रूप से सीमांकित होता है।

चौथा, आदिवासियों की अलौकिकता में एक सूर्य देवता और देवताओं का एक छोटा पदानुक्रम शामिल है। देवताओं की कल्पना शक्तिशाली प्राणियों के रूप में की जाती है और उन्हें दो वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है– परोपकारी और पुरुषवादी। अलौकिक संस्कार स्पष्ट रूप से दुनिया में खुशी और सुरक्षा की ओर निर्देशित होते हैं। स्वर्ग या नरक की कोई अवधारणा नहीं है। अच्छी तरह से परिभाषित रूप में कोई मूर्ति या मंदिर नहीं मिला है। पशु बलि अनुष्ठान का एक अनिवार्य हिस्सा है और जादू और जादू टोना प्रभावी होता हैं। हिंदू किसानवाद की अलौकिकता, हालांकि, एकेश्वरवाद,

टिप्पणी

पंथवाद और बहुदेववाद के विपरीत है। देवताओं की सामर्थ्य के अलावा, नैतिक गुणवत्ता, धर्म, नैतिक व्यवहार को पुरस्कृत करने और पापी या अनैतिक व्यवहार को दंडित करने के लिए देवताओं का एक प्रकोप है। फलस्वरूप स्वर्ग और नरक की अवधारणाएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। अंत में, मंदिर और मूर्ति पूजा दोनों बहुत महत्वपूर्ण हैं।

पूर्ववर्ती अंतर, हालांकि दो सांस्कृतिक प्रणालियों को पूरी तरह से अलग नहीं बनाते हैं, बल्कि जैसा कि सिन्हा ने कहा, निरंतरता के महत्वपूर्ण तत्व गैर–हिंदू आदिवासी और हिंदू किसान के सामाजिक–आर्थिक प्रणालियों के बीच हैं। जाति और आदिवासी में सामाजिक इकाइयों के रूप में लगभग समान संरचनात्मक विशेषताएं हैं–

आदिवासी संस्कृति और हिन्दू किसान परंपरा के बीच निरंतरता

सिन्हा ने संस्कृति के किसान स्तर (peasant level) के सामान्य लक्षण की दिशा में आदिवासी संस्कृति में कुछ परिवर्ती तत्वों का उल्लेख किया। उदाहरण के लिए, अर्थव्यवस्था में, निम्नलिखित शिल्पों में पूर्णकालिक विशेषज्ञता की ओर एक प्रवृत्ति पाई जाती है– टोकरी बनाना, लोहारी, रस्सी बनाना और बुनाई। कुछ आदिवासियों के बीच आदिम व्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं का अंतर–नृजातीय आदान–प्रदान भी होता है। सामाजिक संरचना में स्तरीकरण में कई प्रवृत्तियां होती हैं, जो सापेक्ष संख्यात्मक शक्ति, आगमन की प्राथमिकता, अनुष्ठान शुद्धता और आदि कारकों से परिभाषित होती हैं। सिन्हा ने भूमिज और मुंडा के बीच नेतृत्व की सामंती प्रकृति की ओर भी झुकाव देखा।

सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक लक्षणों, प्रतीकों, मूल्यों और मानदंडों के ऐसे आदान–प्रदान के कारण, आदिवासी संस्कृतियों और हिंदू किसान परंपराओं के बीच निरंतरता के महत्वपूर्ण तत्व पाए जाते हैं। संरचनात्मक तुलना के संदर्भ में, भारत की आदिवासी संस्कृतियां महान परंपरा से सम्बन्धित सामान्य सामाजिक क्षेत्र के भीतर आती हैं, भले ही वे जटिलता के एक विशिष्ट स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस अंतर को स्पष्ट करने के लिए, सिन्हा ने आदिवासी संस्कृतियों को एक विशेष आयाम के रूप में वर्णित करने का प्रस्ताव रखा, जिसको उन्होंने भारत की छोटी परंपराओं के 'आदिम' या 'लोक' आयाम कहा। उन्होंने कहा कि अमूर्तता के एक औपचारिक स्तर पर, कम से कम, लोक (या आदिवासी), किसान और भारतीय परंपरा और संस्कृति के शहरी आयाम मूल स्वरूप (core pattern) में निरंतरता के सबूत के साथ सामाजिक–सांस्कृतिक एकीकरण के बढ़ते जटिल स्तरों की एक श्रृंखला का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत में तकनीकी विकास की धीमी दर ने महान परंपरा के पारंपरिक आयाम को सामुदायिक जीवन के मूल पोषण के साथ एक पौष्टिक संपर्क बनाने दिया।

ऐसे व्यापक सैद्धांतिक पैरामीटर के भीतर, सिन्हा ने दो ठोस क्षेत्र अध्ययन (field studies) के संदर्भ में विशेष रूप से आदिवासी और आदिवासी–किसान निरंतरता के बारे विस्तार से चर्चा की– एडवर्ड जे. का बस्तर के अपेक्षाकृत पृथक हिल मारिया गोंड के बारे में अध्ययन और बरभूम की हिंदू संस्कृति को अपनाने वाले (hinduized) भूमिज का अपना अध्ययन। उन्होंने इन दोनों मामलों की व्याख्या निरंतरता के संदर्भ में की, जिनमें से दोनों को विस्तारित रिश्तेदारी के ढांचे में देखा गया, अर्थात् आदिवासी–जाति और आदिवासी–किसान और उनकी क्षेत्रीय व्यवस्था। सिन्हा 1950–53 के दौरान

टिप्पणी

उनके बीच एक फील्डवर्क करते हुए स्थानीय हिंदू जाति व्यवस्था के साथ भूमिज के एकीकरण के बारे में जाने। उन्होंने तब परिवर्तन के मूल आधार के रूप में एक आदर्श आदिवासी की व्यवस्थित अवधारणा की आवश्यकता महसूस होने पर बल दिया। इस बीच, एफ. जी. बेली ने 'आदिवासी–जाति सातत्य' का मॉडल पेश किया और सिन्हा को इस विषय ने व्यवस्थित रूप से व्यवहार करने के लिए प्रेरित किया। सिन्हा ने बेली के इंटरएक्सन मॉडल को अपनाया, जिसे उन्होंने आदिवासी के रू–ब–रू जाति (tribe vis-a-vis) की स्थिति पर विचार करने के लिए उड़ीसा के आदिवासी और किसान गांवों में अपने फील्डवर्क के आधार पर विकसित किया।

सिन्हा ने पहली बार इस मॉडल को बिहार के पूर्व जिले मनभूम के परगना बाराभूम में खारिया और पहीरा नृजातीय समूहों के द्वारा शिकार करने और इकट्ठा करने के मामलों में लागू करने का प्रयास किया। लेकिन यह प्रयास बहुत सफल नहीं रहा। खारिया और पहीरा अन्य जातियों पर आश्रितों के रूप में अपनी जन्मभूमि के साथ–साथ शिकार करने और इकट्ठा करने के अधिकार रखते हैं और फिर भी वे इस क्षेत्र के बाकी हिंदू समाज के साथ तुलनात्मक अर्थ में अस्पष्ट सामाजिक जोड़ करते हैं। दूसरी ओर, भूमिज और महतो जैसे बड़े समूह इस क्षेत्र में हैं, जो जनसांख्यिकी परिदृश्य पर हावी हैं और भूमि के मालिक हैं और क्षेत्र की जाति व्यवस्था के साथ सामाजिक–पारंपरिक सहभागिता में जटिल रूप से शामिल हैं। सिन्हा ने स्पष्ट रूप से कहा कि बेली के विश्लेषण भारत के कई क्षेत्र को उजागर करेंगे जिनमें प्रभुत्व जातियां हैं, जैसे उत्तर में राजपूत और जाट और दक्षिण में ओक्कालीगाज। लेकिन ये समूह अपने–अपने क्षेत्रों में अंतर–जातीय संबंधों के जटिल पदानुक्रम में सख्ती से शामिल होते हैं। आदिवासी–जाति की निरंतरता की अवधारणा की सहजता के बावजूद, बेली ने सुरजीत सिन्हा को एक बार फिर से आदिवासी स्थिति को अधिक स्पष्टता से देखने के लिए श्रेय दिया।

बेली के विपरीत, सिन्हा ने आदिवासी को सामाजिक संबंधों की व्यवस्था के साथ–साथ मानसिक और सांस्कृतिक परंपरा की स्थिति के रूप में देखा; इन दोनों पहलुओं में अलगाव और स्तरीकरण की कमी की विशेषता है। आदिवासी को निम्नलिखित जनसांख्यिकीय और सामाजिक संरचनात्मक लक्षण के आधार पर विश्लेषित किया जाता है–

"यह अन्य नृजातीय समूहों से पारिस्थितिकी, जनसांख्यिकी, अर्थव्यवस्था, राजनीति और अन्य सामाजिक संबंधों में अलग–थलग है। यह अलगाव उत्पन्न करता है और बदले में, एक मजबूत इन–ग्रुप भावना द्वारा सहारा दिया जाता है। आंतरिक रूप से, इस समूह को उम्र, लिंग और रिश्तेदारी के अलावा भूमिका विशेषज्ञता और सामाजिक स्तरीकरण की कमी के कारण समरूपता के द्वारा विश्लेषित किया जाता है। कुछ सांस्कृतिक विशेषताएं जैसे कि किसी की संस्कृति को दूसरों के संदर्भ में स्वायत्त रूप में देखना, महान परंपराओं से वियोग, समानता की एक मूल्य प्रणाली, मानव, प्राकृतिक और अलौकिक दुनिया से निकटता, विचारों की व्यवस्थितता की कमी, नैतिक धर्म और शुद्धतावादी तपस्या भी आदर्श रूप से अलग–थलग, सजातीय और असंतृप्त समूह चिह्नित करते हैं।"

टिप्पणी

हिल मारिया गोंड और भूमिज की जटिलता में अंतर

	हिल मारिया गोंड	भूमिज
(क)	पारिस्थितिकी पहाड़ और वन	मैदानी भाग (66%) वन (33%)
(ख)	नृजातीय जटिलता	
	(1) एक ही नृजाति के गाँव	(1) एक गाँव में औसतन 6 नृजाति समूह
	(2) एक ही नृजाति के बसाव	(2) भूमिज कुल जनसंख्या का 15%
(ग)	तकनीक और अर्थव्यवस्था	
	(1) अस्थायी खेती	(1) चावल की खेती
	(2) कोई बाजार नहीं	(2) तीन से पाँच मील की दूरी पर बाजार
	(3) कोई भूमि पर सामूहिक स्वामित्व	(3) श्रेणीबद्ध भूमिकर व्यवस्था
(घ)	संस्तरण व आंतरिक संस्तरण लगभग नहीं	राजनीतिक संरचना का सामंतवादीकरण सामाजिक/सांस्कृतिक आधार पर तीन प्रकार की श्रेणी को मान्यता
(ङ)	जाति जैसी अंतःक्रिया तीन श्रेणी में विभाजित, गैर आदिवासी सांस्कृतिक व्यक्ति काम में नहीं लिए जाते हैं।	20 से 28 तक श्रेणियाँ हैं जाति की कम से कम चार श्रेणियाँ प्रयुक्त होती हैं।

हिल मारिया गोंड और भूमिज की जटिलता में अंतर

सिन्हा ने कठोर परिमाणात्मक अध्ययन के बिना यह बताने से भी इनकार कर दिया कि तकनीकी दक्षता के स्तर और आदर्श जाति ध्रुव के लिए निकटता के बीच कोई सीधा संबंध है। इसी तरह, यह जरूरी नहीं है कि जनसंख्या वृद्धि और बसाव आकार में वृद्धि एक आदिवासी क्षेत्र में एक जाति व्यवस्था उत्पन्न कर सकती है। सिन्हा ने आदर्श निरंतरता में एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक की प्रगति में इस तरह की नियमितता से गुमराह न होने के लिए भी सावधान किया और एक निरंतरता में संबंधित समाजों की सापेक्ष स्थिति का मूल्यांकन करने के कार्य पर विचार किया; क्योंकि काफी संभावना है कि समीपस्थ सीमा के भीतर, निरंतरता को परिभाषित करने में उपयोग किए जाने वाले सभी मानदंड एक ही दर से आगे नहीं बढ़ेंगे।

बाजार की भागीदारी में एक समूह दूसरे से आगे लेकिन महान पारंपरिक देवताओं और धर्म में नैतिक तिरस्कार को साझा करने में पीछे हो सकता है। फिर भी, उन्होंने उम्मीद जताई कि हिल मारिया और भूमिज जैसे दो व्यापक विपरीत मामलों की तुलना करने का आसान मामला निश्चित रूप से हमें अंतर की बारीकियों का पता लगाने के लिए प्रोत्साहित करता है। यहां यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि सिन्हा के अनुसार, समकालीन भारत में आदिवासी एकजुटता आंदोलनों के प्रमुख कारण पारिस्थितिक–सांस्कृतिक अलगाव, आर्थिक पिछड़ापन, सापेक्षिक निराशा की भावना (उन्नत वर्गों की तुलना में) हैं। आदिवासी, जो या तो बहुत अलग–थलग हैं या हिंदू सामाजिक व्यवस्था के साथ अच्छी तरह से एकीकृत हैं इन आंदोलनों में शामिल नहीं हैं। इसलिए, सिन्हा ने एक राज्य नीति की वकालत की जो बड़े आर्थिक अवसरों और राष्ट्रीय संस्कृति की मुख्यधारा के साथ अलग–थलग पड़े आदिवासी के एकीकरण के लिए हो। उनका विचार था कि आदिवासी समूहों की सांस्कृतिक स्वायत्तता में गड़बड़ी नहीं की जानी चाहिए और व्यवस्था इस तरह की होनी चाहिए कि उभरती हुई भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति के लिए आम लोगों के साथ–साथ आदिवासी अभिजात वर्ग को भी शामिल कर सके।

बराभूम के भूमिज

टिप्पणी

सिन्हा ने दिखाया है कि जैसे–जैसे आदिवासी लोग जाति के लक्षणों को लेना शुरू करते हैं, शायद अपने आहार को प्रतिबंधित करते हैं, वे अन्य जाति मूल्यों के साथ–साथ अपने सामाजिक संपर्कों को प्रतिबंधित करने में भी शामिल हो जाते हैं। जो आदिवासी सुधार चाहते हैं, वे मुश्किल फैसलों का सामना करते हैं कि कैसे सबसे अच्छा होगा बदलना। भूमिज जो बिहार और पश्चिम बंगाल में लगभग आधे मिलियन की संख्या में हैं, पसंद की ऐसी समस्याओं का उदाहरण देते हैं। लेखन की एक श्रृंखला में, सिन्हा ने वर्णन किया है कि कैसे उनमें से अधिकांश लोग जाति बनने की ओर चले गए और उन्होंने खुद को आश्वस्त किया कि वे क्षत्रिय हैं, जबकि उनके कुछ नेताओं ने महसूस किया कि पारंपरिक क्षत्रिय तरीका सामाजिक उन्नति के लिए सबसे अच्छा साधन नहीं है। इन लोगों ने फैसला किया कि अगर भुमिज ने खुद को आदिवासी घोषित कर दिया तो और भी कुछ हासिल किया जा सकता है।

हालांकि ऐसा बदलाव आसान नहीं है क्योंकि भूमिज ने खुद को क्षत्रिय लक्ष्य के लिए इतनी दृढ़ता से प्रतिबद्ध किया था। कुछ भूमिज जमींदार और बड़े भूस्वामी क्षत्रिय के रूप में स्वीकार किए गए थे और एक नई जाति बनाने के लिए खुद को भूमिज समाज से पूरी तरह से अलग कर लिया था। आम भूमिज हालांकि उस कदम को उठाने के लिए पर्याप्त अमीर नहीं थे– वे ब्राह्मणों, वंशावलीवादियों और विशेष संस्कृत संस्कारों की लागत वहन नहीं कर सकते थे और न ही वे आदिवासी रीति–रिवाजों का सारा सुख छोड़ना चाहते थे।

भूमिज बंगाली बोलते हैं और बहु–जाति वाले गाँवों में रहते हैं, जिनमें वे अक्सर प्रभावीशाली (dominant) समूह होते हैं। जाति मॉडल तब पेश किया गया जब भूमिज सरदार ने संभवतः 13 वीं और 16 वीं शताब्दी के बीच उच्च जाति वाले हिंदुओं को भूमि और विशेषाधिकार दिए और उन्हें शासक के करीब आने के लिए प्रेरित किया। अमीर और गरीब भूमिज ने अलग–अलग विवाह समूह बनाया, इसके बावजूद कोई भी खुद को दूसरों से अलग नहीं मानता था। मधुपुर का भूमिज आधा दर्जन या अधिक विशेषज्ञ जातियों के साथ जाजमनी संबंधों पर चलता है; वे साप्ताहिक बाजार में करीब तीस जातियों के लोगों से लेन–देन करते हैं। वे अब तक जाति के मानकों को आत्मसात कर चुके हैं क्योंकि उन्हें ब्राह्मणों, नाइयों और धोबियों की सेवाओं की आवश्यकता होती है। वे अपने आप को हिंदू जाति के रूप में मानते हैं और अधिकांश लोगों द्वारा भी उन्हे यही समझा जाता है। लेकिन उनके पड़ोसियों में इस बात को लेकर मतभेद हैं कि भूमिज को कहां रखा जाना है। इलाके के तीन अन्य आदिवासी समूहों के लोग भूमिज को उच्च जाति यहाँ तक कि ब्राह्मण की तुलना में ज्यादा उच्च जाति के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन ब्राह्मणों ने उन्हें राजपूतों और व्यापारियों से नीचे देशी दारू बनाने वाला, बुनकर और धोबी के स्तर पर रखा।

सिन्हा ने पाया था कि 19वीं और 20वीं शताब्दी में ब्राह्मण पुजारी और कुछ संप्रदाय के पवित्र पुरुषों के प्रभाव में भूमिज ने कुछ सुधार आंदोलनों को अंजाम दिया था। इन आंदोलनों का उनकी जीवन शैली और संस्कृति पर कुछ प्रभाव पड़ा। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, ब्राह्मणों ने नायकों को क्षत्रिय होने का तरीका सिखाया और

टिप्पणी

उन्हें दीक्षा, पवित्र धागा और श्रेष्ठ वंश की स्थिति के विचार को दिया। हालाँकि भूमिज ने अपने सभी रीति–रिवाजों से अलग होकर अपनी सच्ची वंश परंपरा को धोखा देने की कोशिश की, लेकिन यह बदलाव तेज नहीं था। यह 20वीं शताब्दी की शुरुआत में शुरू हुआ जब धार्मिक पुरुषों को अपने आध्यात्मिक नेताओं के रूप में शामिल किया गया। महात्मा गांधी की शिक्षा– शराब छोड़ना और घर के बुने हुए कपड़े पहनना ने भी उन्हें प्रभावित किया, हालाँकि उन्होंने एक साथ मांस या मछली का सेवन छोड़ना शुरू कर दिया था। मधुपुर गाँव के भूमिज नेताओं ने कांग्रेस पार्टी के स्वयंसेवकों के व्याख्यान के बाद 1935 में 'भूमिज–क्षत्रिय' संघ का गठन किया। और यह महिलाओं के आचरण के साथ–साथ आहार में सुधार के लिए संकल्पित था। इस तरह राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आंदोलन ने जाति के मानकों की ओर बदलाव को गति प्रदान की।

आजादी के बाद से, भूमिज ने अपने रीति–रिवाजों और अनुष्ठान पवित्रता को परिष्कृत और शुद्ध करने की तुलना में राजनीतिक मामलों में अधिक रुचि लेना शुरू कर दिया। तब तक संघ का नेतृत्व जमींदारों के बजाय आम शिक्षित लोगों के हाथों में चला गया था। 1958 में भूमिज–क्षत्रिय संघ की एक बैठक में, 'आदिवासी' शब्द को शामिल किया गया ताकि अब इस संगठन को भूमिज आदिवासी क्षत्रिय संघ के रूप में पढ़ा जाए तथा अनुसूचित जनजाति का दर्जा और इससे संबंधित सरकारी सुविधाओं का दावा किया जा सके। लेकिन जो लोग अब एक आदिवासी के रूप में वर्गीकृत होने की इच्छा रखते हैं, वे अलगाव और सांस्कृतिक आकांक्षाओं की पिछली स्थिति में वापस लौटने का लक्ष्य नहीं रखते हैं, बल्कि वे धर्मनिरपेक्ष लाभ और व्यापक सामाजिक उन्नति की ओर उत्साहपूर्वक आगे बढ़ना चाहते हैं।

बोस और सिन्हा दोनों ने भारतीय समाज और संस्कृति के विश्लेषण के लिए सभ्यता के दृष्टिकोण को विकसित किया ताकि आत्मसात और मिश्रण के माध्यम से भारतीय समाज के विकास और विस्तार–मूल तत्व से आधुनिक जटिल रूप में, की व्याख्या की जा सके। जैसा कि वे भारतीय सभ्यता की विशिष्टता में विश्वास करते थे, उन्होंने कुछ अंतरों के बावजूद लचीलापन और समानता विकसित करने के लिए भारतीय सामाजिक संरचना की रचनात्मक क्षमताओं पर जोर दिया। सिन्हा बोस के लेखन से गहराई से प्रभावित थे और उन्होंने समकालीन भारत में कड़ी को समझाने के लिए एक कदम आगे बढ़ने का प्रयास किया। यह कहा जा सकता है कि सिन्हा ने अपना विश्लेषण वहाँ शुरू किया जहां से बोस ने छोड़ा था। जैसा कि यह उदविकासवादी मॉडल मूल रूप से सांस्कृतिक परिवर्तनों को समझने और व्याख्या करने का प्रयास करता है, इसके द्वारा संरचनात्मक कारकों और प्रक्रियाओं की अनदेखी के लिए आलोचना की जाती है। बोस और सिन्हा के 'सांस्कृतिक प्रतिमान' भी इस तथ्य– भारतीय परंपरा को दो या अधिक प्रकारों में वर्गीकृत करने की सीमित उपयोगिता है, के साथ खड़े रहने में विफल रहे हैं। यहां तक कि संस्कृति के स्रोत एक नहीं बल्कि कई मॉडल प्रदान करते हैं, जिनमें से कुछ में मौलिक रूप से विरोध किए गए आदर्श भी शामिल हैं। फिर भी, बोस और सिन्हा ने भारतीय समाज के एक एकीकृत सामाजिक–सांस्कृतिक ढांचे के भीतर भी सांस्कृतिक बहुलता और विविधता के विस्तार को सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया है। समकालीन भारत में सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तनों के विश्लेषण में भी इस दृष्टिकोण का उपयोग किया जा सकता है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

7. किस दृष्टिकोण को पहली बार शिकागो विश्वविद्यालय के रॉबर्ट रेडफील्ड ने मैक्सिकन ग्राम समुदाय के अपने अध्ययन में डिजाइन किया था?
   (क) सभ्यात्मक (ख) असभ्यात्मक
   (ग) नकारात्मक (घ) सकारात्मक
8. बोस ने अपने करियर की शुरुआत कहां के जुआंग आदिवासी समूह पर गहन फील्डवर्क के साथ की थी?
   (क) दिल्ली के (ख) उड़ीसा के
   (ग) गुजरात के (घ) महाराष्ट्र के
9. भारत के एंथ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के निदेशक और विश्वभारती के कुलपति कौन थे?
   (क) बोस (ख) रेडफील्ड
   (ग) सुरजीत सिन्हा (घ) ए.एम. शाह

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (घ)
5. (क)
6. (घ)
7. (क)
8. (ख)
9. (ग)

3.6 सारांश

हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते हैं कि जब समाजशास्त्री भारत के सामाजिक संस्थानों की उत्पत्ति और विकास के विश्लेषण में लगे हुए थे तो घुर्ये अपने इंडोलोजिकल दृष्टिकोण को मजबूती प्रदान कर रहे थे। यहाँ यह उल्लेख करना जरूरी होगा कि संस्कृत साहित्य के बारे में अपने ज्ञान के कारण प्राचीन ग्रंथों का विश्लेषण करना उनके लिए संभव हो पाया।

उनका यह भी मत था कि जो भी भारत में समाजशास्त्र के लिए रुचि रखता है, उसे संस्कृत साहित्य का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए, जिससे संस्कृत में लिखे गए प्राचीन भारतीय ग्रंथों की व्याख्याओं में मदद मिल सके।

टिप्पणी

कैम्ब्रिज में डब्लूएचआर रिवर्स के तहत प्रशिक्षण प्राप्त करने और संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की उनकी स्वीकृति के बाद भी, घुर्ये ने भारतीय समाज की संस्थाओं की व्याख्या करते समय प्रकार्यवाद परंपरा का कड़ाई से पालन नहीं किया। उन्होंने फील्डवर्क पर जोर दिया, भले ही वे आर्मचेयर समाजशास्त्री थे।

घुर्ये की जाति के बारे में समझ तुलनात्मक, ऐतिहासिक और इंडोलोजिकल दृ ष्टिकोण पर आधारित है। अपने समकालीनों के विपरीत वे जाति को महिमामंडित या इसकी निंदा नहीं करते हैं, बल्कि जाति को भारतीय संस्कृति के एक उत्पाद के रूप में मानते हैं, जिसमें समय बीतने के साथ बदलाव हो रहा है इसलिए यह समाजशास्त्र की रुचि का विषय है। घुर्ये ने जाति का अध्ययन पहले diffusionist और इतिहासकार के रूप किया बाद में एक इंडोलोजिस्ट के रूप में। वे अपनी किताब– 'कास्ट एंड रेस इन इंडिया' में सर हर्बर्ट रिसले की इस बात से सहमत हैं कि जाति प्रजाति का उत्पाद है जो की भारत में आर्यों के साथ आई।

फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई ड्यूमा को भारतशास्त्री (इंडोलॉजिस्ट) माना जाता है। ड्यूमा ने अपने अध्ययन में मानवशास्त्रीय विवरण का उपयोग किया और समग्र दृष्टिकोण लागू किया। उन्होंने संस्कृत भी सीखी। 1950 में भारत में अध्ययन के लिए इकाई के रूप में गाँव की उपयोगिता को स्वीकारने की प्रवृति थी। यह माना जाता था कि भारतीय समाज के अध्ययन के लिए गाँव ही श्रेष्ठ इकाई है। 1974 तक यही मान्यता रही। ग्राम के सामाजिक संगठन को कम आंकने के लिए ड्यूमा की आलोचना भी हुई और उनके विचारों को कम महत्व दिया जाने लगा। ऐसा कहा जाने लगा कि सामाजिक संगठन का मूल भारतीय ग्राम ही हैं।

1955 में उन्होंने ने कहा कि जाति की हर जगह उपस्थिति ने भारत की सांस्कृतिक एकता और विशिष्टता को एक विशिष्ट दर्जा दिया है। ड्यूमा ने 1966 में फ्रेंच और 1970 में अँग्रेजी ने लिखित 'होमो हायरकस', जो एक विशद अध्ययन और शोध का प्रतीक था, में अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया। लुई ड्यूमा ने कहा कि भारत के समाजशास्त्र में समाजशास्त्र और भारतशास्त्र (Indology) का समन्वय होना चाहिए।

ड्यूमा के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन में पश्चिमी संस्कृति को प्रकट करने के लिए भारतीय दिमाग की प्रतिक्रिया पर केन्द्रित होना चाहिए और पश्चिमी संस्कृति के संज्ञानात्मक तत्वों जैसे कि व्यक्तिवाद, स्वतंत्रता, लोकतंत्र आदि के प्रभाव में होना चाहिए। भारतीय परंपरा की संज्ञानात्मक प्रणाली अस्वीकृति या स्वीकृति के लिए प्रतिक्रिया कर रही है। भारतीय और पश्चिमी संज्ञानात्मक प्रणालियों में विरोधाभास पूर्व के समग्र चरित्र और बाद के व्यक्तिवादी विशेषता में निहित है; यह विरोधाभास भारत में परंपरा बनाम आधुनिकता के बीच तनाव की प्रकृति को दर्शाता है।

ग्रामीण भारत शीर्षक का 'पुस्तक दृश्य' इंडोलॉजिस्ट और ओरिएंटलिस्ट का है, जो हिंदू धर्मग्रंथों और ऐतिहासिक रिकॉर्ड से निर्मित है। स्वतंत्रता के बाद की अवधि में यह धीरे–धीरे प्रतिभागी अवलोकन के आधार पर समाजशास्त्री और मानवविज्ञानी के 'फील्ड व्यू' (Field View) द्वारा बदल गया। उनके अध्ययन ने गाँव समुदाय की प्रकृ ति पर नई रोशनी डाली, विशेष रूप से जाति, लिंग और राजनीतिक गुट के संबंध में। यह कार्य विकास के संदर्भ में महत्वपूर्ण है क्योंकि पारंपरिक समाज प्रवाह की स्थिति

में था और बना हुआ है। हालांकि, 'फील्ड व्यू' का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि भारत के गांवों पृथक समुदायों के रूप में दिखने के बजाय बहुत लंबे समय के लिए एकीकृत व्यापक अर्थव्यवस्था और समाज के रूप में प्रतीत होते हैं।

टिप्पणी

इरावती कर्वे भारतीय समाजशास्त्र की एक पुरोधा थीं, जब देश में इस विषय को संस्थागत रूप दिया गया था। पुरुष–प्रधान अनुशासन में अपनी छाप छोड़ना कोई आसान उपलब्धि नहीं थी, लेकिन कर्वे की अपने विषय में कुशलता ने उन्हें अपना मुकाम हासिल करने में मदद की। वे एक सफल लेखिका भी थीं, अपने करियर के दौरान उनके कार्यों की काफी प्रशंसाएं हुईं। उन्होंने भारतीय समाज के ताने–बाने के लिए इंडोलॉजी दृष्टिकोण का उपयोग करने का बीड़ा उठाया। नातेदारी पर उनके कामों और ज्ञान की बहु–अनुशासनात्मक संग्रह पैदा करने की योग्यता ने उन्हें एक अलग पहचान दिलायी। वे भारत की पहली महिला मानव विज्ञानी थीं।

इरावती कर्वे, जर्मनी में अपने कार्यकाल के बाद, मानवशास्त्र के क्षेत्र में भी आगे आईं। 20 वीं शताब्दी की शुरुआत में, मानवशास्त्र और समाजशास्त्र की अनुसंधान विधियों के बीच स्पष्ट सीमांकन था। मानवशास्त्र में जहां फील्ड वर्क पर जोर था वहीं समाजशास्त्र अध्ययन case studies पर आधारित था। किसी भी महिला के लिए मानवशास्त्र पढ़ना बड़ा असामान्य था क्योंकि इसमे शारीरिक मेहनत की आवश्यकता थी और अपनी संस्कृति के बाहर अनुसंधान की की जरूरत थी। मानवशास्त्र का वैज्ञानिक आधार महिलाओं को यह विषय चुनने में रोकता था। इसलिए इरावती कर्वे को इस विषय के इतिहास में एक असाधारण महिला के रूप में जाना जाता है जिसने धारा के विपरीत जाकर इस विषय का चुनाव किया।

प्रो. अरविंद एम. शाह ने एमएस विश्वविद्यालय, बड़ौदा (1964) से अपनी पीएचडी पूरी की और दिल्ली विश्वविद्यालय जाने से पहले यहाँ कुछ समय के लिए अध्यापन किया। वे 1996 में समाजशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में दिल्ली विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त हुए। प्रो शाह दिल्ली विश्वविद्यालय (1996–98) में ICSSR के national fellow थे। उन्होंने शिकागो विश्वविद्यालय (1960–61) सहित कई महत्वपूर्ण फैलोशिप भी धारण किए– सेंटर फॉर एडवांस्ड स्टडी इन द बिहेवियरल साइंसेज, स्टैनफोर्ड (1961–62) आदि। प्रोफेसर शाह अपने शोध और लेखन में श्रमसाध्य थे और चाहते थे कि छात्र भी वही हों। वे जोर देकर कहते थे कि विश्लेषणात्मक कल्पना और व्याख्या की उड़ानों को समय–समय पर परत–दर–परत नृवंशविज्ञान पर आधारित होना चाहिए।

सभ्यात्मक दृष्टिकोण भारतीय समाज और संस्कृति के लिए आत्मसातकरण (assimilation) और मिश्रण के माध्यम से समाज के विकास और वृद्धि का मूल तत्व से आधुनिक जटिल रूप में पता लगाने और विश्लेषण करने का प्रयास करता है। यह भारतीय समाज को एक सभ्यता के रूप में समझाने की कोशिश करता है जिसके पूरे हिस्से या विभाजन, सांस्कृतिक निरंतरता, मिश्रण या एकीकरण के माध्यम से परस्पर जुड़े हुए हैं।

सभ्यता शब्द का उपयोग आम तौर पर एक अत्यधिक जटिल रूप में किया जाता है, इसके उलट अपेक्षाकृत सरल है संस्कृति। सभ्यात्मक दृष्टिकोण के अनुयायी 'सभ्यता' शब्द का उपयोग एक ऐतिहासिक वास्तविकता को संदर्भित करने के लिए

टिप्पणी

करते हैं जो समय के साथ विकसित आकार ले चुकी है। आवश्यक रूप से, ऐतिहासिक और आगमनात्मक तरीकों का उपयोग इस दृष्टिकोण के प्रवक्ताओं के कार्यों की विशेषता है। यह समझ में आता है कि सभ्यता की प्रक्रिया में बहुधा समाज की संरचना और संस्कृति में क्रमिक और स्थिर परिवर्तन होते हैं जो मिश्रित और जटिल संस्थानों, मान्यताओं और प्रथाओं के विकास के माध्यम से होते हैं। दूसरे शब्दों में, सभ्यात्मक दृष्टिकोण से, एक सभ्यता का एक महत्वपूर्ण अतीत होता है जबकि इसका वर्तमान संस्कृति और संरचना की जटिलताओं को दर्शाता है। इसलिए, इस दृष्टिकोण के अनुयायी एक सामाजिक–व्यवस्था और एक राष्ट्र को एक ऐतिहासिक–सभ्यता के फ्रेम से विश्लेषित करने का प्रयास करते हैं और अपने सामाजिक संस्थानों, प्रथाओं और संबंधों (जैसे जाति, जनजाति, गाँव, भूमि संबंध) के कथनों में texual और क्षेत्र के दृष्टिकोण से गहराई में उतरने का प्रयास करते हैं। ज्ञान के ऐसे मूल्यवान और समृद्ध स्रोतों का संयोजन इस तरह के विश्लेषण को प्रबुद्ध और आकर्षक बनाता है।

सामाजिक नृविज्ञानी (सोशल एंथ्रोपोलॉजिस्ट) निर्मल कुमार बोस गांधीवादी विद्वानों में से एक हैं। राजनीतिक गतिविधियों में व्यस्त रहने के बावजूद, उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। बोस अग्रणी भारतीय सामाजिक नृविज्ञानियों में से एक थे, जो फ्रांज बोस के साथ इस बिन्दु पर खड़े थे कि भाषा, नस्ल और संस्कृति स्वतंत्र और फिर भी ऐतिहासिक रूप से जुड़े चर हैं। एक प्रकार्यवादी (फंक्शनलिस्ट) के रूप में बोस ने संस्कृति को समझने के लिए मालिनोवस्की के प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण का बहुत ही अनुकूल रूप से जवाब दिया।

अपनी पुस्तक 'ऑन कल्चरल एंथ्रोपोलॉजी' (1929) में उन्होंने स्वतंत्र रूप से संस्कृति की प्रकृति को जो अनुकूली उपकरण के रूप में 'संस्कृति की आत्मा' के चारों ओर व्यवस्थित रहता है, को परिभाषित करने में एक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण लिया है। लेकिन उन्होंने प्रकार्यात्मकवादियों की ऐतिहासिकता को खारिज कर दिया और एक सुसंगत स्थिति ले ली कि सांस्कृतिक नृविज्ञान का उचित डोमेन सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया का एक कार्यात्मक अध्ययन है। हालांकि इनकी पुस्तक में एक स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है– 'संस्कृति का अनुकूली कार्य' और 'संस्कृति की आत्मा'। एन.के. बोस के अनुसार– "प्रत्येक व्यक्ति पृथ्वी पर जीवन का अपना संक्षिप्त समय व्यतीत करता है। वह जरूरतों और इच्छाओं के अधीन है जो अधिक या कम सीमा के समूहों के साथ सहयोग में संतुष्ट हैं, जबकि उसकी प्रेरणाओं को मूल्यों और पैटर्न के अनुरूप ढाला जाता है जो उसके समय में वर्तमान हैं।"

बंगाल के एक प्रख्यात सांस्कृतिक मानव विज्ञानी सुरजीत सिन्हा ने विभिन्न पदों पर भारत सरकार की सेवा की। वे भारत के एंथ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के निदेशक और विश्वभारती के कुलपति थे। उन्होंने बंगाल और बिहार के भूमिज आदिवासी पर बहुत काम किया है। मध्य भारत के आदिवासी–जाति और आदिवासी–किसान निरंतरता के विकासवादी मॉडल को विकसित करने के अलावा, सिन्हा ने आदिवासी आंदोलनों, जाति व्यवस्था, धर्म के समाजशास्त्र, स्थानीय समुदायों, क्षेत्र के अध्ययन, और नृजाति समूहों के अध्ययन में भी योगदान दिया है। वे भारतीय समाज और उसके सामाजिक संगठन की प्रकृति की खोज में रेडफील्ड, सिंगर और बोस से बहुत प्रभावित थे। एक सांस्कृतिक मानव विज्ञानी के रूप में उन्होंने समूहों के व्यक्तिपरक और उद्देश्यपूर्ण तरीके का जीवन जीने के लिए 'आवश्यक' माना, ताकि उनके बीच

सामाजिक संपर्क की प्रकृति को पूरी तरह से समझा जा सके। सिन्हा ने जर्नल ऑफ अमेरिकन फोकलोर, मैन इन इंडिया, ईस्टर्न एंथ्रोपोलॉजिस्ट्स, कंट्रीब्यूसन टु इंडियन सोशियोलॉजी, सोशियोलॉजिकल बुलेटिन जैसी प्रतिष्ठित राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में अपने शोध के क्षेत्रों पर कई लेख लिखे। उन्होंने भारत के लोगों पर 'फील्ड स्टडीज : मेथड्स एंड पर्सपेक्टिव्स' (1978) नामक एक पुस्तक भी लिखी। उनका विद्वत्तापूर्ण योगदान हालांकि प्रकाशन के लिए उनकी उदासीनता से मेल नहीं खाता।

टिप्पणी

3.7 मुख्य शब्दावली

- **निधन** : मृत्यु, मौत।
- **योगदान** : सहयोग।
- **वास्तविकता** : असलियत, हकीकत, सच्चाई।
- **आवंटित** : वितरित।
- **उल्लेख** : जिक्र।
- **मृत** : मरा।
- **पुनर्जन्म** : दोबारा जन्म।
- **दिलचस्प** : रोचक।
- **प्रकट** : जाहिर।
- **धारणा** : विचारधारा।
- **अनुरूप** : अनुसार, मुताबिक।
- **बुनियादी** : मूल।
- **अस्पृश्य** : अछूत।
- **इजाजत** : अनुमति, आज्ञा।
- **प्रकृति** : स्वभाव, कुदरत।
- **मुकाम** : लक्ष्य, स्थिति, हालत।
- **जुनून** : धुन, जज्बा, पागलपन।
- **दायित्व** : कर्तव्य, जिम्मेदारी।
- **अवसर** : मौका।

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. जी.एस. घुर्ये का जन्म कब और कहां हुआ था तथा उनका निधन कितनी उम्र में हुआ था?
2. भारत में ग्रामीण शहरीकरण से आप क्या समझते हैं?
3. इरावती कर्वे ने समाज की तुलना कैसी रजाई से की है?

टिप्पणी

4. ए.एन शाह ने अपनी पीएचडी कब और कहां से पूरी की?
5. सभ्यात्मक दृष्टिकोण से आप क्या समझते हैं?
6. प्रख्यात सांस्कृतिक मानव विज्ञानी सुरजीत सिन्हा के बारे में आप क्या जानते हैं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. घुर्ये का दृष्टिकोण तथा जाति के बारे में उनकी समझ की विवेचना कीजिए।
2. ड्यूमा के परिप्रेक्ष्य में शुद्धता तथा अशुद्धता की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।
3. इरावती कर्वे ने भारत में नातेदारी व्यवस्था तथा गांवों में समूह संबंधों की गतिशीलता को कैसे व्यक्त किया है?
4. अरविंद एन. शाह की प्रमुख रचनाओं की व्याख्या कीजिए।
5. निर्मल कुमार बोस द्वारा आदिवासी जीवन पर किए गए नृजातीय अध्ययन की समीक्षा कीजिए।
6. सुरजीत सिन्हा ने आदिवासी संस्कृति और हिंदू किसान परंपरा की निरंतरता को कैसे विवेचित किया है?

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

गुप्ता, एम. एल. तथा शर्मा, डी. डी., *समाजशास्त्र,* साहित्य भवन पब्लिकेशंस, आगरा, 1997

सिंह, जे. पी., *समाजशास्त्र : अवधारणाएं एवं सिद्धांत,* प्रेंटिस हाल ऑफ इंडिया प्रा. लि, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2006

मुकर्जी, रवीन्द्र नाथ, *भारतीय समाज व संस्कृति,* विवेक प्रकाशन, दिल्ली, नवीनतम संस्करण, 2010

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, *समाजशास्त्रीय चिंतन के आधार,* पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2005

एस. सी. दूबे, *इंडियन सोसायटी,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2010

डी. पी. मुखर्जी, *आधुनिक भारतीय संस्कृति,* हिंद किताब, मुंबई (1942 और 1948)

डॉ. जी. के. अग्रवाल, *समाजशास्त्र के सिद्धांत,* साहित्य भवन, आगरा, 2000

राम आहूजा, *भारतीय समाज,* रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पुनर्मुद्रित, 2010

इकाई 4 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (एम.एन. श्रीनिवास, एस.सी. दुबे)
  4.2.1 एम.एन. श्रीनिवास
  4.2.2 एस.सी. दुबे
4.3 मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य और भारतीय समाजशास्त्री
  4.3.1 डी.पी. मुकर्जी (1894–1961)
  4.3.2 ए.आर. देसाई (1915–1994)
  4.3.3 आर.के. मुकर्जी (1889–1968)
4.4 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य
  4.4.1 बी.आर. अंबेडकर
  4.4.2 डेविड हार्डीमेन
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 आप ये भी पढ़ सकते हैं

4.0 परिचय

समाज के अध्ययन में संरचनात्मक प्रकार्यवाद (स्ट्रक्चरल–फंक्शनल) दृष्टिकोण 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के दौरान अगस्ट कॉम्टे, हर्बर्ट स्पेंसर और एमिल दुर्खीम जैसे शुरुआती विचारकों के लेखन से उभरा और 20वीं सदी की पहली छमाही के दौरान समाजशास्त्र, सामाजिक और सांस्कृतिक नृविज्ञान और अन्य सामाजिक विज्ञानों में यह पद्धति एक प्रमुख प्रवृत्ति बन गई।

सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण शुरू में जैविक विज्ञान में और बाद में अन्य विज्ञान और सामाजिक विज्ञान में अपनाया गया। समाज के अध्ययन के लिए प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण समाज को उसके घटक भागों और एक–दूसरे के साथ उनके संबंध के रूप में देखता है ताकि समाज को समग्र रूप से बनाए रखा जा सके।

रैडक्लिफ–ब्राउन किसी भी सामाजिक संस्था के कार्य को पूरे समाज के रखरखाव में योगदान के संदर्भ में परिभाषित करते हैं। प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की शुरुआत इस अवलोकन से होती है कि समाज में व्यवहार की एक संरचना होती है। समाज के सदस्यों के बीच संबंध नियमों या मानदंडों के अनुसार व्यवस्थित होते हैं और इसलिए ये पैटर्न और आवर्तक (recurrent) होते हैं। ये मूल्य (वैल्यूस) व्यवहार के लिए सामान्य दिशानिर्देश प्रदान करते हैं।

प्रस्तुत इकाई में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के अध्ययन के साथ–साथ मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य और भारतीय समाजशास्त्री तथा अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का भी विवेचन किया गया है।

टिप्पणी

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के संबंध में एम.एन. श्रीनिवास के विचारों को जान पाएंगे;
- संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से जुड़े एस.सी. दुबे के कार्यों को समझ पाएंगे;
- मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य से संबंधित डी.पी. मुकर्जी के अध्ययन को परख पाएंगे;
- मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में ए.आर. देसाई के योगदान का अवलोकन कर पाएंगे;
- इसी परिप्रेक्ष्य में आर.के. मुकर्जी के रचनात्मक कामों को जान पाएंगे;
- अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य के बारे में बी.आर. अंबेडकर के अध्ययन की व्याख्या कर पाएंगे;
- इसी से संबंधित डेवि हार्डीमेन के कार्यों का विश्लेषण कर पाएंगे।

4.2 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण (एम.एन. श्रीनिवास, एस.सी. दुबे)

समाज की मुख्य संस्थाएँ जैसे परिवार, अर्थव्यवस्था, शैक्षिक और राजनीतिक प्रणालियाँ सामाजिक संरचना के प्रमुख भाग हैं। सामाजिक संरचना के ये हिस्से समाज के रखरखाव और अस्तित्व के लिए अपना योगदान देते हैं। दूसरे शब्दों में, सामाजिक संरचना के प्रत्येक भाग का समाज के रखरखाव की दिशा में एक विशिष्ट कार्य है। प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य से, समाज को एक प्रणाली के रूप में माना जाता है।

एक प्रणाली परस्पर संबंधित भागों से बनी एक इकाई है जो अन्योन्याश्रित है। किसी भी भाग के कामकाज में बदलाव किसी भी तरह से, हर दूसरे हिस्से और प्रणाली (सिस्टम) को प्रभावित करेगा। ये भाग एकीकृत होते हैं और सामूहिक रूप से व्यवस्था के रखरखाव और स्थिरता की दिशा में योगदान करते हैं। ये प्रकार्यवादी व्यवस्था की आम सहमति, आदेश और स्थिरता में विश्वास करते हैं। विकासवादियों के विपरीत, प्रकार्यवादी (फंक्शनलिस्ट) संस्थानों की उत्पत्ति की खोज उनके आवश्यक कार्यों के संदर्भ में करते हैं।

भारत में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण

1940 से 20वीं सदी के अंत तक भारतीय समाज के अध्ययन में संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण एक प्रमुख दृष्टिकोण रहा है। भारतीय समाज के छात्रों, दोनों –समाजशास्त्री और सामाजिक मानवविज्ञानी, ने भारतीय समाज की अद्वितीय प्रकृति को समझने के लिए जाति और ग्रामीण व्यवस्था का व्यापक विश्लेषण किया है।

एम. एन. श्रीनिवास और एस. सी. दूबे संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से भारतीय समाज के अध्ययन करने वाले भारतीय विद्वानों में सबसे आगे माने जाते हैं।

संरचनात्मक–प्रकार्यात्मकवादियों का मानना है कि भारतीय समाज जातियों से बना है जो महत्वपूर्ण रूप से सामाजिक व्यवस्था का गठन करती हैं। जातियाँ भारतीय सामाजिक संरचना की इकाइयाँ या निर्माण खंड बनाती हैं क्योंकि वे स्थायी समूह हैं जो व्यक्ति से व्यक्ति के समाज में संस्थागत रूप से परिभाषित रिश्ते को निर्धारित करते हैं।

टिप्पणी

4.2.1 एम.एन. श्रीनिवास

मैसूर नरसिम्हाचार्य श्रीनिवास (1916–1999) विश्व प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्री थे। वे भारत में जाति और जाति व्यवस्था, सामाजिक स्तरीकरण और दक्षिण भारत में 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा पर अपने काम के लिए जाने जाते हैं। वे "डोमिनेंट कास्ट" की अवधारणा पर अपने विचारों के लिए भी प्रसिद्ध हैं।

श्रीनिवास के निबंधों में अनुभवजन्य समृद्धि और विश्लेषणात्मक कठोरता, सुरुचिपूर्ण गद्य के साथ सैद्धांतिक परिष्कार का संयोजन है।

वे अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास और साहित्य में रुचि रखते थे, लेकिन समाजशास्त्र और सामाजिक नृविज्ञान में अपने स्वयं के गहरे आधार के चलते इन प्रसंगों और विषयों की व्याख्या की। इसी समय, श्रीनिवास ने समाजशास्त्र और पत्रकारिता के बीच और विद्वता और सामान्य ज्ञान के बीच के अंतर को मान्यता दी।

उनकी इच्छा इन घटनाओं की तह तक जाकर संरचनात्मक और ऐतिहासिक ताकतों जो इन घटनाओं को आकार और आकृति देती हैं का पता लगाने में थी। उन्होंने बहुत सरल तरीके से अपनी बातों को लोगों तक पहुंचाया और शब्दजाल के चक्कर में आने से इनकार कर दिया। यदि उन्होंने नए शब्दों या अवधारणा को गढ़ा, तो यह सुनिश्चित किया कि उन्हें समझने में कोई परेशानी न हो।

श्रीनिवास का पद्धतिगण

श्रीनिवास मूल रूप से पश्चिमी पुस्तकों के माध्यम से या पवित्र पुस्तकों और साहित्य के माध्यम से देशवासियों को समझने में दिलचस्पी नहीं रखते थे, बल्कि उन्हें प्रत्यक्ष अवलोकन और अपने क्षेत्रीय (फील्ड) अनुभवों से अध्ययन करने में दिलचस्पी थी।

इसलिए उन्होंने कूर्ग पर गहन अध्ययन किया। श्रीनिवास ने संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक पहलुओं और जाति व्यवस्था की गतिशीलता को उजागर करने के लिए ज्यादातर जाति और धर्म के बारे में अध्ययन किया। श्रीनिवास के अनुसार मूल रूप से हमारे समाज को समझने के दो तरीके हैं– पुस्तक दृष्टि और फील्ड (क्षेत्र) दृष्टि।

पुस्तक दृष्टि समाज को उपलब्ध पुस्तकों और साहित्य से समझने के लिए है इसे इंडोलोजिकल दृष्टिकोण के रूप में जाना जाता है। लेकिन श्रीनिवास ने क्षेत्र दृष्टि पर अधिक जोर दिया है, क्योंकि क्षेत्र दृष्टि (फील्ड वर्क) से समाज को समझना महत्वपूर्ण माना जाता है।

रचनाएं

श्रीनिवास की विभिन्न रचनाएं निम्न हैं–

(क) सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया (1966)

(ख) रिलीजन एंड सोसाइटी अमंग द कूर्गस ऑफ साउथ इंडिया (1952)

टिप्पणी

(ग) कास्ट इन मॉडर्न इंडिया एंड अदर ऐसेज (1962)

(घ) डोमिनेंट कास्ट एंड अदर ऐसेज (1987)

(ङ) इंडियाज विलेजेज (1955)

(च) इंडिया : सोशल स्ट्रक्चर (1980)

कार्य एवं योगदान

श्रीनिवास के प्रमुख कार्य एवं योगदान निम्न हैं–

सामाजिक परिवर्तन

परिवर्तन समाज का स्थायी अंग है। यह एक वास्तविकता है। मानव समाज भी अलग–अलग समय में विभिन्न आयामों में परिवर्तन का अनुभव करता है। हर तरह के परिवर्तन या बदलाव को सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा के तहत विचार नहीं किया जाता है। सामाजिक परिवर्तन का मूल अर्थ सामाजिक संरचना में परिवर्तन है। सामाजिक परिवर्तन शब्द का तात्पर्य व्यवहार पैटर्न और सांस्कृतिक मूल्य में किसी भी महत्वपूर्ण बदलाव से है। इस प्रकार के परिवर्तन से समाज की संस्कृति पर एक स्थायी प्रभाव पड़ सकता है जिसमें परिवर्तन हुआ है।

संस्कृतीकरण

श्रीनिवास ने 'संस्कृतीकरण' शब्द को भारतीय समाज में मौजूद सामाजिक गतिशीलता को दर्शाने के लिए गढ़ा। उनके अनुसार– "संस्कृतीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक 'निम्न' हिंदू जाति या आदिवासी या अन्य समूह, अपने रीति–रिवाजों, अनुष्ठानों, विचारधारा और जीवनशैली को उच्च और द्विज जाति के रीति–रिवाजों, अनुष्ठानों, विचारधारा और जीवनशैली को अपना लेता है।" इसके बाद जाति पदानुक्रम में उच्च स्थान के लिए दावा किया जाता है। इस तरह के दावे एक निश्चित समय के गुजरने पर किए जाते हैं। कभी एक पीढ़ी या कभी दो पीढ़ी बीतने के बाद इनको जाति पदानुक्रम में इस नए स्थान पर स्थानीय समुदाय द्वारा मान्यता मिलती है।

मैसूर विलेज के अपने अध्ययन में, श्रीनिवास ने पाया कि कुछ समय के लिए या अन्य समय के लिए हर जाति अपनी जाति से जुड़े गुणों को छोड़ कर और उनके ऊपर की जातियों के जाति विशेष गुणों को अपनाने की कोशिश करके पदानुक्रम में अपनी रैंक बदलने की कोशिश करती है। एक जाति को निम्न मानने वाली विशेषताओं को छोड़ कर उच्चतर स्थिति का संकेत देने वाली विशेषताओं को अपनाने की प्रक्रिया को 'संस्कृतीकरण' कहा जाता है। इस प्रक्रिया में अनिवार्य रूप से एक व्यक्ति या एक समूह की आहार संबंधी आदतों में गैर–शाकाहार से शाकाहार तक और अस्पृश्य व्यवसाय से साफ सुथरे व्यवसाय में बदलाव शामिल है। एक जाति की विशेषताएं जातियों के बीच परस्पर क्रिया का आधार बन जाती हैं।

प्रभु जाति (डोमिनेंट कास्ट)

प्रमुख जाति की अवधारणा का उपयोग समाजशास्त्रीय रचना में पहली बार भारत के प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने अपने निबंध 'सोशल सिस्टम ऑफ मैसूर विलेज' में, जो गाँव रामपुरा के अध्ययन के बाद लिखा गया था, किया।

टिप्पणी

यह अवधारणा 'संस्कृतीकरण' की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रभु जाति शब्द का उपयोग उस जाति के संदर्भ में किया जाता है, जिसके पास "आर्थिक या राजनीतिक शक्ति है और जाति पदानुक्रम में उच्च स्थान रखती है।"

इन जातियों को सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में उच्च दर्जा और स्थान प्राप्त है। अन्य निचली जातियों के लोग उन्हें अपने 'संदर्भ समूह' के रूप में देखते हैं और उनके व्यवहार, रीति–रिवाजों, अनुष्ठानों और विचारधारा की नकल करने की कोशिश करते हैं। इस तरह, एक विशेष इलाके की प्रभु जाति उस क्षेत्र में 'सांस्कृतिक संचरण की प्रक्रिया' में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एक प्रभु जाति के सदस्यों का इलाके के सभी मामलों में दखल होता है और कई अवसरों में विशेषाधिकारों का भी इस्तेमाल करते हैं।

श्रीनिवास ने डोमिनेंट जाति की निम्नलिखित छह प्रमुख विशेषताओं को परिभाषित किया है–

(i) भूमि स्वामित्व : ग्रामीण क्षेत्र में भूमि सबसे कीमती चीज होती है क्योंकि यह आय का प्रमुख स्रोत है। स्थानीय रूप से उपलब्ध खेती योग्य क्षेत्र का असमान वितरण भारतीय समाज की एक नियमित घटना है। भूमि का एक बड़ा हिस्सा समृद्ध लोगों के हाथों में केंद्रित है। आमतौर पर बड़े भू स्वामी उच्च जातियों से आते हैं। ये भूमि मालिक अन्य जातियों के लोगों को अपने मजदूर के रूप में रखकर उनसे नौकरी करवाते हैं। वे लोगों को किराए पर जमीन भी देते हैं। नतीजतन, इलाके की पूरी आबादी एक विशेष जाति के कुछ भूमि मालिकों के आगे मजबूर हो जाती है।

एक जाति विशेष के कुछ भू स्वामी अन्य सभी जातियों पर अपनी यथेष्ट शक्ति का प्रयोग करते हैं और उस इलाके की प्रभु जाति बन जाते हैं। श्रीनिवास उल्लेख करते हैं कि पंजाब में भू स्वामी जाटों ने ब्राह्मणों को नौकर के रूप में अपने यहाँ काम पर रखा। ठाकुर जमींदार भी सभी ब्राह्मणों के हाथ से पका भोजन खाने से इनकार करते हैं केवल अपने गुरुओं और धार्मिक गुरुओं को छोड़कर।

(ii) संख्यात्मक शक्ति : एक जाति की संख्या की ताकत भी उसके प्रभुत्व में योगदान करती है। जितनी अधिक संख्या उतनी अधिक शक्ति। कई क्षेत्रों में, क्षत्रिय अपनी बड़ी आबादी के कारण एक इलाके के कुछ अमीर ब्राह्मणों पर भी अपने नियंत्रण और शक्ति का प्रयोग करने में सक्षम हैं और सामाजिक–राजनीतिक स्थिति पर हावी रहने में सक्षम हैं।

(iii) स्थानीय पदानुक्रम में उच्च स्थान : भारतीय समाज को पवित्रता और प्रदूषण के विश्वासों और विचारों पर संगठित जाति व्यवस्था के आधार पर विभिन्न समूहों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक इलाके में कुछ जाति को उच्च दर्जा दिया जाता है, जो इसकी 'संस्कार संबंधी पवित्रता' के कारण है। वे हमेशा सामाजिक जीवन के हर पहलू में अन्य सभी जातियों की तुलना में ज्यादा सामाजिक श्रेष्ठता का आनंद लेते हैं।

ऊपर वर्णित सभी कारकों को पारंपरिक समाज में एक जाति के प्रभुत्व के लिए जिम्मेवार माना गया। आधुनिकीकरण की शुरुआत और लोगों के दृष्टिकोण और

टिप्पणी

विश्वास में बदलाव के साथ विभिन्न नए कारकों ने पुराने कारकों के महत्व को कम कर दिया है।

(iv) शिक्षा : जिस जाति के सदस्य ज्यादा शिक्षित हैं स्वाभाविक रूप से अन्य जातियों के सदस्यों द्वारा उन्हें ऊंचा समझा जाता है। अपनी उच्च शिक्षा के कारण, वे दूसरों का मनोबल जीतते हैं। अनपढ़ लोगों को आधुनिक सामाजिक जीवन की जटिलताओं के कारण कई बार उनसे मदद लेनी पड़ती है। शिक्षित लोगों की विभिन्न विकासात्मक गतिविधियों, योजनाओं और कार्यक्रमों के बारे में उनकी पर्याप्त जानकारी और ज्ञान के कारण वे बाकी लोगों से बेहतर स्थिति में होते हैं। उनकी ये सब खूबियाँ उनकी समृद्धि को बढ़ाती हैं जिसके चलते वे एक विशेष क्षेत्र में प्रभुत्वशाली हो जाते हैं।

(v) प्रशासन और आय के शहरी स्रोतों में नौकरियां : जिस जाति के अधिकांश सदस्य सरकारी नौकरशाही में हैं या आर्थिक रूप से मजबूत हैं, वह हमेशा खुद को एक लाभकारी स्थिति में पाते है। इसके सदस्य सरकारी अधिकारी होने के कारण कानूनी और प्रशासनिक शक्तियां रखते हैं। वे शहरी आय के विभिन्न स्रोतों के लिए अन्य जाति के साथियों की मदद करते हैं जैसे कि शहरी निवासियों को खाद्यान्न की आपूर्ति करना, विभिन्न प्रकार के व्यवसाय करना। इस तरह वे अपनी आर्थिक स्थिति मजबूत करते हैं और तुलनात्मक रूप से उस जाति के सदस्य जो केवल कृषि गतिविधियों में संलग्न हैं से समृद्ध हो जाते हैं। ये सभी चीजें एक खास इलाके में उस जाति के सदस्यों को उच्च स्थिति में रखने में सहायता करती हैं और उन्हें प्रभुत्वशाली बनाती हैं।

(vi) राजनीतिक भागीदारी : समकालीन भारतीय समाज में राजनीति में प्रभावशाली स्थान को कम नहीं आंका जा सकता है। जिस जाति की राज्य या किसी इलाके के राजनीतिक मामलों में ज्यादा भागीदारी है, वह स्वाभाविक रूप से सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में अपनी स्थिति को बढ़ाती है और उस पर अपना नियंत्रण रखती है।

अब तक हम इस बात पर जोर दे रहे हैं कि एक जाति अपने गुणों के कारण किसी इलाके में प्रभुत्वशाली हो जाती है जैसा कि ऊपर चर्चा की गई है। लेकिन प्रभुत्वशाली अब विशुद्ध रूप से स्थानीय घटना नहीं है। एक जाति के पास किसी विशेष इलाके या गाँव में प्रभुत्वशाली होने के गुण हो सकते हैं या नहीं हो सकते हैं। फिर भी, किसी जाति के प्रभु जाति के होने में योगदान हो सकता है, यदि वही जाति उस व्यापक क्षेत्र में एक प्रभुत्वशाली स्थान रखती हो। ऐसे मामले में, स्थानीय रूप से महत्वहीन जाति के सदस्यों का नेटवर्क या संबंध और मित्रता उस क्षेत्र के प्रभुत्वशाली रिश्तेदारों के साथ उन्हें प्रभुत्वशाली बना देता है।

धर्म और समाज

श्रीनिवास की रचना 'रिलीजन एंड सोसाइटी एमंग द कूर्गस ऑफ साउथ इंडिया' (1952) में उन्हें निम्न–जाति के हिंदुओं द्वारा ब्राह्मणों के जीवन–व्यवहार और अनुष्ठानों की नकल की प्रक्रिया के विश्लेषण ने 'ब्राह्मणीकरण' की अवधारणा तैयार करने के लिए अग्रसित किया। इस अवधारणा का उपयोग गहन और सावधानीपूर्वक अध्ययन के

टिप्पणी

माध्यम से निचली जातियों के अनुष्ठानों और जीवन–पद्धतियों में देखे गए परिवर्तनों की व्याख्या करने के लिए एक व्याख्यात्मक उपकरण के रूप में किया गया था। हालांकि, 'ब्राह्मणीकरण' की धारणा में उच्च चरण की अवधारणा 'संस्कृतीकरण' में बदलने की अंतर्निहित संभावनाएँ थीं।

श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण के अर्थ को विस्तार देते हुए और इसे पश्चिमीकरण की दूसरी अवधारणा से अलग करते हुए, दोनों शब्दों को एक व्यवस्थित तरीके से इस्तेमाल किया ताकि भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को समझाया जा सके। यह वैचारिक योजना, हालांकि मुख्य रूप से सांस्कृतिक नकल की प्रक्रियाओं का उल्लेख करती है, इसमें अंतर्निहित संरचनात्मक धारणा है– जो पदानुक्रम और विशेषाधिकार और शक्ति की असमानता है, क्योंकि अनुकरण उन जातियों या श्रेणियों द्वारा किया जाता है जो सामाजिक और आर्थिक स्थिति में कमजोर हैं।

अपनी रचना रिलीजन एंड सोसाइटी में श्रीनिवास हिंदू धर्म के प्रसार से चिंतित थे। उन्होंने 'सांस्कृतिक हिंदुवाद' और उसके मूल्यों के बारे में बात की। इससे संबंधित 'संस्कृतीकरण' के विचार थे जिसे श्रीनिवास ने भारत में दूरस्थ भागों में सांस्कृतिक मूल्यों के प्रवेश की प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए नियोजित किया था। सर्वोच्च और द्विज जाति में जन्म लेने वाली जातियों की जीवन शैली अपनाना ही मुख्य तंत्र था जिसके द्वारा निचली जातियों ने अपनी सामाजिक स्थिति बढ़ाने की मांग की थी।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

1. हालाँकि श्रीनिवास ने आर्थिक और तकनीकी विकास की बात की है, लेकिन उन्होंने समाज के निचले तबके पर ध्यान केंद्रित नहीं किया है।
2. संस्कृतीकरण और डोमिनेंट जाति पर उनके विचारों ने उन्हें सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की हिंदुत्व विचारधारा के करीब बना दिया है।
3. सामाजिक परिवर्तन के लिए संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण की दोनों प्रक्रियाओं को "आधुनिक भारत में सीमित प्रक्रियाएं" के रूप में माना जाता है और एक को दूसरे के संदर्भ के बिना समझना संभव नहीं है।

4.2.2 एस.सी. दुबे

श्यामा चरण दुबे भारतीय गांवों पर अपने काम और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के प्रलेखन और विश्लेषण के लिए प्रसिद्ध हैं। एस. सी. दुबे का भारत में सामाजिक विज्ञान की स्थिति से भी गहरा संबंध था। उनका मानना था कि भारतीय सामाजिक विज्ञान प्रतिबद्धता के संकट से ग्रस्त है, जिससे राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए अप्रासंगिक होने वाली सामग्री पैदा होती है।

एस. सी. दुबे का जन्म मध्य प्रदेश के नरसिंहपुर में 25 जुलाई, 1882 को हुआ था। 74 वर्ष की आयु में 4 फरवरी, 1966 को उनका निधन हो गया। मध्य प्रदेश की कमार जनजाति में बदलती खेती पर उन्होंने शोध कार्य प्रारम्भ किया। बाद में 'कमार' पर उनकी पुस्तक प्रकाशित हुई। उनका मानना था कि एक गाँव सारे ग्रामीण भारत के परिवेश को स्पष्ट नहीं कर सकता। उन्होंने हैदराबाद के गांव शमीरपेट का अध्ययन गाँव की सामाजिक, सांस्कृतिक, सांस्कारिक संरचना तथा परिवार के स्तर पर किया।

टिप्पणी

एस. सी. दुबे का पद्धतिगत दृष्टिकोण

दुबे ने ज्यादा ध्यान अपनी रचना इंडियाज चेंजिंग विलेज पर केंद्रित किया है। उनके बाद के लेखन ने भारत की सामाजिक वास्तविकता में भी वही अंतर्दृष्टि बनाए रखी, जो वृहद–परिप्रेक्ष्य (macro perspective) से प्राप्त हुई, साथ ही साथ सैद्धांतिक रूप से इन प्रस्तावों के सटीक सत्यापन और अनुभवजन्य सत्यापन की मांग की।

दुबे ने हमेशा अंतर्विषयक दिशानिर्देश और अनुसंधान हित के एक प्रवर्तक के रूप में वकालत की है। इसलिए उन्होंने हमेशा चीजों को एक अलग परिप्रेक्ष्य में देखा, जो उनके बहुआयामी व्यक्तित्व को दर्शाता है। दुबे ने भारतीय वास्तविकता को समझने के लिए 'जटिल संस्कृतियों' के अध्ययन के लिए एक व्यापक संदर्भ विन्यास प्रस्तावित किया। वे तथ्यों को समझने के लिए तथ्य परक समझ को विकसित करना चाहते थे। उनका विश्वास निगमनात्मक सकारात्मक निष्कर्षों की प्राप्ति में था, आगनात्मक निष्कर्ष के उपागम में नहीं था। "भारत देश अपरिवर्तनीय है, गाँव अपरिवर्तनीय हैं" जैसे नकारात्मक दृष्टिकोण में उनका विश्वास नहीं था।

भारत सरकार द्वारा सामुदायिक विकास कार्यक्रम (सीडीपी) की स्वीकृति के कारण, ग्रामीण अध्ययन में दुबे की दिलचस्पी लगातार बढ़ी है। इसने भारत के गांवों में 'संरचना' से 'परिवर्तन' की ओर बदलाव लाया।

दुबे की कुछ मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

1. इंडियाज चेंजिंग विलेज (1955)
2. कोंटेम्पोररी इंडिया एंड इट्स मोडरनाइजेसन
3. मॉडर्नाइजेसन एंड डेवेलपमेंट : द सर्च फॉर अल्टरनेटिव पाराडाइम
4. इंडियन सोसाइटी
5. अण्डरस्टैंडिंग सोसाइटी

कार्य एवं योगदान

दुबे का जनजातियों, ग्रामीण जीवन, सामुदायिक विकास, आधुनिकीकरण, परिवर्तन और परंपरा के प्रबंधन सहित कई क्षेत्रों में योगदान है। उन्होंने मूल रूप से भारतीय समाज और संस्कृति के पहलुओं पर ध्यान केंद्रित किया है। उनके प्रमुख योगदान में निम्न विषय शामिल हैं।

ग्राम अध्ययन

दुबे ने संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से विभिन्न भारतीय गांवों का अध्ययन किया है। इन गांवों पर अपने अध्ययन करते हुए वे मानते हैं कि भारतीय गांवों को समझने के लिए गाँव को संगठित करने वाली विभिन्न इकाइयों का अध्ययन करना चाहिए।

दुबे के अनुसार– "भारत का कोई भी गाँव पूरी तरह से स्वायत्त और स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि यह हमेशा व्यापक सामाजिक व्यवस्था में एक इकाई है और एक संगठित राजनीतिक समाज का एक हिस्सा है। एक व्यक्ति केवल एक गाँव समुदाय का सदस्य नहीं है। वह एक जाति, धार्मिक समूह या एक जनजाति से संबंधित है, जिसमें एक

टिप्पणी

व्यापक क्षेत्रीय प्रसार है और जिसमें कई गाँव शामिल हैं। उन इकाइयों का अपना संगठन, प्राधिकरण और प्रतिबंध हैं।"

हैदराबाद के शमीरपेट गांव पर अपने अध्ययन में, दुबे ने मूल रूप से भारत में गांवों के कामकाज पर ध्यान केंद्रित किया है। उन्होंने स्थापित किया कि ग्रामीण भारत की आर्थिक प्रणाली ज्यादातर जाति आधारित है। वहाँ जाति की कार्यात्मक विशेषज्ञता के साथ–साथ कम व्यावसायिक गतिशीलता है। उनके अध्ययन से गाँव में मनाई जाने वाली तीन प्रमुख प्रकार की धार्मिक सेवाओं और त्योहारों की जानकारी मिली। वे पारिवारिक समारोह, गाँव के पारिवारिक और सामुदायिक त्योहार हैं और त्योहारों के दौरान मुस्लिम और हिंदू एक–दूसरे के साथ बातचीत करते हैं।

दुबे ने समाज को जीवन जीने के मानक के आधार पर चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया था, वे इस प्रकार हैं– (i) अमीर, (ii) ठीक ठाक स्थिति, (iii) औसत और (iv) गरीब। यह वर्गीकरण जीवन के विभिन्न पहलुओं जैसे घर का स्वामित्व, रोज के उपयोग में आने वाले वस्त्र, आभूषण आदि पर आधारित था।

समाज : निरंतरता और परिवर्तन

ऐसे कई कारक हैं जो समाज में बदलाव लाते हैं। ग्रामीण समाज में छोटे और सांस्कृतिक परिवर्तन लाने में राज्य की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। लेकिन उपयोगिता, सुविधा और उपलब्धता के कारकों ने समुदाय के जीवन में कई नए तत्वों को लाने में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

परिवर्तन सामाजिक संगठनों में भी पाए जाते हैं जिनमें परिवार, जाति व्यवस्था आदि शामिल हैं। परिवार के दृष्टिकोण और स्थिति में बदलाव आया है, जिसके परिणामस्वरूप परिवर्तन भी हुए हैं। परिवार के भीतर रिश्तेदारी के बंधन भी समय के साथ घटते जा रहे हैं। यहां तक कि संयुक्त परिवार अब एकल परिवार में बदल रहे हैं। विस्तृत और बड़े परिवार अब समाज में दुर्लभ हो गए हैं। जाति व्यवस्था में व्यावसायिक पैटर्न, स्थिति और वर्जनाओं में भी बदलाव आया है। व्यवसाय और विभिन्न वर्जनाओं में परिवर्तन के अलावा जाति व्यवस्था में भी एक बड़ा बदलाव हुआ है जैसे विवाह में होने वाली अंतोगामी प्रथाओं में बदलाव, क्योंकि अंतरजातीय विवाह भी हो रहे हैं। इसी तरह गाँव की व्यवस्था में भी बदलाव देखे गए हैं जहाँ पारंपरिक सदस्यता पैटर्न, सामाजिक नियंत्रण तंत्र में भी परिवर्तन हुआ है।

शहर के एक मजबूत और गहरे प्रभाव ने समायोजन और संशोधनों के द्वारा ग्रामीण जीवन के कई क्षेत्रों में परिवर्तन लाया है लेकिन ग्रामीण समुदाय के संगठन में विभिन्न चरम सीमाओं को संतुलित करने की आवश्यकता ने अब तक ग्राम समुदायों में किसी भी बड़े संरचनात्मक परिवर्तन को रोक रखा है।

आधुनिकीकरण

आधुनिकीकरण एक जटिल सामाजिक प्रक्रिया है और दुबे इन परिवर्तनों को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। उन्होंने मुख्य रूप से आधुनिकीकरण के रास्ते में आने वाली बाधाओं पर जोर दिया है, जैसे कि असंतुलित बदलाव और कठोर सामाजिक मानदंड आदि। अपनी पुस्तक कोंटेम्पोररी इंडिया एंड इट्स मोडरनाइजेसन (Contemporary

टिप्पणी

India and its Modernization) (1974) में दुबे ने नौकरशाही, नेतृत्व, शिक्षा, नियोजन और धर्मनिरपेक्षता के बारे में ज्यादा चर्चा की है ताकि आधुनिकता की सफलता और असफलता का साफ–साफ विश्लेषण किया जा सके। आधुनिक समाज तर्कसंगत और वैज्ञानिक होता है। दुबे आधुनिकीकरण के लिए एक यथोचित राष्ट्रीय ढांचे के निर्माण के लिए कई कारकों की पहचान करते हैं।

ये इस प्रकार हैं–

1. समाज को जोड़ने वाले बंधनों को मजबूत करना होगा। यह सचेत रूप से नियोजित अंतर–क्षेत्रीय और अंतर–प्रजातीय अंतर–निर्भरता को प्रोत्साहित करके, राजनीतिक और आर्थिक भागीदारी को धर्मनिरपेक्ष बनाने और स्थापित प्राधिकरण की वैधता को बढ़ाने के लिए काम करके किया जा सकता है।
2. सामाजिक संयम और सामाजिक अनुशासन महत्वपूर्ण हैं। लेकिन अंशतः ये प्राधिकरण की विश्वसनीयता और उनके द्वारा विभिन्न आर्थिक रुझानों को प्रभावी ढंग से लागू करने की क्षमता पर निर्भर करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को उच्चतम से निम्नतम तक समान रूप से संयम और अनुशासन के मानदंडों के अधीन होना चाहिए। इन मानदंडों के प्रभावीकरण में भेदभाव अविश्वास का कारण बनता है और प्राधिकरण में विद्रोही परिस्थिति को पैदा करने में समर्थ है।
3. नीति निर्माण और उनके कार्यान्वयन में विशेषज्ञों की आवश्यकता पर अधिक जोर नहीं दिया जा सकता। प्रशासनिक संरचनाओं को एक स्वतंत्र और अन्तर्भेदी (interpenetrating) रूप में होना चाहिए तथा इसके साथ विशेषज्ञ और विभेदित भूमिका निभाने वाला भी होना चाहिए। ये विचार राजनीतिक क्षेत्र में भी समान रूप से लागू होते हैं।
4. पुरस्कार देने की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए ताकि यह कार्य क्षमता की उत्कृष्टता को प्रोत्साहित करे और अक्षमता और भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाए। जन नैतिकता के आधार को राजनेताओं, नौकरशाहों और वास्तव में सभी के लिए समान कठोरता के साथ लागू किया जाना चाहिए।

विकास

दुबे ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्नाइजेशन एंड डेवेलपमेंट : द सर्च फॉर अल्टरनेटिव पाराडाइम' (1988) में विकास की अवधारणा के विस्तार और विविधीकरण या विनिर्देश को चार चरणों में विभाजित किया है।

1. विकास का अर्थ अनिवार्य रूप से आर्थिक विकास था और अर्थशास्त्रियों ने विशेष रूप से आर्थिक विकास पर अपना ध्यान केंद्रित किया।
2. आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के बीच संबंधों को अधिक गहराई से महसूस किया गया और इसके परिणामों पर जोर दिया गया। आर्थिक विकास और तकनीकी परिवर्तन संस्थागत कारकों द्वारा बाधित थे। इस प्रकार, समाज के संस्थागत ढांचे में संशोधन और मनोवृतियों और मूल्यों में विकल्प आर्थिक विकास की प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाने और तेज करने के लिए अपेक्षित थे। इस क्रांति ने आधुनिकीकरण के प्रतिमान को जन्म दिया।

3. यह एक प्रतिक्रियाशील और उत्तरदायी चरण था। यह विकास और आधुनिकीकरण के अपर्याप्त प्रतिमान में एक मजबूत प्रतिक्रिया से पैदा हुआ था और इसने विकास के अधिक सफल अभ्यास के लिए सकारात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त की।

टिप्पणी

आलोचनात्मक मूल्यांकन

अपने जीवन स्तर के आधार पर समाज के वर्गीकरण पर दुबे का विचार सभी समाजों के लिए लागू नहीं है।

उपर्युक्त अध्ययन में भारतीय समाज को एक संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया गया है। भारतीय समाज को समझते हुए यह अध्ययन भारतीय गांवों के संरचनात्मक और काल्पनिक पहलुओं को दर्शाने का एक प्रयास था। दोनों विद्वानों ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि भारतीय गाँव संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक रूप में संपूर्ण रूप से परिलक्षित होते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. वर्ष 1940 से 20वीं सदी के अंत तक भारतीय समाज के अध्ययन में कौन–सा दृष्टिकोण एक प्रमुख दृष्टिकोण रहा है?
   (क) संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक (ख) प्रकार्यवादी
   (ग) रचनात्मक (घ) अर्थात्मक
2. एम.एन. श्रीनिवास का पूरा नाम क्या है?
   (क) मुरली नाथ श्रीनिवास (ख) मैसूर नरसिम्हाचार्य श्रीनिवास
   (ग) मोहन नारायण श्रीनिवास (घ) मधुनंदन श्रीनिवास
3. एस.सी. दुबे का जन्म कहां हुआ था?
   (क) जबलपुर में (ख) कानपुर में
   (ग) नरसिंहपुर में (घ) छतरपुर में

4.3 मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य और भारतीय समाजशास्त्री

अगर 20वीं सदी के इतिहास में सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाले किसी विचारक की चर्चा की जाए तो उसमें कार्ल मार्क्स का नाम सबसे पहले आता है। भारतीय शिक्षा को मार्क्सवाद (सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियों को समझने के लिए मार्क्स का सिद्धांत) ने भी काफी प्रभावित किया है लेकिन समाजशास्त्र की अपेक्षा इसका अधिक प्रभाव इतिहास, अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र में है। पश्चिमी समाजशास्त्रियों की तरह भारतीय समाजशास्त्रियों ने भी कार्ल मार्क्स की विचारधारा का उपयोग भारतीय समाज की व्याख्या में है। मार्क्सवाद का उद्देश्य भारतीय समाज को वर्ग की दृष्टि से वैज्ञानिक अध्ययन प्रदान करना हैं। भारत में मार्क्सवादी विचारकों का मानना हैं कि भारतीय समाज और इसके अनोखे संस्थानों के उद्‌भव को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से किसी भी अन्य दृष्टिकोण कि तुलना में सबसे ज्यादा अच्छे तरीके से समझा जा सकता है। क्योंकि भौतिक घटना ही है जो सब कुछ निर्धारित करती है।

टिप्पणी

योगेंद्र सिंह के अनुसार भारत में 1940–1950 के काल में मूलभूत मार्क्सवादी विचारधारा पर गैर समाजशास्त्रियों का योगदान सबसे अधिक रहा। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में द्वंदात्मक प्रारूप का प्रयोग एक विशिष्ट शाखा के रूप में प्रचलित हुआ लेकिन अमेरिका में इसका इतना महत्व नहीं हुआ। भारत में इसके बहुत से अनुयायी हैं। प्रारंभिक समाजशास्त्रियों में डी.पी. मुकर्जी, आर.के. मुकर्जी एवं ए.आर. देसाई ने मार्क्सवादी विश्लेषण का प्रयोग अपने अध्ययनों में किया। बाद में कई विद्वानों ने सामाजिक स्तरीकरण का मार्क्सवादी विश्लेषण किया।

4.3.1 डी.पी. मुकर्जी (1894–1961)

धुर्जती प्रसाद मुकर्जी को डी.पी. मुकर्जी के नाम से ज्यादा पहचान मिली। उनकी अकादमिक मंडली में उन्हें डी.पी. के नाम से पुकारा जाता था। 5 अक्टूबर, 1894 को एक मध्यमवर्गीय बंगाली ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ। डी.पी. मुकर्जी भारत में समाजशास्त्र के संस्थापक जनकों में से एक थे। ये उन लोगों में से एक थे जिन्होंने एक मजबूत मुकाम पर भारतीय समाजशास्त्र को पहुंचाया। मुकर्जी ने समाजशास्त्र से पहले इतिहास तथा अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। इन्होंने कार्ल मार्क्स के द्वंदात्मक दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास को समझने का प्रयास किया।

डी.पी. मुकर्जी साहित्य, संगीत, फिल्म, पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन एवं राजनीतिक अर्थव्यवस्था का भी अध्ययन किया। मार्क्सवाद से वे बेहद प्रभावित थे, हालांकि इसके राजनीतिक कार्यक्रम की अपेक्षा इसके सामाजिक विश्लेषण के तरीकों में उनका विश्वास अधिक था। डी.पी. ने अँग्रेजी तथा बंगाली में काफी पुस्तकें लिखीं। उनके द्वारा लिखित पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू इंडियन म्यूजिक' (1945) इस विषय में एक श्रेष्ठ रचना है।

डी.पी. मुकर्जी ने 1922 से 1954 तक लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के संयुक्त विभाग में अध्यापन किया। मुकर्जी की रुचि मार्क्सवादी पद्धति में थी जो उनकी पुस्तक 'ऑन इंडियन हिस्ट्री : ए स्टडी इन मैथड' (1954) का विषय था। वे अपने आपको मार्क्सवादी की अपेक्षा मार्क्स के ज्ञाता के रूप कहलाना ज्यादा पसंद करते थे क्योंकि उन्हें मार्क्सवाद एवं इसकी सैद्धांतिक प्रवृत्तियों पर संदेह था। इनके अनुसार मार्क्सवाद और इसके सिद्धान्त भारतीय संदर्भ की विशेषताओं की चर्चा करने से रोकते हैं।

मुकर्जी का पद्धतिगत दृष्टिकोण

धुर्जती प्रसाद मुकर्जी संभवतः भारतीय समाजशास्त्र के सबसे प्रिय अग्रदूत थे। वे सामाजिक दार्शनिक के रूप में समाजशास्त्र में शामिल हुए।

हालाँकि, उन्होंने आध्यात्मिक भावनाओं को शामिल करते हुए, अनुभववाद के अधिवक्ता के रूप में अधिक काम किया। भारतीय परंपरा में भारतीय सामाजिक यथार्थ के स्वरूप और अर्थ को समझने में उनकी गहरी रुचि थी।

आधुनिकता की ताकतों को भारतीय परंपरा की विशिष्टता में अपनाकर आम लोगों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए इसे कैसे बदला जाए, इसके तरीके खोजने में उनकी समान रूप से रुचि थी। उन्हें मार्क्सवादी के रूप में स्वीकार किया गया था।

टिप्पणी

यह निहित है कि उन्होंने विश्लेषण की एक विधि के रूप में मार्क्सवाद का पालन किया।

भारतीय इतिहास के उनके द्वंद्वात्मक विश्लेषण ने सुझाव दिया कि परंपरा और आधुनिकता, उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, व्यक्तिवाद और सामूहिकता को समकालीन भारत में एक–दूसरे के साथ द्वंद्वात्मक अंतःक्रिया के रूप में देखा जा सकता है।

धुर्जती प्रसाद मुकर्जी का भारत में मार्क्सवादी समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में बड़ा योगदान है। वे पश्चिमी विचारों, अवधारणाओं और विश्लेषणात्मक श्रेणियों के प्रति सहनशील थे लेकिन उनका विचार था कि स्वदेशी समाजशास्त्र और स्वदेशी सामाजिक नृविज्ञान की आवश्यकता है।

परंपरा एवं आधुनिकता के बीच द्वंद्वात्मक अंतःक्रिया

मुकर्जी ने परंपरा और आधुनिकता की द्वंद्वात्मक अंतःक्रिया के बारे में आजादी के कई साल पहले अपनी रचना 'टैगोर : ए स्टडी' (1943) में प्रकाशित किया।

उन्होंने तर्क दिया है कि भारतीय समाज की समझ के लिए परम्पराओं की जानकारी महत्वपूर्ण है। परंपरा और आधुनिकता के बीच विरोधाभास दो तरह – संघर्ष और संश्लेषण, से समाप्त होता है। इनके अनुसार भारतीय समाज परंपरा और आधुनिकता की अंतःक्रिया का परिणाम है।

डी.पी. कहते हैं– "मेरा यह मानना है कि भारत में सामाजिकता का बाहुल्य है, इसके अलावा और सब कुछ बहुत कम है। वास्तव में सामाजिकता की अधिकता भारत की विशेषता है। भारत का इतिहास, इसका अर्थशास्त्र, यहाँ तक की इसका दर्शन सामाजिक समूहों के इर्द–गिर्द घूमता है। ज्यादा से ज्यादा यह भी कह सकते हैं कि यह समाजीकृत व्यक्तियों के इर्द–गिर्द है, ऐसा मैं महसूस करता हूँ।"

डी.पी. मुकर्जी अपनी पुस्तक– 'मॉडर्न इंडियन कल्चर : ए सोसिओलोजीकल स्टडी' में जिक्र करते हैं कि ब्रिटिश काल भारतीय समाज के लिए वास्तविक निर्णायक मोड़ साबित हुआ। उन्होंने हमेशा भारत को शांतिपूर्ण और प्रगतिशील देश के रूप में देखा है। भारत का जन्म विभिन्न तत्वों, संस्कृति आदि के मिलन से हुआ है। इनके अनुसार भारत में राष्ट्रीय आंदोलन प्रकृति में बौद्धिक विरोधी था, लेकिन इसने लोगों में आदर्शवाद और प्रतिबद्धता पैदा करने में मदद की है। यह पाया गया कि राजनीति ने हमारी संस्कृति को बर्बाद कर दिया है।

मुकर्जी मानते हैं कि एक प्रक्रिया के रूप में आधुनिकीकरण केवल अनुकरण द्वारा कभी भी हासिल नहीं किया जा सकता है। बल्कि आधुनिकीकरण पारंपरिक मूल्यों और सांस्कृतिक पैटर्न के विस्तार, उन्नति एवं पुनरोद्धार की एक प्रक्रिया है। परंपरा निरंतरता का एक सिद्धांत है जो विभिन्न विकल्पों में से चुनने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। मुकर्जी माइकल ओकेशॉट (Michael Oakeshott) के कथन– 'परंपरा का सिद्धांत "निरंतरता का सिद्धांत" हैं', से सहमत हैं।

व्यक्तित्व

डी.पी. मुकर्जी के अनुसार, सामाजिक विज्ञान के सिद्धांतों में व्यक्ति को एक अमूर्त व्यक्ति के रूप में समझना एक संकीर्ण अवधारणा है। यह ज्यादा उचित होगा कि व्यक्ति को

टिप्पणी

समग्र दृष्टिकोण के माध्यम से या मनो–सामाजिक दृष्टिकोण से समझा जाए। व्यक्तिवाद की दोहरी प्रक्रिया के संश्लेषण और व्यक्तिगत जीवन की विशिष्टता के समाजीकरण, इस संपूर्ण एकता को व्यक्तित्व कहा जाता है। डी.पी. ने व्यक्तिव को परिभाषित करते हुए पुरुष (Purusha) के विचार को व्यक्ति के पश्चिमी विचार से अलग किया है। पुरुष और तनाव मुक्त समाज का संबंध या व्यक्ति और समूह का संबंध परंपरा के संदर्भ में भारतीय समाज को समझने का एक महत्वपूर्ण तत्व है।

महत्वपूर्ण रचनाएँ

1. बेसिक कान्सेप्ट्स इन सोशियोलोजी (1932)
2. पर्सनैलिटी एंड द सोशल साइन्सेज (1924)
3. मॉडर्न इंडियन कल्चर : ए सोशिओलोजीकल स्टडी (1942)
4. प्राब्लम्स ऑफ इंडियन यूथस (1946)
5. डाइवर्सिटीज (1958)

4.3.2 ए.आर. देसाई (1915–1994)

अक्षय रमनलाल देसाई को भारत के सबसे अग्रणी और प्रख्यात समाजशास्त्री के रूप में जाना जाता है। वे मार्क्सवादी पद्धति को भारतीय राजनीति और समाज के अध्ययन में लागू करने में अग्रणी थे। ए.आर. देसाई का जन्म 16 अप्रैल, 1915 को गुजरात के नडियाद में हुआ और गुजरात के ही बड़ौदा में वर्ष 1994 में उन्होंने अंतिम सांस ली। वे नागर ब्राह्मण जाति के परिवार से ताल्लुक रखते थे। इनके परिवार में ज्यादातर लोग पेशेवर और बुद्धिजीवी थे। उन्होंने लगातार अपने समाजशास्त्रीय अध्ययनों में द्वंद्वात्मक–ऐतिहासिक मॉडल की वकालत की और लागू किया। उन्होंने मार्क्स और एंगेल्स के कार्यों और ट्रॉट्स्की के लेखन का बारीकी से अध्ययन किया। उन्हें ग्रंथ सूची और क्षेत्र अनुसंधान से संबंधित अनुभवजन्य जांच के लिए आधुनिक मार्क्सवादी दृष्टिकोण का परिचय देने में अग्रणी माना जा सकता है। वह भारतीय समाज और उसकी परम्पराओं की धर्म, संस्कार और अनुष्ठान के सन्दर्भ में किसी भी व्याख्या को अस्वीकार करते हैं। परिवार, गाँव और अन्य सामाजिक संस्थाओं को समझने के लिए उनका दृष्टिकोण निरपेक्षता का था। वे परंपरा की उत्पत्ति को भी पश्चिमी संस्कृति में नहीं पाते हैं।

देसाई भी बॉम्बे यूनिवर्सिटी में घुर्ये के छात्र रहे हैं जिन्हें बाद में इसी यूनिवर्सिटी के समाजशास्त्र विभाग के प्रोफेसर और प्रमुख के रूप में सेवा करने का सौभाग्य मिला। वे "इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसायटी" के संस्थापक सदस्यों में से एक थे और आजीवन सदस्य के रूप में रहे। उन्हें 1978 और 1980 के बीच अध्यक्ष के रूप में इस सोसाइटी की सेवा करने का अवसर मिला। उन्हें भारत की अकादमिक मंडली में एक प्रसिद्ध ग्रामीण और शहरी समाजशास्त्री और एक राजनीतिक समाजशास्त्री के रूप में जाना जाता है। वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इतने प्रभावित थे, कि उन्होंने इसे लोकप्रिय बनाने का कोई भी अवसर नहीं गंवाया।

उन्होंने नवंबर 1980 में मेरठ में आयोजित इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी के वार्षिक सम्मेलन में "भारतीय समाज के अध्ययन के लिए मार्क्सवादी दृष्टिकोण की

टिप्पणी

प्रासंगिकता", विषय पर अध्यक्षीय भाषण दिया। यह उनकी बुनियादी वैचारिक प्रतिबद्धता को प्रकट करता है। देसाई ने भारत की अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति की समाजशास्त्रीय व्याख्या पर कई किताबें लिखी हैं। उन्होंने सबसे ज्यादा प्रशंसा अपनी डॉक्टरेट थीसिस–सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म (भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि) के लिए बटोरी। यह थीसिस उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र के प्रहरी– जी एस घुर्ये के मार्गदर्शन में पूरी की। ए. आर. देसाई ऐसे विरले भारतीय समाजशास्त्री थे जो सीधे तौर पर राजनीति से राजनीतिक पार्टियों के औपचारिक सदस्य के रूप में जुड़े थे। मार्क्सवादी राजनीति में उनकी सक्रियता बड़ौदा में स्नातक की पढ़ाई करते हुए हुई, हालांकि बाद में उन्होंने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया।

देसाई का समाजशास्त्रीय विश्लेषण के विकास में अद्वितीय और मौलिक योगदान यह है कि उन्होंने भारत की सामाजिक–राजनीतिक वास्तविकता को एक बड़े फलक पर समझने के लिए ऐतिहासिक भौतिकवाद के पद्धतिशास्त्र को, जो लगभग तीन दशकों तक छाया रहा, शामिल किया। इस पद्धति ने एक अलग समाजशास्त्रीय परंपरा को जन्म दिया, जिसे भारतीय समाज के अध्ययन के लिए द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण के रूप में जाना जाता है।

देसाई का पद्धतिगत दृष्टिकोण

देसाई की समाजशास्त्रीय दृष्टि 1960 और 1970 के दशक के भारतीय सामाजिक नृविज्ञान के साथ नहीं मेल खाती है। जब अन्य भारतीय समाजशास्त्री गांवों का विश्लेषण करने पर ध्यान केंद्रित कर रहे थे, देसाई के समाजशास्त्र ने पूंजीवाद, राष्ट्रवाद, वर्ग, कृषि संरचना, राज्य और किसान आंदोलनों का अध्ययन किया।

देसाई के मार्क्सवादी समाजशास्त्र ने संरचना की मार्क्सवादी धारणा और भारत के संविधान में विभिन्न तत्वों जैसे कि सामंतवाद, पूंजीवाद, वर्ग और राष्ट्र, किसान और श्रमिक वर्ग, उपनिवेशवादी राज्य और वंचितों के अधिकार के बीच सम्बन्धों को विशिष्ट अर्थ देने के लिए ऐतिहासिक पद्धति का उपयोग किया।

देसाई ने एक अंतर्विषयक समाजशास्त्र को तैयार किया जिसमें समाजशास्त्र और सामाजिक विज्ञान के बीच बहुत कम अंतर थे जिन्होंने भारतीय सामाजिक संरचना को समझने और परिवर्तन की प्रक्रियाओं को शामिल करने के लिए प्रतिभागी अवलोकन और फील्डवर्क की विधि का उपयोग किया। ए. आर. देसाई उन भारतीय समाजशास्त्रियों में से एक हैं जिन्होंने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययनों में लगातार द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक मॉडल का उपयोग किया। देसाई ने भारतीय सामाजिक संरचना और इसकी प्रक्रियाओं के विश्लेषण में मार्क्सवादी तरीकों को लगातार लागू किया है।

देसाई पाते हैं कि भारत में प्रमुख समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण मूल रूप से गैर–मार्क्सवादी हैं और मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रकृति में हठधर्मी, मूल्य–भारित (value loaded) और निर्धारक (deterministic) के रूप में प्रचारित करने के चलते खारिज कर दिया गया है।

देसाई के अनुसार, मार्क्सवादी दृष्टिकोण एक प्रासंगिक दृष्टिकोण है क्योंकि यह सरकारी नीतियों, राज्य व्यवस्था और भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था में उनकी जाति और वर्ग प्रणाली का अध्ययन करने में मदद कर सकता है।

टिप्पणी

भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि

देसाई ने भारतीय समाज के विभिन्न आंदोलनों जैसे ग्रामीण और शहरी, जाति और वर्ग संरचना, सामाजिक गतिशीलता और अन्य के बारे में सामान्य रूप से मार्क्सवादी दृष्टिकोण और विशेष रूप से ऐतिहासिक–द्वंद्वात्मक भौतिकवाद दृष्टिकोण से अध्ययन किया।

उन्होंने यह भी चर्चा की है कि भारतीय राष्ट्रवाद की पारंपरिक पृष्ठभूमि अंग्रेजों द्वारा औद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के माध्यम से पैदा की गई भौतिक परिस्थितियों का प्रतिफल थी और यह अँग्रेजी शासन के पूर्व भारत में मौजूद नहीं था।

देसाई का मानना है कि यदि आर्थिक संबंधों में परम्पराएं मजबूती से जुड़ी हुई हैं तो आर्थिक स्थिति में परिवर्तन से परम्पराओं में भी परिणामी परिवर्तन आता है। इसलिए नई सामाजिक और भौतिक स्थितियों जैसे उद्योग, आर्थिक विकास, शिक्षा आदि के कारण भारतीय समाज की पारंपरिक जाति व्यवस्था में विघटन भी हुआ।

देसाई की दोनों पुस्तकें "द सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म" (1948) और "रिसेंट ट्रेंड इन इंडियन नेशनलिज्म" (1960) भारत में पूंजीवाद के विकास पर प्रतिबिंबित हैं। देसाई के अनुसार, आजादी के बाद देश में गठित राज्य पूंजीवादी राज्य हैं। यहाँ प्रशासन स्वामित्व वर्गों की रक्षा और शोषित वर्गों के संघर्षों को दबाने की दोहरी भूमिका निभाता है।

भारतीय समाज में परिवर्तन

भारतीय समाज का सामंती अर्थव्यवस्था से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में परिवर्तन भारत की ब्रिटिश विजय का परिणाम था। व्यापार, उद्योग और वित्त के मामलों की राजनीतिक और आर्थिक नीतियों में अंग्रेजों द्वारा विकास का पूंजीवादी रास्ता अपनाया गया था।

नए आर्थिक सुधारों की शुरुआत के साथ भारत में पुरानी आर्थिक व्यवस्था का विघटन हुआ। नए भूमि संबंधों और आधुनिक उद्योगों ने पुराने भूमि संबंधों और कारीगरों को बदल दिया। उस समय जमींदार भूमि के निजी मालिक के रूप में उभरे।

यहाँ तक कि नए वर्ग समूह भी आर्थिक प्रणाली में इस बदलाव के साथ उभरे, जिसमें कृषि मजदूरों, किरायेदारों, व्यापारियों आदि जैसे समूह शामिल थे। नई भूमि राजस्व प्रणाली, कृषि का व्यावसायीकरण और भूमि का विखंडन आदि ने भी भारतीय गाँव की व्यवस्था में एक बड़ा परिवर्तन किया।

इससे कृषि क्षेत्रों में वर्गों का ध्रुवीकरण, ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी और भूमि मालिकों द्वारा वर्गों का शोषण भी हुआ है। इसी तरह शहरी समाज में पूँजीवादी औद्योगिक श्रमिक वर्ग, छोटे व्यापारी, पेशेवर डॉक्टर, वकील, इंजीनियर आदि थे।

रेलवे, डाक सेवाओं, समान कानूनों की शुरुआत से भी भारतीय समाज में गुणात्मक परिवर्तन आए। भले ही अंग्रेजों के पास शोषणकारी तंत्र था लेकिन इसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज का एकीकरण हुआ। सभी आधारभूत ढांचों के विकास ने भारतीय राष्ट्रवाद की भावना पैदा करने में अग्रणी भूमिका निभाई जिसके चलते राष्ट्रवादी स्वतंत्रता आंदोलन के लिए लोग प्रेरित हुए।

टिप्पणी

वैचारिक आधार जो राष्ट्रवाद की उत्पत्ति के लिए जिम्मेवार थे वे अंग्रेजों के द्वारा भारत में लाए गए पश्चिमी शिक्षा के प्रसार और कुछ शिक्षित एवं प्रबुद्ध भारतीय के कारण थे। वास्तव में इसके चलते राष्ट्रवाद के चरित्र और सामग्री पर एक गहरा प्रभाव पड़ा।

यह शिक्षा वास्तव में उदार और धर्मनिरपेक्ष थी क्योंकि इसने हिंदू उच्च–जाति से ज्ञान के एकाधिकार को मुक्त किया और इसे सार्वभौमिक बना दिया, जिससे बड़े पैमाने पर भविष्य के लिए सार्वजनिक शिक्षा की नींव रखी गई। इस शिक्षा ने भारतीयों को तर्कसंगत, वैज्ञानिक, लोकतांत्रिक सोच वाला बनाने में मदद की। राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान बौद्धिक विचारों को बढ़ाने में इस शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ा।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण की सार्थकता

देसाई का मानना है कि मार्क्सवादी प्रतिमान सबसे प्रासंगिक ढांचा है जो भारतीय समाज और उसकी विभिन्न उप–प्रणालियों में होने वाले परिवर्तनों को ठीक से समझने में मदद कर सकता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण शोधों को सही दिशा में संचालित करने के लिए प्रासंगिक प्रश्नों को उठाने में मदद करता है यह दृष्टिकोण पर्याप्त परिकल्पना तैयार करने में सक्षम बनाता है साथ ही साथ उचित अवधारणाओं को विकसित करने, अनुसंधान तकनीकों को अपनाने और संयोजित करने में सहायता करता है और यह परिवर्तन की केंद्रीय प्रवृत्तियों का तथा इसके आशय का पता लगाने में मदद कर सकता है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण किसी भी समाज और उसमें होने वाले बदलाव को समझने के लिए है।

मार्क्स के अनुसार– "इंसान को जानवर से चेतना, धर्म या किसी भी चीज से जो इंसान पसंद करता है, अलग किया जा सकता है।" जब वे निर्वाह का साधन उत्पन्न करना शुरू करते हैं तो लोग खुद अपने अंदर अंतर करना शुरू कर देते हैं, क्योंकि निर्वाह के साधन उत्पन्न करने में वे भौतिक जीवन का उत्पादन करते हैं।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण सामाजिक वास्तविकता को समझने पर जोर देता है और इसके साथ यह उत्पादन के साधनों की प्रकृति, श्रम के तकनीकी–आर्थिक विभाजन और उत्पादन में शामिल सामाजिक संबंधों के बारे में अधिक स्पष्ट होने की मांग करता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण संपत्ति संबंधों को महत्वपूर्ण मानता है क्योंकि वे उत्पादन के उद्देश्य, प्रकृति, दिशा और उद्देश्यों को आकार देते हैं। संक्षेप में, मार्क्सवादी दृष्टिकोण किसी भी समाज के विश्लेषण में संपत्ति संरचना को केंद्रीय महत्व देता है। यह सभी सामाजिक घटनाओं का ऐतिहासिक स्थान और विशिष्टता प्रदान करता है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण, अन्य समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों के विपरीत "भौतिक जीवन के उत्पादन के तरीके" को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

महत्वपूर्ण रचनाएं

1. द सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म
2. रूरल सोशिओलोजी इन इंडिया
3. स्लम्स और अर्बनाईजेशन इन इंडिया

4. स्टेट एंड सोसाइटी इन इंडिया
5. पिजेंट स्ट्रगल इन इंडिया
6. रूरल इंडिया इन ट्रानजीसन

टिप्पणी

4.3.3 आर.के. मुकर्जी (1889–1968)

रामकृष्ण मुकर्जी इंडियन स्टाटीसटिकल इंस्टीट्यूट, (भारतीय सांख्यिकी संस्थान) कलकत्ता के एक प्रतिष्ठित वैज्ञानिक और स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क, बिंघमटन में समाजशास्त्र के सहायक प्रोफेसर रहे हैं। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय (एमएससी, 1941) और कैंब्रिज (पीएचडी, 1948) में शिक्षित हुए।

फिर वे लंदन के Majesty's Social survey (1948–49) के मुख्य अनुसंधान अधिकारी बन गए, जिसके बाद वे अंकारा में तुर्की सरकार के सलाहकार के रूप में गए (1949), और लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के सलाहकार (1952) के रूप में भी उन्होंने कार्य किया। उन्होंने बर्लिन (1953–57) के हम्बोल्ट विश्वविद्यालय में भारतीय अध्ययन के अतिथि प्रोफेसर के रूप में अपना करियर शुरू किया। 1957 से 1979 तक, उन्होंने भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता में रिसर्च प्रोफेसर के रूप में कार्य किया।

मुकर्जी इंडियन काउंसिल ऑफ सोशल साइंस रिसर्च (1974) के सदस्य और कई संस्थानों और भारत और विदेशों में सामाजिक विज्ञान में पत्रिकाओं के सलाहकार भी रहे हैं। वे इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसायटी (1972–74) के अध्यक्ष और International sociological association (1974–78) की कार्यकारी समिति के सदस्य थे। उनके शोध के अनुभव में भारत के साथ–साथ बांग्लादेश, यू.के., फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन, चेकोस्लोवाकिया, तुर्की और युगांडा में भी काम शामिल हैं।

पद्धतिशास्त्र

मुकर्जी की मुख्य चिंताएं व्यवस्थित और प्रेरक समाजशास्त्र, निदानात्मक अनुसंधान और संबंधित कार्यप्रणाली हैं। वे सामाजिक वास्तविकता का सर्वोत्तम संभव स्पष्टीकरण प्राप्त करने के लिए निदानात्मक पद्धति का उपयोग करना चाहते थे। भारतीय समाजशास्त्रियों में, जैसे डी.पी. मुकर्जी, रामकृष्ण मुकर्जी ने भी भारतीय समाज के अध्ययन के लिए द्वंद्वात्मक मॉडल के महत्व पर जोर दिया।

अपने बाद के कार्यों में रामकृष्ण मुकर्जी ने सामाजिक वास्तविकता के अध्ययन के लिए द्वंद्वात्मक–ऐतिहासिक को छोड़कर एक संभाव्य नाममात्र (Probabilistic Nomological Approach) के दृष्टिकोण को अपना लिया। वे अपने दृष्टिकोण को 'आगमनात्मक निष्कर्षात्मक' ('inductive inferential') प्रकार का मानते हैं, जो मार्क्सवादी या गैर–मार्क्सवादी दोनों प्रकार के अध्ययन के लिए तटस्थ है, जिसे कोई भी परीक्षण और सत्यापन के लिए चुन सकता है।

मुकर्जी के अनुसार, इतिहास और द्वंद्वात्मकता की भूमिका समाजशास्त्रीय सोच और अनुसंधान में प्रस्ताव के निर्माण के स्तर पर समाप्त हो जाती है; ये सामाजिक सूचकांक या श्रेणी के taxonomic formulation में भी मदद कर सकते हैं पर परीक्षण और सत्यापन को तार्किक सिद्धांतों के आधार पर स्वतंत्र रूप से संचालित करना होगा। अपने अध्ययन में, मुकर्जी ने पश्चिम बंगाल में नातेदारी में दूरियाँ और पारिवारिक

संरचनाओं में बदलाव की सीमा को मापने के लिए क्रमबद्ध मात्रात्मक पद्धति का उपयोग किया।

टिप्पणी

मुकर्जी के शोध में ऐतिहासिक समाजशास्त्र तथा अन्य अध्ययन शामिल हैं। इसमें परिवारों और ग्रामीण समाज का वर्गीकरण, संस्कृति के प्रभाव और सामाजिक संकेतकों की समस्या शामिल है। उन्होंने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के लिए लगभग सौ शोध पत्र और एक दर्जन पुस्तकें लिखीं।

उनके प्रमुख प्रकाशनों में शामिल हैं–

1. द प्रॉब्लम ऑफ युगांडा (1956)
2. द डायनामिक्स ऑफ ए रूरल सोसाइटी (1957)
3. द सोशियोलॉजिस्ट एंड सोशल चेंज इन इंडिया टुडे (1965)
4. सिक्स विलेजेज ऑफ बंगाल (1971)
5. द राइज एंड फॉल ऑफ द ईस्ट इंडिया कंपनी (1958)
6. सोशल इंडिकेटर्स (1975)
7. फैमिली एंड प्लानिंग इन इंडिया (1976)
8. वेस्ट बंगाल फैमिली स्ट्रक्चरः 1946–66 (1977)
9. वॉट ईट विल बी ? एक्सप्लोरैशन इन इंडक्टिव सोशियोलॉजी (1978)
10. सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी (1979) आदि

ग्रामीण सामाजिक संरचना

मुकर्जी के बंगाल की ग्रामीण, आर्थिक संरचना और उसकी गतिशीलता के अध्ययन का श्रेय अंशतः के.पी. चट्टोपाध्याय को जाना चाहिए जो भारत के इस भाग में सामाजिक यथार्थता को खोज रहे थे। मध्यम वर्ग की पृष्ठभूमि के समाजशास्त्री तथा मानवशास्त्री इंडियन स्टेटिस्टिकल इंस्टीट्यूट कलकत्ता में यही काम देख रहे थे। काफी विस्तृत निदर्शन के आधार पर वर्ग संरचना, वर्ग संबंध और ग्रामीण संरचना में परिवर्तनों की सूचना प्राप्त की जा रही थी। 1940 में मुकर्जी ने बंगाल की ग्रामीण संरचना पर कई अध्ययन किए थे। ग्रामीण सामाजिक संरचना पर 1960 और 1970 में अध्ययन एक प्रकार से इस तरह के अध्ययनों की वापसी थी।

रामकृष्ण ने ऐतिहासिक, आनुभविक तथा द्वंद्वात्मक आधार पर अध्ययन किए। उनकी किताब 'राइज एंड फॉल ऑफ ईस्ट इंडिया कंपनी' (1958) उपनिवेशवाद में संस्थाकरण के सामाजिक–आर्थिक इतिहास का लेखा–जोखा है। आर्थिक नीतियों की स्थिरता, सामंतवाद तथा विलासी वर्ग का अंत और नए मध्यम वर्गों का उदय सभी कुछ इन अध्ययनों में शामिल था। अपनी रचना 'द डायनामिक्स ऑफ ए रूरल सोसाइटी' (1957) में वर्गों की संरचना में परिवर्तन के आधार पर उन्होंने ग्रामीण संरचना में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों का अध्ययन किया था। उनका विचार था कि भारतीय सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए भारत की संरचना की क्रमबद्धता तथा उसके नैतिक स्वरूप को समझ लेना चाहिए। ग्रामीण समाज के अपने अध्ययन में उन्होंने वर्ग संरचना की अवधारणात्मक दृष्टियों को प्रस्तुत किया और गाँव में वर्ग

रचना के आधारों को देखा। इस तरह उन्होंने गाँव के विकास और संरचना को मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में देखा।

टिप्पणी

मूल्य

प्रारंभ में मुकर्जी एक मार्क्सवादी थे लेकिन उन्होंने अपने बाद के कार्यों में मार्क्स और बेबर के सिद्धांतों को अपनाया। रामकृष्ण ने अपनी किताब 'सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी' (1979) में अग्रणी भारतीय समाजशास्त्रियों जैसे ए.के. कुमारस्वामी, बी. एन. सील, बी.के. सरकार, जी.एस. घुर्ये, डी.पी. मुकर्जी, राधाकमल मुकर्जी, एस.वी. केटकर, बी.एन. डन और के.पी. चट्टोपाध्याय का उनके अध्ययन में उनके कार्यों का मूल्य वरीयताओं, सैद्धांतिक दृष्टिकोण और पद्धति के अभिविन्यास के साथ वर्गीकृत करने का प्रयास किया।

मूल्यों के साथ उनके जुड़ाव में विशिष्टता यह है कि उन्होंने न केवल सामाजिक विज्ञान अनुसंधान में मूल्य आधारित वस्तुओं के मूल्यों और मूल्यांकन को व्यवस्थित रूप से समझाया बल्कि अलग–अलग समाजशास्त्रियों के सैद्धांतिक और पद्धतिगण अभिविन्यास का मूल्य के ढ़ाचे में विश्लेषण करने का भी प्रयास किया। रामकृष्ण मुकर्जी ने सामाजिक विज्ञान अनुसंधान के संदर्भ में मूल्य के बारे में बहुत व्यापक चर्चा की। पार्थ नाथ मुकर्जी ने बातचीत में जब रामकृष्ण मुकर्जी से पूछा कि मूल्य सकारात्मकता से संबंधित कैसे हैं? एक उत्तर में रामकृष्ण कहते हैं– "जब आप एक चर के रूप में मूल्य पर विचार करते हैं, तो आप सकारात्मक नहीं हो सकते। मूल्य को जब सूचना या जानकारी के द्वारा गलत साबित किया जाता है तो वह आंकड़े में बदल जाता है।

रामकृष्ण मुकर्जी ने अपने शिक्षक डी.पी. मुकर्जी के मार्क्सवादी दृष्टिकोण की विरासत को भारतीय सामाजिक वास्तविकता को पुनर्स्थापित करने के लिए आगे बढ़ाया। सामाजिक विज्ञान ज्ञान में उनके योगदान के लिए राधाकमल मुकर्जी, जी.एस. घुर्ये और डी.पी. मुकर्जी जैसे व्यक्तित्वों के बीच रामकृष्ण को भारत के सामाजिक विज्ञान के दर्शन और इतिहास में गिनना गलत नहीं होगा।

मूल्यों के महत्व को संस्कृति के संबंध में ध्यान में रखते हुए रामकृष्ण ने उदाहरण दिया है। द इंटरनेशनल कल्चर डेवलपमेंट (अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति विकास) (1979) ने संस्कृति को 'मूल्यों और परंपराओं के समुच्चय' के रूप में परिभाषित किया है जो लोगों के रोजमर्रा के जीवन से गहराई से जुड़ा हुआ है, और इस अर्थ में यह एक धारणा का पैटर्न है जो लोगों में दुनिया के बारे में समझ पैदा करता है। 'उन्होंने मोटे तौर चार मुख्य मानव मूल्यों– अस्तित्व, सुरक्षा, समृद्धि, और प्रगति, जो सभी मनुष्यों पर लागू होते हैं, के बारे में बात की है।

मानव जाति के मूल्यांकन की अलग–अलग व्याख्या इस संदर्भ में की जाती है कि मानव जाति के लिए क्या उपयुक्त या अनुचित, वांछनीय या घृणित और अच्छा और खराब है।

इस संदर्भ के साथ वर्गीय मूल्यांकन हैं कि कैसे (और क्यों नहीं) जीवित रहने के लिए, जीवन में सुरक्षित रहें, भौतिक समृद्धि और प्रगति सुनिश्चित करें। रामकृष्ण मुकर्जी (1991–13) के अनुसार, मूल्य को मापा नहीं जा सकता। किसी चीज के दो आयाम हैं – वांछनीयता और अवांछनीयता (desirability and anti-desirability)।

टिप्पणी

प्रत्येक चीज को वांछनीयता और अवांछनीयता की मात्रा के संदर्भ में निर्धारित किया जा सकता है। इन दोनों चीजों को किसी तरह के रिश्ते में डाला जा सकता है। वैज्ञानिक जानकारी ज्ञान के अन्य सभी रूपों से भिन्न है क्योंकि इसे सत्यापित किया जा सकता है और यह सार्वभौमिक रूप से सत्य है।

मूल्य : आधुनिकता, विज्ञान और प्रौद्योगिकी

रामकृष्ण मुकर्जी के अनुसार, विज्ञान ज्ञान और प्रौद्योगिकी को समेकित करता है और इस ज्ञान के भंडार को किसी एक उद्देश्य या अन्य के लिए लागू करता है। यह स्पष्ट है कि यह मूल्य–मुक्त उद्देश्य नहीं है। हमें इसे "वांछनीय" या "अवांछनीय", "अच्छा" या "बुरा" के सन्दर्भ में देखना चाहिए। हम वैज्ञानिक और तकनीकी विकास को उनके विविध पहलुओं के संदर्भ में अच्छा या बुरा मानते हुए निश्चित मूल्य महत्व (distinct value significance) निर्धारित करते हैं।

इस प्रकार विज्ञान और प्रौद्योगिकी में मूल्य की भूमिका बहुपक्षीय है। वे आगे कहते हैं कि मूलरूप से दो विरोधी दृष्टिकोणों से विज्ञान और प्रौद्योगिकी में मूल्य के बारे में किसी भी प्रकार के विचार निरर्थक प्रतीत होते हैं।

रामकृष्ण मुकर्जी ने पश्चिमी देशों और तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में अपनी असमान स्वीकृति का जिक्र करते हुए आधुनिक दुनिया में वैज्ञानिक और तकनीकी विकास से जुड़े मूल्य का गंभीर रूप से विश्लेषण किया है। वे मानते हैं कि आधुनिक दुनिया में वैज्ञानिक और तकनीकी विकास पर लगाया गया कोई भी मूल्य महत्व अव्यावहारिक होगा और संबंधित लोगों के लिए हानिकारक भी होगा। "आधुनिकीकरण" की अवधारणा जो इन दिनों चलन में है, ऐसे ही मूल्यांकन का प्रतिनिधित्व करती है।

इसके प्रस्तावक स्पष्ट रूप से मानते हैं कि पश्चिम यूरोप और उत्तर अमेरिका की प्रभावी मूल्य प्रणाली "आधुनिकीकरण" की अवधारणा में निर्णायक भूमिका निभा रही है, इसमें प्रमुख घटक जो वैज्ञानिक और तकनीकी की विशेषताएं हैं। उन्होंने अटलांटिक क्षेत्र में विकास को आगे बढ़ाया। लेकिन "आधुनिकीकरण" की अवधारणा के अनुकरणात्मक और गैर–प्रासंगिक अनुप्रयोगों और विशेष रूप से इसके वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के "ब्लू प्रिंट" ने "विकासशील" समाज को लाभ नहीं दिया है।

मूल्य और मूल्यांकन

सामाजिक विज्ञान में अपने मूल्यांकन में रामकृष्ण कहते हैं, अगर हम मूल्य की भूमिका की जांच विज्ञान और प्रौद्योगिकी में इसके ठोस विवरणों में करते हैं, तो हम आकस्मिक परिस्थिति से मुकाबला नहीं करते हैं। सामाजिक विकास पर विचार चरम स्थितियों में ध्रुवीय–विरोधी हो सकते हैं लेकिन उन लोगों में विभिन्नता जोर देने का मामला है और किसी भी सामग्री या मानवता के शांति, प्रगति और समृद्धि के आध्यात्मिक पहलुओं की असहमति नहीं है।

पैमाने के एक छोर पर, समाज का भौतिक आधार एक विशेष रूप के सामाजिक अस्तित्व को दर्शाता है, जो बाद में एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक चेतना का विकास करता है और समाज के आध्यात्मिक आधार को बढ़ाता है। दूसरे छोर पर समाज का आध्यात्मिक आधार सामाजिक चेतना के एक विशेष रूप को दर्शाता है, जो आगे

चलकर एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक अस्तित्व को विकसित करता है और समाज के भौतिक आधार को बढ़ाता है।

टिप्पणी

मूल्य : जीवन की गुणवत्ता

मानव जीवन के मूल्यों पर अपनी चर्चा में, रामकृष्ण ने देखा कि आम तौर पर सभी लोगों के जीवन के लिए एक ही दृष्टिकोण होता है। वे चाहते हैं कि (1) मानव जीवित रहें, (2) जीवन में सुरक्षा हो, (3) उत्तरजीविता और सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए भौतिक समृद्धि के लिए कामना करें और एक परिपूर्ण जीवन जीएं, और (4) मानसिक प्रगति के लिए प्रयास करें ताकि वे प्रत्येक मानव की क्षमता को आगे बढ़ा सकें।

मूल्यों में विरोधाभास और मूल्यांकन

मुकर्जी परस्पर विरोधी मूल्यों से भी अवगत हैं और मूल्य संघर्ष के इस संदर्भ में कहते हैं, "इतिहास ने दिखाया है कि आम लोगों का एक शक्तिशाली मूल्यांकन अभिजात वर्ग के प्रभावशाली मूल्यांकन के विपरीत, इनमें से किसी भी एक स्थिति में मानव को आधारभूत मूल्यांकन को साकार करने प्रयास में गृहयुद्ध की ओर अग्रसर कर सकता है।

सामाजिक विज्ञान के संदर्भ में समाजशास्त्र क्रमबद्ध मूल्य विस्तार जिसका निर्माण एक तरफ विद्वानों द्वारा, लोगों की आवश्यकता के संदर्भ में और दूसरी तरफ में, लोग खुद क्या घोषित करते हैं कि वे क्या चाहते हैं या किससे मुक्त होना चाहते, में शामिल होता है।

मुकर्जी ने ज्ञान पर जोर दिया और देखा कि ज्ञान केवल इसी से आगे बढ़ सकता है क्योंकि अंतिम विश्लेषण में यह वास्तविकता के साथ एक विषम संबंध बनाता है। यह वास्तविकता का बहुत बारीकी से अन्वेषण कर सकता है, लेकिन कभी भी पूर्ण और अंत में नहीं। इसलिए, विज्ञान कभी–कभी मानव के क्रमिक मूल्यांकन और आधारभूत मूल्यांकन के बीच अंतर को कम कर सकता है लेकिन अंतर को कभी शून्य तक कम नहीं कर सकता।

भारतीय समाजशास्त्र की प्रवृतियाँ

मुकर्जी के अनुसार समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के इतिहास को इनकी सैद्धांतिक पद्धति, शास्त्रीय तथा वैधानिकी के एक–दूसरे के ऊपर प्रभावी होने के कारण समझना आसान नहीं है। अपनी पुस्तक 'ट्रेंड्स इन इंडियन सोशियोलॉजी' में मुकर्जी ने भारत में समाजशास्त्र के लिए निदानात्मक परिप्रेक्ष्य का उपयोग किया। इस संदर्भ में उनके प्रश्न थे–

1. यह क्या है? (परिवेश का विवरण)
2. यह कैसे है? (वर्गीकरण)
3. यह क्यों है? (कारणात्मक)
4. यह क्या होगा? (सम्भावनाएं)
5. ऐसा क्यों होना चाहिए? (इच्छा)

इन सारे प्रश्नों को क्रमानुसार देखा जाना चाहिए। परिवेश की यथार्थता को समझने के लिए सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों को द्वंदात्मक आधारों पर देखा गया

है। मुकर्जी ने सिद्धांत, वैचारिकी और कार्य प्रणाली का उल्लेख, इस प्रश्न से कि यह क्या है? के साथ जोड़ा, साथ ही यह क्या होगा? या इसे कैसा होना चाहिए? के उत्तरों को भी उपर्युक्त परिप्रेक्ष्यों में देखने का प्रयास किया।

टिप्पणी

मुकर्जी ने उपर्युक्त मूलभूत प्रश्नों को अपने पेरडाइम में सामाजिक शोध प्रणालियों, वर्णात्मक, स्पष्टात्मक और निदानात्मक प्रस्तुतियों के बीच के अंतरों को स्पष्ट करने के लिए शामिल किया था। उन्होंने पाया कि तीनों प्रणालियाँ संबन्धित हैं पर आज की आवश्यकता निदानात्मक प्रकार की शोध प्रणाली की है। उनके अनुसार आज के ज्ञान के संदर्भ में सामाजिक यथार्थता को जानने के लिए यही प्रणाली उपयुक्त हो सकती है।

इस प्रकार सामाजिक शोध वर्णनात्मक होते हुए स्पष्टात्मकता को स्वीकार करते हुए निदानात्मक स्तर पर पहुंचेगा।

अपनी प्रगति जांचिए

4. धुर्जती प्रसाद मुकर्जी का जन्म कब हुआ था?

   (क) 5 अक्टूबर, 1894 को (ख) 5 सितंबर, 1894 को

   (ग) 2 अक्टूबर, 1894 को (घ) 11 सितंबर, 1894 को

5. अक्षय रमनलाल देसाई किस यूनिवर्सिटी में घुर्ये के छात्र रहे हैं?

   (क) कानपुर यूनिवर्सिटी में (ख) इलाहाबाद युनिवर्सिटी में

   (ग) दिल्ली यूनिवर्सिटी में (घ) बॉम्बे यूनिवर्सिटी में

6. रामकृष्ण मुकर्जी ने कब से कब तक भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता में रिसर्च प्रोफेसर के रूप में कार्य किया?

   (क) 1957 से 1979 तक (ख) 1959 से 1972 तक

   (ग) 1968 से 1979 तक (घ) 1969 से 2000 तक

4.4 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य

सबाल्टर्न अध्ययनों ने 1970 के दशक के अंत में इंग्लैंड में अपने प्रभावशाली चलन की शुरुआत की, जब अंग्रेजी और भारतीय इतिहासकारों के एक छोटे समूह के बीच सबाल्टर्न विषयों पर भारत में एक नई पत्रिका शुरू करने के प्रस्ताव पर बातचीत हुई। लेकिन भारत में सबाल्टर्न स्टडीज की शुरुआत तब हुई, जब किताब समीक्षा (book review) में सबाल्टर्न स्टडीज के बारे में लिखना शुरू हुआ। और 1986 तक, परियोजना के अंदर और बाहर लेखन के एक संचय ने अनुसंधान के एक विशिष्ट स्कूल की स्थापना की थी जिसके अनुयायियों को 'सबाल्टर्निस्ट' या सीधे तौर पर 'सबाल्टर्न' कहा जाता था। 1990 के दशक में, सबाल्टर्न स्टडीज कई महादेशों में अकादमिक हलकों में– इतिहास से लेकर राजनीति विज्ञान, नृविज्ञान, समाजशास्त्र, साहित्यिक आलोचना और सांस्कृतिक अध्ययन तक के विद्वानों मे, एक गर्म विषय बन गया।

टिप्पणी

सबाल्टर्न स्टडीज 1982 में आधुनिक भारतीय इतिहास के दो विरोधी विद्यालयों, जैसे कि कैम्ब्रिज और राष्ट्रवादी–मार्क्सवादी इतिहासकारों के समालोचक के रूप में उभरीं। इन दोनों स्कूलों ने एक सबाल्टर्न दृष्टिकोण से, एक छोटे से कुलीन समूह की उपलब्धि की कहानी के रूप में भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास का निर्माण किया। इसलिए, वे अपने लोगों द्वारा अपने स्वयं के लिए किए गए योगदान को स्पष्ट नहीं कर सकते थे, अर्थात अभिजात वर्ग से अलग राष्ट्रवाद के निर्माण और विकास के लिए। इसने "इतिहास के अभिजात विरोधी दृष्टिकोण" को शुरू करने के लिए सबाल्टर्न स्टडीज की आवश्यकता पर बल दिया जिसमें "सबाल्टर्न समूहों को इतिहास के विषयों के रूप में देखा गया।"

सबाल्टर्न शब्द अधीनता की सामान्य विशेषता को बताता है, जिसे जाति, वर्ग, आयु, लिंग आदि के संदर्भ में व्यक्त किया जाता है। इसमें 'अवज्ञा और अधीनता' भी शामिल हैं। शाब्दिक रूप से इसका अर्थ 'नीचे से देखने' या समाज के निचले पायदान से समझना या नीचे से ज्ञान के प्रवाह को बताता है।

सबाल्टर्न दृष्टिकोण कुलीन राजनीति के खिलाफ 'जन' की राजनीति की भूमिका को उजागर कर एक संतुलन बनाने की कोशिश करता है। यह दृष्टिकोण न केवल इतिहास के उद्देश्य के रूप में किसान या आदिवासी विद्रोहियों पर ध्यान केंद्रित करता है, बल्कि उन्हें अपने स्वयं के इतिहास के निर्माताओं के रूप में भी मानता है– जो स्वयं की परिवर्तनकारी चेतना से संपन्न हैं।

सबाल्टर्न दृष्टिकोण के विद्वान

सबाल्टर्निस्ट हमेशा दावा करते हैं कि उन्होंने इतिहास को फिर से लिखने की परियोजना में कमजोरों की आवाज को शामिल करने के लिए राष्ट्रवादी और अभिजात्य इतिहासलेखन की अक्षमता को प्रकट किया है। उन्होंने अपना ध्यान अभिजात्य राजनीति के चक्र पर केंद्रित किया है और इन वर्गों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए 'सबाल्टर्न' वर्गों की विद्रोही गतिविधियों और क्षमता पर जोर दिया है, जो प्रतिरोधों के आत्म–सचेत और सुसंगत संकल्पना के साथ समृद्ध किसानों, शहरी व्यापारियों या औपनिवेशिक राजस्व प्रशासक के खिलाफ निर्देशित थे।

भारत में इस परिप्रेक्ष्य के प्रमुख विद्वान डेविड हार्डीमेन, बी.आर. अंबेडकर, रंजीत गुहा इत्यादि हैं।

4.4.1 बी.आर. अंबेडकर

14 अप्रैल, 1891 को जन्मे अंबेडकर दलित नेताओं में सबसे सशक्त व्यक्ति थे। 1917 में, संयुक्त राज्य अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम में अपनी पढ़ाई से लौटने के बाद वे बड़ौदा राज्य की सेवा में छात्रवृति के समझौते की शर्तों के चलते शामिल हो गए। उन्होंने बड़ौदा शहर में काम किया जो गायकवाड़ के शासक परिवार की जगह थी जिसने विदेश में उनकी पढ़ाई का खर्च उठाया था।

उन्होंने बड़ौदा राज्य के महाराजा के रक्षा कार्यालय में सचिव के रूप में काम किया। अंबेडकर ने दलित अधिकारों की रक्षा और दलितों के उत्थान के लिए काम किया। 1924 में उन्होंने बंबई में वकालत शुरू की और दलितों के उत्थान के लिए

टिप्पणी

बहिष्कृत हितकारिणी सभा (डिप्रेस्ड क्लास इंस्टीट्यूट) की स्थापना की। इसके बाद उन्होंने अपना आंदोलन शुरू किया और दलितों के सवालों को उठाया। उन्होंने दलित भेदभाव के उन्मूलन के लिए दलित चेतना की लड़ाई लड़ी। उन्होंने समान आचरण का दावा, प्रस्थिति और अवसर की समानता, समान रूप से नागरिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सहित सभी अधिकारों का उपयोग करने और व्यक्तियों की गरिमा का सम्मान करने के लिए दलित चेतना के प्रश्न को पुरजोर तरीके से उठाया। उन्हें भारत में दलितों के मानवाधिकारों के लिए एक योद्धा माना जाता था।

अम्बेडकर महिलाओं की मुक्ति के बहुत बड़े समर्थक थे। उन्होंने वर्ण व्यवस्था को दोषी ठहराया, जिसमें न केवल दलित बल्कि महिलाएं गुलामों की तरह शामिल हैं। उन्होंने मनु स्मृति (मनु के नियम), ब्राह्मण हिंदू धर्म की कानून पुस्तक (धर्म–शास्त्र) पर सवाल उठाया और पौराणिक प्रथम पुरुष और 'कानूनविद' मनु को जिम्मेदार ठहराया। मनु स्मृति ने प्रत्येक हिंदू के धर्म को उसके सामाजिक वर्ग और जीवन के चरण से जुड़े दायित्वों को बताते हुए निर्धारित किया। यह निम्न जाति के लोगों और महिलाओं के हित के प्रति शत्रुतापूर्ण था और इस मनुस्मृति ने विधवाओं के पुनर्विवाह पर रोक लगा दी। उन्होंने महसूस किया कि हिंदू महिलाओं के पतन के लिए मनु स्मृति पूरी तरह से जिम्मेदार है।

उन्होंने दलितों को बौद्ध धर्म को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया ताकि वे स्वयं को हिंदू अधीनता से मुक्त कर सकें। वे लोगों के विश्वास को अंगीकार करने के अधिकार के लिए भी लड़े।

उन्होंने दलित अधिकारों की रक्षा के लिए विभिन्न माध्यमों को अपनाया। अंबेडकर ने मूक नायक, बहिष्कृत भारत और ईक्वेलिटी जनता जैसी पत्र–पत्रिकाओं में अपने लेखों में उपजे विचारों के माध्यम से दलित भेदभाव के खिलाफ दलितों के संरक्षण के लिए एक आंदोलन शुरू किया। उन्होंने और कई प्रकार के आंदोलन भी शुरू किए। दलितों के यादगार संघर्षों में से एक महाराष्ट्र के त्रावणकोर में वायक्कोम सत्याग्रह था, जिसमें बिना किसी रोक के हिंदू मंदिरों में पूजा करने का दलितों का अधिकार था। अंबेडकर ने श्रमिकों और किसानों के अधिकारों के लिए भी लड़ाई लड़ी।

1920 के दशक के अंत में और विशेष रूप से 1930 के दशक में उन्होंने अपनी इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी बनाई और महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में किरायेदारों (दलित महारों और हिंदू जाति कुनबियों से) की समस्याओं को उठाया। उन्होंने अनुसूचित जातियों की सुरक्षा और संरक्षण की मांग की (जिसे पहले से डिप्रेस्ड क्लास कहा जाता था)। ब्रिटिश राज अवधि के दौरान 1919 के मोंटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार के लिए एक लंबा इतिहास रहा है। अनुसूचित जाति के लोगों को पूर्ण वैधानिक सुरक्षा प्रदान करने के संघर्ष में अंबेडकर का काफी योगदान रहा था। वे लंदन में गोलमेज सम्मेलन में एक प्रतिनिधि थे, जहाँ उन्होंने दलितों के लिए अलग निर्वाचक मंडल की माँग की।

यह आश्चर्य की बात नहीं है कि लंबे संघर्ष के चलते अंबेडकर ने यह देखा कि अनुसूचित जाति के लोगों के कल्याण की गारंटी भारत के 1949 में विधायिका, रोजगार और शैक्षिक क्षेत्रों में आरक्षण के रूप में दी गई। अम्बेडकर दलित आंदोलन के एक महान चौंपियन थे क्योंकि वे पूरे भारत में शोषित वर्ग के आंदोलन को एक क्रांतिकारी आंदोलन में बदलने में सफल रहे।

टिप्पणी

6 दिसम्बर, 1956 को उनका निधन हुआ। इस दिन को देश के लोग 'महापरिनिर्वाण दिवस' के रूप में मनाते हैं।

बी. आर. अम्बेडकर का लेखन

अंबेडकर ने सामाजिक विज्ञान में कई प्रमुख योगदान दिए हैं जो उनके कई लेखन में शामिल हैं–

1. द अनटचेबल्स, हू आर दे?
2. हू आर द शुद्राज?
3. स्टेट्स एंड माइनॉरिटीज
4. इमैनसिपेशन ऑफ द अनटचेबल्स
5. एनीहिलेशन ऑफ कास्ट

दलित की अवधारणा

सामान्य शब्दों में, दलित शब्द अनुसूचित जाति (SC), अनुसूचित जनजाति (ST) और अन्य पिछड़ा वर्ग (OBC) को संदर्भित करता है। लेकिन राजनीतिक अर्थों में, दलित का तात्पर्य अनुसूचित जातियों से है। यह शब्द पहली बार ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत सरकार अधिनियम, 1935 में इस्तेमाल किया गया था। उन्हें आमतौर पर अछूत माना जाता था। महात्मा गांधी ने ऐसे लोगों हेतु 'हरिजन' शब्द का इस्तेमाल किया जिसका अर्थ है भगवान का आदमी।

हिंदू आचार संहिता के अनुसार अछूतों का संबंध पदानुक्रम में सबसे निचले पायदान में स्थित जाति से है। शूद्र, चांडाल, अंत्याज आदि विभिन्न नामों के साथ अंबेडकर के आंदोलन से दलित शब्द का विकास हुआ था, जो एक राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता का संकेत देता है। अंबेडकर ने अनुसूचित जातियों की मुक्ति के लिए एक अलग दृष्टिकोण और तर्कशास्त्र अपनाया था। अम्बेडकर एक समतावादी समाज का निर्माण करके दलितों की मुक्ति चाहते थे। लेकिन यह हिंदू सामाजिक संरचना में संभव नहीं था, जो प्रकृति में काफी पदानुक्रमित था और दलितों को सबसे नीचे रखता था। इसलिए उन्होंने जोर देकर कहा कि दलितों को आगे आना चाहिए और खुद के लिए लड़ना चाहिए, जिसके लिए अंबेडकर ने उन्हें शिक्षित और संगठित करके आंदोलन का मंत्र दिया।

अम्बेडकर का सबाल्टर्न दृष्टिकोण

राजनीति के क्षेत्र में अंबेडकर की भागीदारी ने सामाजिक सुधारों के लिए नए आयाम बनाए। उनके अनुसार जब तक दलित अपने अधिकारों के लिए नहीं लड़ते तब तक कोई भी उन्हें अपनी समस्याओं से बाहर नहीं ला सकता। आत्म चेतना समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का सबसे अच्छा तरीका है। अंबेडकर ने अपने सबाल्टर्न दृष्टिकोण में यह उपदेश दिया कि स्वतंत्रता और मुक्ति को उपहार के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता है, बल्कि इसके लिए संघर्ष करना पड़ता है। आत्म–उत्थान दूसरों के आशीर्वाद से नहीं, बल्कि केवल स्वयं के संघर्ष और कर्म से प्राप्त होता है। अंबेडकर ने उन लोगों को लक्ष्य और दृष्टि प्रदान की जिनके भीतर साहस की कमी थी।

अम्बेडकर के अनुसार, हिंदू धर्म में वेदों, स्मारकों और शास्त्रों का इस्तेमाल दलितों या अछूतों के खिलाफ कड़ी सजा देने के लिए किया जाता था। इसलिए उन्होंने देखा कि ये वेद, स्मृतियाँ और शक्तियाँ केवल शासन की एक प्रणाली हैं, जो अछूतों को उनकी मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित करती हैं और समाज में भेदभाव पैदा करती हैं। अतः इस धर्म को नष्ट करने में कुछ भी गलत नहीं है और यह अधार्मिक भी नहीं है।

अम्बेडकर के सबाल्टर्न दृष्टिकोण का एक अन्य प्रमुख पहलू भारतीय राष्ट्रवाद का सूत्रीकरण है। इसमें राष्ट्रीय धारणा और दलितों की आकांक्षाएं शामिल थीं। अंबेडकर के राष्ट्रवाद का वैकल्पिक रूप, एक तरफ राजा राममोहन राय, बी.जी. तिलक, महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू और श्यामा प्रसाद मुकर्जी द्वारा प्रतिपादित हिंदू राष्ट्रवाद के प्रभावशाली बहस के विरोध में था तो दूसरी तरफ एम. एन. रोर, आर. पी. दत्ता, टी. नागेंद्र रेड्डी और ई. एम. एस. नंबूदरी जैसे साम्यवादी–धर्मनिरपेक्ष–समाजवादी राष्ट्रवाद से भी भिन्न था। अंबेडकर का राष्ट्रवाद मूल है।

जहां औपनिवेशिक भारत में ब्राह्मणवादी वर्चस्व को मजबूत करने के लिए हिंदू राष्ट्रवाद, वहीं दूसरी तरफ, कम्युनिस्ट धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद, वर्ग को खत्म करने के अपने प्रयास के बावजूद दलितों की समस्याओं के लिए अदूरदर्शी था क्योंकि इसकी विचारधारा भी उच्च जातियों जैसे हिंदू राष्ट्रवाद से संबंधित थी। इसलिए, अंबेडकर के 'दलित–बहुजन–समाज' ने भारतीय राष्ट्रवाद के एक रूप का गठन किया जो हिंदू विरोधी और ब्राह्मणवाद विरोधी था। इस राष्ट्रवाद का मुख्य उद्देश्य जातिविहीन और वर्गविहीन समाज बनाना था जहाँ जन्म और व्यवसाय के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होगा।

राजनीति में भूमिका

बी.आर. अंबेडकर गांधीवादी युग में भारतीय राजनीति के एक प्रतिनिधि थे। गांधी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अविवादित नेता थे। जिन्ना अलगाववादी मुस्लिम ताकतों का प्रतिनिधित्व करते थे और अम्बेडकर भारत में वंचित वर्ग के मुख्य प्रवक्ता थे। गांधी और अम्बेडकर दोनों ही वंचित वर्ग के लिए खड़े रहने वाले व्यक्ति थे। अम्बेडकर एक अछूत परिवार में पैदा हुए थे और उसके चलते उन्हें अपमान सहना पड़ा था। अपने परिश्रम और दृढ़ता से उन्होंने खुद को भारत में वंचित वर्गों के अविवादित नेता के साथ–साथ राष्ट्रीय कद का एक राजनेता साबित किया।

स्वतंत्रता प्राप्त हुए और अंबेडकर की मृत्यु के बाद कई दशक बीत गए।

इतना लंबा समय बीतने पर अब यह शायद सार्थक होगा कि अम्बेडकर की भूमिका और उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य हो। अपने जीवन के अधिकांश वर्षों में, अम्बेडकर ने राष्ट्रीय राजनीति की मुख्यधारा से बाहर काम किया। उन्होंने साम्राज्यवादी युग के राजनीतिक और संवैधानिक ढांचे के भीतर दबे हुए वर्गों के उत्थान के लिए काम किया।

उन्होंने ईमानदारी से महसूस किया कि सामाजिक रूप से एक अछूत के रूप में व्यवहार किए जाने के कारण उन्हें कांग्रेस की राजनीति में समानता और प्रतिष्ठा का दर्जा नहीं मिल सका जिसमें जातिगत हिंदू राजनेताओं का वर्चस्व था। महात्मा गांधी

टिप्पणी

ने अंबेडकर की मानसिकता को महसूस किया और कहा– "वे स्पष्ट रूप से वंचित वर्गों से संबंधित हैं और अछूत हैं। लेकिन वे बौद्धिक रूप से हजारों बुद्धिमान और शिक्षित हिंदू धर्म के लोगों से बेहतर हैं। उनकी व्यक्तिगत सफाई उतनी ही अच्छी थी जितनी हमारी थी। आज वे कानून के एक प्रतिष्ठित व्याख्याता हैं। कल आप उन्हें उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में पा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, इस देश की सरकार में कोई ऐसा स्थान नहीं है जिसके लिए वे आकांक्षा नहीं कर सकते या प्राप्त नहीं कर सकते हैं और जिसे एक रूढ़िवादी ब्राह्मण पा सकता है।''

अंबेडकर ने कहा कि यद्यपि हिंदू जाति के कांग्रेसियों ने राजनीति में एक प्रजातंत्रवादी रुख अपनाया, सामाजिक मामलों में वे परंपरावादी थे और सामाजिक असमानता को बरकरार रखा। गांधी ने यह भी महसूस किया कि बहुत से कांग्रेसियों ने अपने अछूत विरोधी कार्यक्रम का समर्थन केवल राजनीतिक विचार से किया था और उनके पास इस कार्यक्रम के लिए कोई वैचारिक समर्थन नहीं था। भले ही अम्बेडकर ने राष्ट्रीय कांग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम और गतिविधियों से स्वयं को अलग रखा, फिर भी उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थक के रूप में ब्रांडेड नहीं किया जा सकता है। उन्होंने निडर होकर ब्रिटिश सरकार की विफलताओं की आलोचना की।

उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार ने केवल राजनीतिक उद्देश्यों से परोक्ष वंचित वर्गों के हित का समर्थन किया और हिंदू रूढ़िवादियों को अनुचित जगह दी। अम्बेडकर ने स्वीकार किया और घोषणा की कि वंचित वर्गों का उत्थान उनके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य है। उन्होंने राष्ट्रवादी नेता की प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए कोई उत्सुकता नहीं दिखाई। यही कारण है कि उन्होंने निडर होकर और स्पष्ट रूप से वंचित समाज के लिए अपने विचार व्यक्त किए और कांग्रेस और यहां तक कि महात्मा गांधी के साथ वाद–विवाद किया।

सितंबर 1932 में, जब महात्मा गांधी ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री के Communal Arward समारोह में वंचित वर्गों के लिए अलग–अलग निर्वाचन क्षेत्रों के प्रावधान का विरोध करते हुए आमरण अनशन करने की घोषणा की और जब व्यावहारिक रूप से पूरे देश ने गांधी के समर्थन का समर्थन किया, तो अम्बेडकर ने गांधी की आलोचना की और इस अनशन को "राजनीतिक स्टंट" करार दिया। गांधी ने अंबेडकर के विचारों को गंभीरता से लिया और अंत में संयुक्त निर्वाचक मंडल में वंचित वर्गों के लिए सीटों के आरक्षण पर सहमति व्यक्त की जो पूना पैक्ट में सन्निहित था। अंबेडकर एक सामाजिक क्रांतिकारी थे।

उन्होंने वंचित समुदाय के बीच आत्म–चेतना और आत्म–सम्मान को जगाने का प्रयास किया। उन्होंने उन्हें बकरियों की तरह निर्दोष के रूप में रहने के बजाय सिंह जैसा नायक होने की सलाह दी। उन्होंने जाति और वर्ण के आधार पर सामाजिक भेदों को मिटाने और स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के आधार पर एक सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का लक्ष्य रखा। अपने जीवन के अंतिम समय में उन्होंने अपने अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण किया, क्योंकि उन्होंने बौद्ध धर्म को मानवतावादी धर्म माना, जो स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व पर आधारित था।

जैसा कि अंबेडकर ने कांग्रेस की राजनीति की मुख्यधारा से बाहर काम किया और कांग्रेस की आलोचना की, कई लोगों ने उनपर अलगाववादी और ब्रिटिश समर्थक

टिप्पणी

होने का संदेह किया। लेकिन वे हमेशा देशभक्त बने रहे। वे कहते थे कि देशभक्ति कांग्रेस का एकाधिकार नहीं है और कांग्रेसी बने बिना देशभक्ति हो सकती है। उन्होंने समाज के पिछड़े वर्गों के उत्थान को देश की राजनीतिक मुक्ति से अधिक महत्वपूर्ण माना। समाज के पिछड़े वर्गों के उत्थान के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता निरर्थक थी। महात्मा गांधी ने भी इसी तरह के विचार रखे थे क्योंकि उन्होंने देशवासियों के बीच स्वराज की अवधारणा के बारे में सोचा था। जाति के विलुप्त हुए बिना स्वराज का अंबेडकर के लिए कोई मतलब नहीं था।

भले ही अंबेडकर ने कुछ बुनियादी मुद्दों पर कांग्रेस और गांधी के साथ झगड़ा किया था, लेकिन स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर उन्होंने कांग्रेस का निमंत्रण केंद्र सरकार में शामिल होने का स्वीकार किया और राष्ट्र के निर्माण में अपनी भूमिका निभाई। संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने एक नए संविधान को प्रतिष्ठित करने में प्रमुख भूमिका निभाई।

उन्होंने संविधान में राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रगतिशील विचारों और आदर्शों को सुनिश्चित करने का पूरा ध्यान रखा। आमतौर पर अंबेडकर को भारतीय संविधान के पिता के रूप में जाना जाता है। डॉ. के.वी. राव ने उन्हें संविधान की जननी के रूप में वर्णित किया है क्योंकि उन्होंने कांग्रेस के विचारों को संवैधानिक रूप दिया था न कि स्वयं के विचारों को। उन्होंने जवाहरलाल नेहरू के पहले मंत्रिमंडल में कानून मंत्रालय संभाला। कांग्रेस और प्रधानमंत्री नेहरू के साथ अपने मतभेदों के कारण, उन्होंने केंद्र सरकार से इस्तीफा दे दिया। अंबेडकर को आमतौर पर विधायिका और सरकारी पदों में आरक्षण लागू करने वाले महान नायक के रूप में माना जाता है।

लेकिन अपने जीवन के अंत की ओर, जब उन्होंने अपने अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण किया, तो उन्होंने अनुसूचित जातियों को बैसाखी को छोड़कर अपने पैरों पर खड़े होने की सलाह दी। अम्बेडकर भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक दुर्लभ व्यक्तित्व थे व एक अर्थशास्त्री, न्यायविद, सामाजिक क्रांतिकारी, संविधान निर्माता, सक्षम सांसद, प्रशासक और असाधारण प्रतिभा के थे। उन्होंने कोलंबिया विश्वविद्यालय से पीएचडी के साथ एक परिपक्व सिपाही के रूप में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया था और लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से डी.एससी और ग्रे'स इन से बार–एट–लॉ की डिग्री ली। एक "सामाजिक कोढ़" (अछूतों के साथ उन दिनों इसी तरह व्यवहार किया जा रहा था) के रूप में जन्मे अंबेडकर दृढ़ता के साथ–साथ आत्म–सम्मान और मानव न्याय की गहन भावना के माध्यम से राष्ट्रीय राजनीति में एक विशाल व्यक्तित्व बनकर उभरे।

आलोचनात्मक समीक्षा

अम्बेडकर ने अछूतों या दलितों के शोषण के बारे में बात की थी लेकिन शोषण का हमेशा सामाजिक आयाम नहीं होता है। आर्थिक शोषण, सांस्कृतिक शोषण जैसे शोषण के अन्य स्रोत भी हैं, जिनके परिणामस्वरूप दलितों को हाशिए पर रखा गया है। समानता लाने के यंत्र के रूप में एससी के लिए आरक्षण कभी भी दलितों के सशक्तिकरण का एकमात्र समाधान नहीं हो सकता है।

टिप्पणी

4.4.2 डेविड हार्डीमेन

डेविड हार्डीमेन का जन्म अक्टूबर 1947 में पाकिस्तान के रावलपिंडी में हुआ था। उनका पालन पोषण इंग्लैंड में हुआ था। वहाँ उन्होंने डोरसेट के शेरबोर्ने स्कूल में पढ़ाई की इसके बाद वे लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में पढ़े। डेविड हार्डीमेन ने 1960 के दशक के उत्तरार्ध से दक्षिण एशियाई इतिहास पर अध्ययन और लेखन किया और इस अवधि के दौरान वास्तव में काम करने के लिए एक दशक से अधिक समय भारत में बिताया। उनके काम का मुख्य केंद्र दक्षिण एशियाई इतिहास में औपनिवेशिक काल पर रहा है, विशेष रूप से ग्रामीण समाज पर औपनिवेशिक शासन के प्रभावों पर। इन्होंने विभिन्न स्तरों पर सत्ता के रिश्तों, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का भारतीय राष्ट्रवाद से संबंध, पर्यावरण और चिकित्सा इतिहास पर भी अध्ययन किया।

1970 के दशक के उत्तरार्ध में वे दक्षिण एशिया में अधीनस्थ समूहों के सामाजिक इतिहास का अध्ययन करने वाले इतिहासकारों के एक समूह के साथ शामिल हो गए। इसने सबाल्टर्न स्टडीज शीर्षक के तहत 1981 के बाद से वॉल्यूम की एक श्रृंखला का प्रकाशन किया। डेविड हार्डमैन ने इस श्रृंखला में वॉल्यूम VIII का सह–संपादन किया और वह सबाल्टर्न स्टडीज के संपादकीय समूह के सदस्य बने रहे।

ग्राम्सियन शब्द 'सबाल्टर्न' – जिसका अर्थ है 'अधीनस्थ समूह' – को एक ऐसे समाज में वर्चस्व और अधीनता के रिश्तों की केंद्रीयता पर जोर देने के लिए चुना गया था जिसमें औद्योगिक दुनिया में वर्ग विभाजन विकसित नहीं हुआ था।

इस परियोजना में दक्षिण एशियाई इतिहास लेखन में प्रभावशाली उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी प्रतिमानों से तीव्र विराम की मांग की गई थी, जिसमें दोनों को कुलीन वर्गों–कुलीन शासकों या राष्ट्रवादी नेताओं इतिहास को अधीनस्थ समूह के इतिहास के ऊपर स्थापित करते देखा गया था। परियोजना ने लेखन की एक अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त संस्था बनाई है। समय के साथ, परियोजना कई अभिनव तरीकों से आगे बढ़ी।

परियोजना में डेविड हार्डीमेन का मुख्य योगदान कई क्षेत्रों में रहा है। उन्होंने गांधीजी के गृह क्षेत्र – गुजरात में स्थानीय स्तर पर भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन का एक विस्तृत अध्ययन किया है, जो गांधीवादी नेतृत्व और स्थानीय किसान कार्यकर्ताओं के उद्देश्य और एजेंडा के बीच की असंगति को सामने ला रहा है। उन्होंने ग्रामीण समाज की शक्ति–संरचनाओं की जांच की है, उदाहरण के लिए सूदखोरों द्वारा प्रयोग किए गए आधिपत्य (hegemonic) नियंत्रणों और उस आधिपत्य की सीमाओं का एक विस्तृत अध्ययन, जैसा कि विद्रोह में विशेष रूप से देखा गया। उन्होंने शराब के सौदागरों के खिलाफ आदिवासियों द्वारा स्वाग्रह के आंदोलन का भी अध्ययन किया है, जिन्हें अंग्रेजों द्वारा प्राप्त आपूर्ति का एकाधिकार दिया गया था और जिन्होंने आदिवासियों की कीमत पर खुद को समृद्ध किया था। 1922–23 में हुए इस आंदोलन में एक देवी को आत्मा–माध्यमों पर कब्जा करने के लिए माना जाता था, जिन्होंने तब लोगों को शराब छोड़ने और शराब के धंधेबाजों का बहिष्कार करने की आज्ञा दी थी। आस–पास के क्षेत्रों में, देवी द्वारा अपने भक्तों को आदेश दिया गया था कि वे जादू टोना पर रोक लगाएं और कुछ मामलों में, गांधी के प्रति अपनी निष्ठा दें।

टिप्पणी

दक्षिण एशियाई इतिहास के लिए विशेष रूप से समृद्ध स्रोत सामग्री प्रदान करने वाली लोकप्रिय यादों, कहानियों और गीतों ने इस काम की सूचना सभी को दी। इस उद्देश्य के लिए, उन्होंने अभिलेखीय सामग्री को बढ़ाने के लिए लगातार सूचना मांगी, जो कि प्रत्यक्ष रूप से उस क्षेत्र से इकठ्ठा की गई थी जहां उन्होंने अध्ययन किया है। इसमें व्यापक यात्राएं शामिल थीं और लंबे समय के लिए गांवों में रहने वाले लोगों के साथ, उनकी सभाओं में भाग लेने और उनकी कहानियों और गीतों की रिकॉर्डिंग भी शामिल थीं। उन्होंने नृविज्ञान पद्धति का उपयोग किया और नृवंशविज्ञानशास्त्री की भूमिका के बारे में इस विषय के भीतर बहस से बहुत कुछ सीखा, जो हमारे ज्ञान की सीमा और लोगों के लिए 'बोलने' के दावों को आगे बढ़ाने के खतरों के बारे में है। उन्होंने नृविज्ञान के भीतर अपने लेखन के माध्यम से एक उदाहरण प्रदान करते हुए कि यह कैसे प्राप्त किया जा सकता है, अधिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण की मांग का समर्थन किया है।

1983 से 1989 तक उन्होंने भारत के गुजरात में स्थित सेंटर फॉर सोशल स्टडीज में रिसर्च फैलो के रूप में काम किया। वहाँ सरकार और गैर सरकारी संगठन का विकास परियोजनाओं के मूल्यांकन पर जोर था, और अपने ऐतिहासिक शोध और लेखन को आगे बढ़ाने के अलावा, वे विकास से जुड़ी अनुसंधान परियोजनाओं की एक विस्तृत श्रृंखला में शामिल हो गए। वे अक्सर फील्डवर्क पर शोधकर्ताओं के साथ होते थे ताकि कई मुद्दों के बारे में सीधी जानकारी प्राप्त हो और कुछ मामलों में उन्होंने अपना स्वतंत्र शोध किया। इस काम ने उन्हें विशेष रूप से दक्षिण एशिया के ग्रामीण गरीबों के लिए पर्यावरण और स्वास्थ्य के मुद्दों के आलोचनात्मक महत्व से अवगत कराया। इस अनुभव के परिणामस्वरूप वे भारत में औपनिवेशिक काल में पर्यावरण के इतिहास और स्वास्थ्य और चिकित्सा के इतिहास पर शोध और लेखन में शामिल हो गए।

डेविड हार्डीमेन के लेखन

डेविड हार्डीमेन के विभिन्न लेखन में सबसे अधिक विद्वतापूर्ण रचनाएं शामिल हैं–

1. द क्विट इंडिया मूवमेंट इन गुजरात (1980)
2. द कमिंग ऑफ द देवी : आदिवासी एसर्शन इन वेस्टर्न इंडिया (1987)
3. पीजेंट रजिस्टेंस इन इंडिया 1858.1914 (1992)
4. सबाल्टर्न स्टडीज VIII : एस्सेज इन ऑनर ऑफ रंजीतगुहा (1994)
5. फीडिंग द बनिया : पीजेंट्स एंड यूजर्स इन वेस्टर्न इंडिया (1996)
6. गांधी इन हिज टाइम एंड अवर्स (2003)
7. हिस्ट्रीज फॉर द सर्बार्डिनेटेड (2006)

हार्डिमेन का सबाल्टर्न परिप्रेक्ष्य

व्याख्या की सबाल्टर्न विधि को एक पुनर्स्थापना प्रणाली के रूप में माना जा सकता है जहां इतिहास के मौन चौनलों को आवाज की सुविधा अबतक अधीन मनुष्य और अनसुनी की अग्रप्रस्तुति की सुविधा द्वारा दी जाती है। राष्ट्रवादी और औपनिवेशिक दोनों प्रकार की मुख्यधारा के इतिहास के नाम से जाने जाने वाले कथात्मक, संपादन

टिप्पणी

में खालीपन, मौखिक और अभिलेखीय स्रोतों के एक सूक्ष्म इंटरफेस द्वारा इसका मुकाबला करने के तरीके से भरे गए हैं।

एक प्रवक्ता के बजाय एक सूत्रधार होने की घोषणा के साथ हार्डिमेन अपने वर्णन की परिधि में प्रवेश करते हैं; वह "...उनके लिए बोलने के लिए किसी भी दावे को आगे नहीं बढ़ाता है, यह वे खुद के लिए करते हैं ... क्या यह उन लोगों के लिए कुछ मूल्य का होना पसंद करेगा जिन्होंने निरंतर उत्पीड़न के चेहरे पर इतना लचीलापन दिखाया है।" हार्डिमेन ने इस बात की वकालत की "...इस तथ्य पर जोर दें कि सबाल्टर्न स्टडीज एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में अभिजात वर्ग और सबाल्टर्न के बीच के संबंधों पर केंद्रित है ... प्रभुत्व और अधीनस्थों के बीच के बंधन हमेशा मजबूत होते हैं और अक्सर एक–दूसरे का प्रतिबिंब हैं ... उनके आपसी संवाद की एक सतत प्रक्रिया के माध्यम से रिश्ते को निरंतर संशोधित किया जा रहा है।"

देवी आंदोलन

"द कमिंग ऑफ द देवी" एक लोकप्रिय आंदोलन का अध्ययन है जो 1920 के दशक में दक्षिण गुजरात के आदिवासियों के बीच पैदा हुआ था। देवी आंदोलन के केंद्र में "शराब, मांस और मछली" के खिलाफ आंदोलन था जो औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी, दोनों पक्षों पर नैतिक और सुधारवादी व्यवस्था द्वारा समर्थित था और जो कुलीन और शोषणकारी पारसी शराब व्यवसायी के लिए प्रतिरोध था, जबकि देवी आंदोलन पर हार्डिमेन के अध्ययन ने सबाल्टर्न के बीच एक पारंपरिक और प्रथागत व्यवहार से शराब पीने के विकास को एक विनियमित और उच्च कर वस्तु के रूप में दर्शाया और औपनिवेशिक अधिकारियों के एक विचारशील समूह द्वारा शराब के कानूनों में छूट और अवैध रूप से इसकी निरंतर उपलब्धता निर्वाह करने का असफल अभियान समसामयिक समय के लिए चंद्रमा के चमकने की तरह के रूप में बताया।

शराब विरोधी आन्दोलन न केवल आदिवासियों को सुधारने और उन्हें जीवन एक सही तरीके से आरंभ कराने का एक प्रयास था, बल्कि इसका उद्देश्य औपनिवेशिक सरकार के संसाधन आधार पर प्रहार करना और शराबियों के मजबूत सामंती और आर्थिक ढांचे को ध्वस्त करना था। देवी आंदोलन औपनिवेशिक कर नीति के साथ–साथ "पारसी शराब और ताड़ी डीलरों के खिलाफ एक बड़ा आंदोलन था। पारसी कठोर सामाजिक बहिष्कार के अधीन थे जिसने उनकी प्रतिष्ठा को नष्ट कर दिया। आंदोलन के दौरान, उनके बीच एक प्रभावशाली तत्व ने गुजरातियों के मध्यमवर्गीय गांधीवादी राष्ट्रवादियों के साथ गठबंधन किया ..."।

हालांकि, हार्डिमेन ने खुलासा किया कि "कांग्रेसियों और अन्य उच्च जाति के राष्ट्रवादियों की अपेक्षाओं के विपरीत निषेधाज्ञा ने शराब की खपत में और जो शराब पीना छोड़ चुके हैं ('varjelas') और जो छोड़ने के बाद वापस शराब पीना चाहते हैं ('sarjelas') बीच सामाजिक विभाजन, में कोई खास गिरावट नहीं लाई। सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद के लिए आंदोलन में, आदिवासियों ने संयम का विरोध किया और पूर्वजों के तरीकों पर वापस जाने का समर्थन किया। हार्डिमेन ने खुलासा किया कि देवी आंदोलन के दौरान भी "कई किसान थे जिन्होंने अपनी आदतों को बदलने की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया था।"

टिप्पणी

'फीडिंग द बनिया' (Feeding the Baniya)

यह ज्यादातर ग्रामीण भारत में अधीनस्थ वर्गों पर सूदखोरों द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्ति को दर्शाता है। इसका एक मजबूत राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव भी है। यह किसानों और सूदखोरों के बीच संबंधों की खोज करता है जो ग्रामीण भारत में जीवन के लिए महत्वपूर्ण रहा है। हार्डिमेन यह समझाने का प्रयास करता है कि सत्ता का ऐसा केंद्र कैसे जाली था; कैसे शताब्दियों तक, सूदखोर ने अपने कार्य से राज्य की संरचना को मदद करते रहे और उसे प्रभावी ढंग से अपनाने में कामयाब रहे; और कैसे वर्गों का उन्होंने शोषण किया और उनका विरोध भी किया। बनिए का गाँव के गरीब लोगों पर हमेशा अपना आधिपत्य होता है। कर्ज में डूबे हुए किसान कृषि उपज की न खत्म होने वाली उनकी मांगों के माध्यम से बनिया व्यापारियों का पेट भरते हैं, सूदखोरों को समृद्ध करते हैं और खुद को गरीबी के चक्र में फँसाते हैं।

यह एक छोटे पैमाने के कृषि समाज का एक बड़ी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण का भी खुलासा करता है। हार्डिमेन ने ग्रामीण और साहूकार के संबंधों के हर पहलू की जांच की। यह एक पहेली है कि ग्रामीण लोग बैंक या किसी भी औपचारिक संस्थान जो बहुत सस्ती दरों पर और बिना किसी कठिनाई के कर्ज देते हैं से मदद लेने की बजाय सूदखोरों की मदद लेना पसंद करते हैं। इस पहेली का उत्तर देते समय हार्डिमेन कहते हैं कि साहूकार वर्चस्व की एक जटिल वेब जो स्थानीय प्रभुत्व वर्गों द्वारा प्रयोग की जाती है, में स्थित हैं।

साहूकार हमेशा खुद वर्चस्वशाली व्यक्ति नहीं हो भी सकता है, लेकिन वह निश्चित रूप से स्थानीय समाज के अन्य प्रभुत्व वर्गों के लिए सबसे आगे था। अब तक एक ऐसा समाज था जो पूंजीवादी संबंधों और संस्थानों के साथ पर्याप्त रूप से नहीं भरा था। इसलिए इन साहूकारों ने व्यापक पूंजीवादी समाज के लाभ के लिए इन किसानों के उत्पाद को अपने माध्यम से वितरित करने की व्यवस्था स्थापित कर ली थी। इस प्रकार यह ग्रामीण भारत में किसानों और सूदखोरों के बीच के संबंधों की हर तरीके से पड़ताल करता है, जिसमें बताया गया है कि राज्यों ने सूदखोरों को कैसे समर्थन दिया, साथ ही साथ बनियों ने कैसे एक ऐसी शक्ति को जन्म दिया जो आर्थिक और वैचारिक दोनों थी।

आलोचनात्मक समीक्षा

हालांकि हार्डिमेन ने सूदखोरों की एकाधिकार से आधिपत्य वाली भूमिका के बारे में बात की है, लेकिन उनके द्वारा बनाई गई गरीबी को समाप्त करने का कोई हल देने की कोशिश नहीं की है। शराब पर प्रतिबंध, मांस केवल आदिवासियों या जनजातियों का काम नहीं है, बल्कि इसका व्यापक पहलू भी होना चाहिए।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्याय ने भारतीय समाज को सबाल्टर्न दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया है। यह एक दृष्टिकोण है जो मूल रूप से सबाल्टर्न या दलितों या वैसे समूह का अध्ययन करता है जो समाज में हाशिए पर हैं। इस परिप्रेक्ष्य में दो प्रमुख विद्वानों को अध्याय के भीतर शामिल किया गया है। अंबेडकर और हार्डिमेन दोनों का भारतीय समाज के सबाल्टर्न के अध्ययन के लिए अपना अलग–अलग योगदान है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

7. सबाल्टर्न अध्ययनों ने कौन–से दशक के अंत में इंग्लैंड में अपने प्रभावशाली चलन की शुरुआत की?

   (क) 1950 के दशक (ख) 1960 के दशक

   (ग) 1970 के दशक (घ) 1980 के दशक

8. बी.आर. अंबेडकर ने किस राज्य के महाराजा के रक्षा कार्यकाल में सचिव के रूप में काम किया?

   (क) बड़ौदा (ख) मद्रास

   (ग) दिल्ली (घ) केरल

9. डेविड हार्डीमेन का जन्म किस देश में हुआ था?

   (क) भारत में (ख) पाकिस्तान में

   (ग) इंग्लैंड में (घ) रूस में

4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ख)
3. (ग)
4. (क)
5. (घ)
6. (क)
7. (ग)
8. (क)
9. (ख)

4.6 सारांश

1940 से 20वीं सदी के अंत तक भारतीय समाज के अध्ययन में संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण एक प्रमुख दृष्टिकोण रहा है। भारतीय समाज के छात्रों, दोनों –समाजशास्त्री और सामाजिक मानवविज्ञानी, ने भारतीय समाज की अद्वितीय प्रकृति को समझने के लिए जाति और ग्रामीण व्यवस्था का व्यापक विश्लेषण किया है।

एम. एन. श्रीनिवास और एस. सी. दूबे संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से भारतीय समाज के अध्ययन करने वाले भारतीय विद्वानों में सबसे आगे माने जाते हैं। संरचनात्मक–प्रकार्यात्मकवादियों का मानना है कि भारतीय समाज जातियों से बना है

टिप्पणी

जो महत्वपूर्ण रूप से सामाजिक व्यवस्था का गठन करती हैं। जातियाँ भारतीय सामाजिक संरचना की इकाइयाँ या निर्माण खंड बनाती हैं क्योंकि वे स्थायी समूह हैं जो व्यक्ति से व्यक्ति के समाज में संस्थागत रूप से परिभाषित रिश्ते को निर्धारित करते हैं।

मैसूर नरसिम्हाचार्य श्रीनिवास (1916–1999) विश्व प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्री थे। वे भारत में जाति और जाति व्यवस्था, सामाजिक स्तरीकरण और दक्षिण भारत में 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा पर अपने काम के लिए जाने जाते हैं। वे "डोमिनेंट कास्ट" की अवधारणा पर अपने विचारों के लिए भी प्रसिद्ध हैं।

श्रीनिवास के निबंधों में अनुभवजन्य समृद्धि और विश्लेषणात्मक कठोरता, सुरुचिपूर्ण गद्य के साथ सैद्धांतिक परिष्कार का संयोजन है।

वे अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास और साहित्य में रुचि रखते थे, लेकिन समाजशास्त्र और सामाजिक नृविज्ञान में अपने स्वयं के गहरे आधार के चलते इन प्रसंगों और विषयों की व्याख्या की। इसी समय, श्रीनिवास ने समाजशास्त्र और पत्रकारिता के बीच और विद्वता और सामान्य ज्ञान के बीच के अंतर को मान्यता दी।

उनकी इच्छा इन घटनाओं की तह तक जाकर संरचनात्मक और ऐतिहासिक ताकतों जो इन घटनाओं को आकार और आकृति देती हैं का पता लगाने में थी। उन्होंने बहुत सरल तरीके से अपनी बातों को लोगों तक पहुंचाया और शब्दजाल के चक्कर में आने से इनकार कर दिया। यदि उन्होंने नए शब्दों या अवधारणा को गढ़ा, तो यह सुनिश्चित किया कि उन्हें समझने में कोई परेशानी न हो।

श्यामा चरण दुबे भारतीय गांवों पर अपने काम और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के प्रलेखन और विश्लेषण के लिए प्रसिद्ध हैं। एस. सी. दुबे का भारत में सामाजिक विज्ञान की स्थिति से भी गहरा संबंध था। उनका मानना था कि भारतीय सामाजिक विज्ञान प्रतिबद्धता के संकट से ग्रस्त है, जिससे राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए अप्रासंगिक होने वाली सामग्री पैदा होती है।

एस. सी. दुबे का जन्म मध्य प्रदेश के नरसिंहपुर में 25 जुलाई, 1882 को हुआ था। 74 वर्ष की आयु में 4 फरवरी, 1966 को उनका निधन हो गया। मध्य प्रदेश की कमार जनजाति में बदलती खेती पर उन्होंने शोध कार्य प्रारम्भ किया। बाद में 'कमार' पर उनकी पुस्तक प्रकाशित हुई। उनका मानना था कि एक गाँव सारे ग्रामीण भारत के परिवेश को स्पष्ट नहीं कर सकता। उन्होंने हैदराबाद के गांव शमीरपेट का अध्ययन गाँव की सामाजिक, सांस्कृतिक, सांस्कारिक संरचना तथा परिवार के स्तर पर किया।

दुबे ने ज्यादा ध्यान अपनी रचना इंडियाज चेंजिंग विलेज पर केंद्रित किया है। उनके बाद के लेखन ने भारत की सामाजिक वास्तविकता में भी वही अंतर्दृष्टि बनाए रखी, जो वृहद–परिप्रेक्ष्य (macro perspective) से प्राप्त हुई, साथ ही साथ सैद्धांतिक रूप से इन प्रस्तावों के सटीक सत्यापन और अनुभवजन्य सत्यापन की मांग की।

अगर 20वीं सदी के इतिहास में सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाले किसी विचारक की चर्चा की जाए तो उसमें कार्ल मार्क्स का नाम सबसे पहले आता है। भारतीय शिक्षा को मार्क्सवाद (सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियों को समझने के लिए मार्क्स

टिप्पणी

का सिद्धांत) ने भी काफी प्रभावित किया है लेकिन समाजशास्त्र की अपेक्षा इसका अधिक प्रभाव इतिहास, अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र में है। पश्चिमी समाजशास्त्रियों की तरह भारतीय समाजशास्त्रियों ने भी कार्ल मार्क्स की विचारधारा का उपयोग भारतीय समाज की व्याख्या में है। मार्क्सवाद का उद्देश्य भारतीय समाज को वर्ग की दृष्टि से वैज्ञानिक अध्ययन प्रदान करना हैं। भारत में मार्क्सवादी विचारकों का मानना हैं कि भारतीय समाज और इसके अनोखे संस्थानों के उद्‌भव को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से किसी भी अन्य दृष्टिकोण कि तुलना में सबसे ज्यादा अच्छे तरीके से समझा जा सकता है। क्योंकि भौतिक घटना ही है जो सब कुछ निर्धारित करती है।

धुर्जती प्रसाद मुकर्जी को डी.पी. मुकर्जी के नाम से ज्यादा पहचान मिली। उनकी अकादमिक मंडली में उन्हें डी.पी. के नाम से पुकारा जाता था। 5 अक्टूबर, 1894 को एक मध्यमवर्गीय बंगाली ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ। डी.पी. मुकर्जी भारत में समाजशास्त्र के संस्थापक जनकों में से एक थे। ये उन लोगों में से एक थे जिन्होंने एक मजबूत मुकाम पर भारतीय समाजशास्त्र को पहुंचाया। मुकर्जी ने समाजशास्त्र से पहले इतिहास तथा अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। इन्होंने कार्ल मार्क्स के द्वंदात्मक दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास को समझने का प्रयास किया।

डी.पी. मुकर्जी साहित्य, संगीत, फिल्म, पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन एवं राजनीतिक अर्थव्यवस्था का भी अध्ययन किया। मार्क्सवाद से वे बेहद प्रभावित थे, हालांकि इसके राजनीतिक कार्यक्रम की अपेक्षा इसके सामाजिक विश्लेषण के तरीकों में उनका विश्वास अधिक था। डी.पी. ने अँग्रेजी तथा बंगाली में काफी पुस्तकें लिखीं। उनके द्वारा लिखित पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू इंडियन म्यूजिक' (1945) इस विषय में एक श्रेष्ठ रचना है।

डी.पी. मुकर्जी ने 1922 से 1954 तक लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के संयुक्त विभाग में अध्यापन किया। मुकर्जी की रुचि मार्क्सवादी पद्धति में थी जो उनकी पुस्तक 'ऑन इंडियन हिस्ट्री : ए स्टडी इन मैथड' (1954) का विषय था। वे अपने आपको मार्क्सवादी की अपेक्षा मार्क्स के ज्ञाता के रूप कहलाना ज्यादा पसंद करते थे क्योंकि उन्हें मार्क्सवाद एवं इसकी सैद्धांतिक प्रवृत्तियों पर संदेह था। इनके अनुसार मार्क्सवाद और इसके सिद्धान्त भारतीय संदर्भ की विशेषताओं की चर्चा करने से रोकते हैं।

अक्षय रमनलाल देसाई को भारत के सबसे अग्रणी और प्रख्यात समाजशास्त्री के रूप में जाना जाता है। वे मार्क्सवादी पद्धति को भारतीय राजनीति और समाज के अध्ययन में लागू करने में अग्रणी थे। ए.आर. देसाई का जन्म 16 अप्रैल, 1915 को गुजरात के नडियाद में हुआ और गुजरात के ही बड़ौदा में वर्ष 1994 में उन्होंने अंतिम सांस ली। वे नागर ब्राह्मण जाति के परिवार से ताल्लुक रखते थे। इनके परिवार में ज्यादातर लोग पेशेवर और बुद्धिजीवी थे। उन्होंने लगातार अपने समाजशास्त्रीय अध्ययनों में द्वंद्वात्मक–ऐतिहासिक मॉडल की वकालत की और लागू किया। उन्होंने मार्क्स और एंगेल्स के कार्यों और ट्रॉट्स्की के लेखन का बारीकी से अध्ययन किया। उन्हें ग्रंथ सूची और क्षेत्र अनुसंधान से संबंधित अनुभवजन्य जांच के लिए आधुनिक मार्क्सवादी दृष्टिकोण का परिचय देने में अग्रणी माना जा सकता है। वह भारतीय

टिप्पणी

समाज और उसकी परम्पराओं की धर्म, संस्कार और अनुष्ठान के सन्दर्भ में किसी भी व्याख्या को अस्वीकार करते हैं। परिवार, गाँव और अन्य सामाजिक संस्थाओं को समझने के लिए उनका दृष्टिकोण निरपेक्षता का था। वे परंपरा की उत्पत्ति को भी पश्चिमी संस्कृति में नहीं पाते हैं।

रामकृष्ण मुकर्जी इंडियन स्टाटीसटिकल इंस्टीट्यूट, (भारतीय सांख्यिकी संस्थान) कलकत्ता के एक प्रतिष्ठित वैज्ञानिक और स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क, बिंघमटन में समाजशास्त्र के सहायक प्रोफेसर रहे हैं। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय (एमएससी, 1941) और कैंब्रिज (पीएचडी, 1948) में शिक्षित हुए।

फिर वे लंदन के Majesty's Social survey (1948–49) के मुख्य अनुसंधान अधिकारी बन गए, जिसके बाद वे अंकारा में तुर्की सरकार के सलाहकार के रूप में गए (1949), और लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के सलाहकार (1952) के रूप में भी उन्होंने कार्य किया। उन्होंने बर्लिन (1953–57) के हम्बोल्ट विश्वविद्यालय में भारतीय अध्ययन के अतिथि प्रोफेसर के रूप में अपना करियर शुरू किया। 1957 से 1979 तक, उन्होंने भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता में रिसर्च प्रोफेसर के रूप में कार्य किया।

मुकर्जी इंडियन काउंसिल ऑफ सोशल साइंस रिसर्च (1974) के सदस्य और कई संस्थानों और भारत और विदेशों में सामाजिक विज्ञान में पत्रिकाओं के सलाहकार भी रहे हैं। वे इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसायटी (1972–74) के अध्यक्ष और International sociological association (1974–78) की कार्यकारी समिति के सदस्य थे। उनके शोध के अनुभव में भारत के साथ–साथ बांग्लादेश, यू.के., फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन, चेकोस्लोवाकिया, तुर्की और युगांडा में भी काम शामिल हैं।

14 अप्रैल, 1891 को जन्मे अंबेडकर दलित नेताओं में सबसे सशक्त व्यक्ति थे। 1917 में, संयुक्त राज्य अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम में अपनी पढ़ाई से लौटने के बाद वे बड़ौदा राज्य की सेवा में छात्रवृति के समझौते की शर्तों के चलते शामिल हो गए। उन्होंने बड़ौदा शहर में काम किया जो गायकवाड़ के शासक परिवार की जगह थी जिसने विदेश में उनकी पढ़ाई का खर्च उठाया था।

उन्होंने बड़ौदा राज्य के महाराजा के रक्षा कार्यालय में सचिव के रूप में काम किया। अंबेडकर ने दलित अधिकारों की रक्षा और दलितों के उत्थान के लिए काम किया। 1924 में उन्होंने बंबई में वकालत शुरू की और दलितों के उत्थान के लिए बहिष्कृत हितकारिणी सभा (डिप्रेस्ड क्लास इंस्टीट्यूट) की स्थापना की। इसके बाद उन्होंने अपना आंदोलन शुरू किया और दलितों के सवालों को उठाया। उन्होंने दलित भेदभाव के उन्मूलन के लिए दलित चेतना की लड़ाई लड़ी। उन्होंने समान आचरण का दावा, प्रस्थिति और अवसर की समानता, समान रूप से नागरिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सहित सभी अधिकारों का उपयोग करने और व्यक्तियों की गरिमा का सम्मान करने के लिए दलित चेतना के प्रश्न को पुरजोर तरीके से उठाया। उन्हें भारत में दलितों के मानवाधिकारों के लिए एक योद्धा माना जाता था।

डेविड हार्डीमेन का जन्म अक्टूबर 1947 में पाकिस्तान के रावलपिंडी में हुआ था। उनका पालन पोषण इंग्लैंड में हुआ था। वहाँ उन्होंने डोरसेट के शेरबोर्ने स्कूल में पढ़ाई

टिप्पणी

की इसके बाद वे लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में पढ़े। डेविड हार्डीमेन ने 1960 के दशक के उत्तरार्ध से दक्षिण एशियाई इतिहास पर अध्ययन और लेखन किया और इस अवधि के दौरान वास्तव में काम करने के लिए एक दशक से अधिक समय भारत में बिताया। उनके काम का मुख्य केंद्र दक्षिण एशियाई इतिहास में औपनिवेशिक काल पर रहा है, विशेष रूप से ग्रामीण समाज पर औपनिवेशिक शासन के प्रभावों पर। इन्होंने विभिन्न स्तरों पर सत्ता के रिश्तों, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का भारतीय राष्ट्रवाद से संबंध, पर्यावरण और चिकित्सा इतिहास पर भी अध्ययन किया।

भारतीय समाज को सबाल्टर्न दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया है। यह एक दृष्टिकोण है जो मूल रूप से सबाल्टर्न या दलितों या वैसे समूह का अध्ययन करता है जो समाज में हाशिए पर हैं। इस परिप्रेक्ष्य में दो प्रमुख विद्वानों को अध्याय के भीतर शामिल किया गया है। अंबेडकर और हार्डिमेन दोनों का भारतीय समाज के सबाल्टर्न के अध्ययन के लिए अपना अलग–अलग योगदान है।

4.7 मुख्य शब्दावली

- **सहमति** : रजामंदी।
- **अस्तित्व** : वजूद।
- **दृष्टिकोण** : नजरिया।
- **दिलचस्पी** : रुचि।
- **इलाका** : क्षेत्र।
- **स्रोत** : जरिया, माध्यम।
- **उल्लेख** : जिक्र।
- **निष्कर्ष** : नतीजा।
- **कठोरता** : सख्ती।
- **प्रयास** : कोशिश।
- **परिलक्षित होना** : नजर आना।
- **अनुयायी** : समर्थक।
- **मुकाम** : स्तर, दर्जा, स्थिति।
- **कल्याण** : हित।
- **पालन** : अनुसरण।
- **इर्द–गिर्द** : चारों तरफ।
- **उन्नति** : प्रगति, तरक्की।
- **लगातार** : निरंतर।
- **इस्तीफा** : त्यागपत्र।
- **फलक** : आसमान।

4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

टिप्पणी

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से आप क्या समझते हैं?
2. एस.सी. दुबे की मुख्य रचनाएं कौन–कौन–सी हैं?
3. मार्क्सवाद का उद्देश्य क्या है?
4. ए.आर. देसाई को भारत के सबसे अग्रणी समाजशास्त्री के रूप में क्यों जाना जाता है?
5. सबाल्टर्न दृष्टिकोण के बारे में आप क्या जानते हैं?
6. दलित शब्द की अवधारणा क्या है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. एम.एन. श्रीनिवास के प्रमुख कार्यों व योगदानों का विवेचन कीजिए।
2. एस.सी. दुबे द्वारा किए गए उल्लेखनीय योगदानों की व्याख्या कीजिए।
3. डी.पी. मुकर्जी के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।
4. आर.के. मुकर्जी द्वारा ग्रामीण सामाजिक संरचना एवं मूल्यों पर किए गए अध्ययनों का विश्लेषण कीजिए।
5. बी.आर. अंबेडकर के व्यक्तित्व एवं लेखन कार्यों की समीक्षा कीजिए।
6. डेविड हार्डीमेन के लेखन एवं अध्ययन पर प्रकाश डालिए।

4.9 आप ये भी पढ़ सकते हैं

गुप्ता, एम. एल. तथा शर्मा, डी. डी., *समाजशास्त्र,* साहित्य भवन पब्लिकेशंस, आगरा, 1997

सिंह, जे. पी., *समाजशास्त्र : अवधारणाएं एवं सिद्धांत,* प्रेंटिस हाल ऑफ इंडिया प्रा. लि. , नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2006

मुकर्जी, रवीन्द्र नाथ, *भारतीय समाज व संस्कृति,* विवेक प्रकाशन, दिल्ली, नवीनतम संस्करण, 2010

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, *समाजशास्त्रीय चिंतन के आधार,* पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2005

एस. सी. दूबे, *इंडियन सोसायटी,* नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2010

डी. पी. मुखर्जी, *आधुनिक भारतीय संस्कृति,* हिंद किताब, मुंबई (1942 और 1948)

डॉ. जी. के. अग्रवाल, *समाजशास्त्र के सिद्धांत,* साहित्य भवन, आगरा, 2000

राम आहूजा, *भारतीय समाज,* रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पुनर्मुद्रित, 2010

इकाई 5 सामयिक विचार–विमर्श

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 सामयिक विचार–विमर्श : संदर्भीकरण व देशीकरण
  5.2.1 संदर्भीकरण
  5.2.2 देशीकरण
5.3 भारतीय समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों का उपयोग
5.4 पाठ्य और सन्दर्भ
5.5 भारत में समाजशास्त्र
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी' में रामकृष्ण मुकर्जी (1979) ने भारतीय समाजशास्त्र के रुझानों का वर्णन किया है। उन्होंने उन बिन्दुओं को चित्रित किया, जिन्हें भारतीय समाजशास्त्रियों के विशेष संदर्भ के साथ प्रस्तुत किया गया और जिन्होंने इसमें अग्रणी भूमिका निभाई। भारतीय समाजशास्त्र के कुछ अग्रदूतों का योगदान मुख्य रूप से ' क्यों ' और 'क्या होगा' पर केंद्रित है, इन्होंने भारतीय समाज की गतिशीलता में अपने मुख्य हितों का गठन किया।

जब अधिक विस्तार से विचार–विमर्श किया जाता है, तो उनकी मूल्य प्राथमिकताएं, सैद्धांतिक सूत्रीकरण और अनुसंधान अभिविन्यास काफी भिन्न होते हैं। हालाँकि, अग्रदूतों और उनके कार्यों पर इतना कम ध्यान दिया गया है कि वर्तमान में इन विविधताओं का एक सटीक लेखा–जोखा असंभव होगा। इसके अलावा, भारतीय समाजशास्त्र के इस चरण में अनुसंधान अधिक नामों को हटा सकता है और इन विविधताओं को अधिक व्यापक रूप से समझने में सक्षम बनाता है।

फिर भी, इन समाजशास्त्रीय प्रवर्तकों के बीच समानता और अंतर के सतही विश्लेषण से भी कुछ रुझान सामने आते हैं जो भारतीय समाजशास्त्र के पहले चरण की विशेषता रखते हैं और आधार प्रदान करते हैं जिससे अगले चरण की जांच की जा सकती है।

प्रस्तुत इकाई में सामयिक विचार–विमर्श के अंतर्गत संदर्भीकरण एवं देशीकरण पर प्रकाश डाला गया है तथा समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों के उपयोग के साथ–साथ पाठ्य और सौंदर्य का भी विवेचन किया गया है।

5.1 उद्देश्य

टिप्पणी

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- सामयिक विचार–विमर्श के परिप्रेक्ष्य में संदर्भीकरण और देशीकरण के पहलुओं को परख पाएंगे;
- भारत के समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों के बारे में जान पाएंगे;
- पाठ्य और संदर्भ से संबंधित विश्लेषण कर पाएंगे;
- भारत में समाजशास्त्र की स्थिति को समझ पाएंगे।

5.2 सामयिक विचार–विमर्श : संदर्भीकरण व देशीकरण

भारत में शैक्षणिक समाजशास्त्र केवल छह दशकों से अस्तित्व में है, यद्यपि समाजशास्त्रीय विचार और अनुभवजन्य अनुसंधान 19 वीं शताब्दी के बाद से भारत में मौजूद थे और 1950 के बाद से, भारत में, भारत का और भारत के लिए समाजशास्त्र पर चर्चा होती रही है। भारत में समाजशास्त्र समाजशास्त्रियों की पेशेवर गतिविधियों से संबंधित है। 'भारत के लिए समाजशास्त्र' के मामले में यह प्रयास भारतीय सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन करने के लिए उपयुक्त अवधारणाओं और सिद्धांतों के समूह का स्वीकृत पक्ष है। इन सभी संदर्भों में भारतीय समाजशास्त्र पर लेखन का अध्ययन कई निम्न सवाल खड़े करता हैं। (T. K. Oommen के अनुसार)

1. क्रम और परिवर्तन के साथ समाजशास्त्र का मुख्य सरोकार इस बात से है कि किस दृष्टिकोण और सिद्धांत की भारतीय समाजशास्त्र में प्रधानता रही है और क्यों?
2. भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान के लिए विश्लेषण की उपयुक्त इकाइयाँ क्या हैं?
3. आंकड़ा (डाटा) संग्रह में किन तकनीकों को प्राथमिकता मिली है और किसे नियोजित किया गया है?
4. भारतीय समाजशास्त्रियों को एक अवधारणात्मक सामाग्री और सैद्धांतिक प्रस्तावों, जो भारत के लिए प्रासंगिक हैं, को विकसित करने में कहां तक सफलता मिली है?
5. क्या भारतीय समाजशास्त्र ने भारतीय सामाजिक वास्तविकता की विशिष्टता (ऐतिहासिकता) पर पर्याप्त ध्यान दिया?
6. भारतीय समाजशास्त्री कहाँ तक अकादमिक उपनिवेशवाद के शिकार बने?
7. क्या ऐसा है कि भारतीय समाजशास्त्रियों ने राज्य संरक्षण को हमेशा स्वीकार किया?

मोटे तौर पर इनमें से एक या एक से अधिक प्रश्नों के उत्तर समाजशास्त्रियों ने भारत में समाजशास्त्र के बारे में अपनी समझ के अनुसार दिए हैं। वर्तमान में निम्न विचार प्रचलन में हैं–

टिप्पणी

परंपरावादी : लोग भारत को एक अद्वितीय समाज, संस्कृति या सभ्यता के रूप में देखते हैं, जिससे भारतीय समाज की विशिष्टता पर ध्यान देने की आवश्यकता पर जोर दिया जाता है। उद्देश्यपूर्ण रूप से, वे भारतीय समाज का समग्र रूप से अध्ययन करने की आवश्यकता की वकालत करते हैं और भारत के प्राचीन इतिहास और इंडोलोजी के माध्यम से भारत के अतीत में गहराई तक उतरने की कोशिश करते हैं।

राष्ट्रवादी : जो लोग भारतीय समाज को अद्वितीय नहीं मानते हैं लेकिन यह स्वीकार करते हैं कि अन्य मामलों में इसकी अपनी विशिष्टता है। वे कहते हैं कि इस विशिष्टता को केवल भारतीय इतिहास और परंपरा के विश्लेषण के माध्यम से ही समझा जा सकता है। यह अभिविन्यास बाहरी लोगों (अकादमिक उपनिवेशवाद जो वर्तमान में प्रचलित शब्द है) के कड़े प्रभाव से खुद को मुक्त करने और खुद को राष्ट्रीय स्तर पर प्रासंगिक बनाने के लिए अंतरराष्ट्रीय संदर्भ मॉडल को अस्वीकार करने के लिए कहता है।

नेटिविस्ट्स : जो लोग देशी अवधारणाओं और श्रेणियों के उपयोग के लिए बहस करते हैं ताकि सामाजिक वास्तविकता जैसा कि लोग समझते हैं को फिर से संगठित किया जा सके। इस दृष्टिकोण का तात्पर्य यह है कि सामाजिक वास्तविकता के कई संस्करण हैं क्योंकि कई सामाजिक–सांस्कृतिक विविधताएं हैं और इसलिए जिसपर जोर दिया जाता है वह स्थानीय इतिहास और परंपरा है।

कॉस्मोपॉलिटन : जो लोग भारतीय समाज को अनिवार्य रूप से कहीं और के समान मानते हैं और इसलिए मानते हैं कि अवधारणाएं, सिद्धांत, तकनीक और विधियां सार्वभौमिक रूप से उनकी उत्पत्ति के संदर्भों में भिन्नता के बावजूद लागू होती हैं।

रैडिकलस : समाज का हर जगह परिवर्तन एक भव्य विकासवादी ढांचे में आता है, जिसे जागरूक मानव हस्तक्षेप के माध्यम से त्वरित किया जाता है। हस्तक्षेप की वकालत अनिवार्य रूप से पिछले अनुभवों की समझ और स्पष्ट मूल्य स्थिति की आवश्यकता के लिए कहती है जो वांछित लक्ष्यों को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक है। जो लोग बाहर के प्रभावों की चयनात्मक अस्वीकृति के लिए सोच के इस पहलू को अपनाते हैं, वे पूंजीवादी दुनिया के हैं।

5.2.1 संदर्भीकरण

'संदर्भीकरण' और इस अवधारणा के भीतर होने वाले बदलाव के पूर्ण अर्थ को समझने के लिए, एमिल दुर्खीम के लेखन विशेष रूप से उनके काम, 'द एलिमेंटरी फॉर्म्स ऑफ द रिलिजियस लाइफ (1912)' को समझना आवश्यक है। दुर्खीम समाजशास्त्र के अध्ययन, एक अलग शैक्षणिक विषय के रूप में जो मनोविज्ञान के अध्ययन से अलग है, के संस्थापकों में से एक हैं। उनके विचार ने धर्म को समाज के भीतर एक समारोह के रूप में समझाया जो समाज के साथ एक व्यक्ति के रिश्ते की कुंजी प्रदान करता है।

इस प्रकार, दुर्खीम (Durkheim) को धर्म के सापेक्षिक सामाजिक संदर्भीकरण के पिता के रूप में भी जाना जाता है। एक पवित्र स्रोत से प्रतिबंधों और सीमाओं को प्रदान करके समाज की भलाई और प्रभावशीलता के लिए धर्म को एक महत्वपूर्ण योगदानकर्ता के रूप में देखा गया। किसी समाज के रीति–रिवाज, मान्यताएँ और धार्मिक प्रथाएँ उस समाज की संस्कृति से अपरिवर्तनीय रूप से जुड़ी हुई हैं। दुर्खीम के बाद, मानवविज्ञानी

धर्म में एक अध्याय को शामिल कर सकते हैं, जो कि एक दिए गए समाज में संस्कृति के कारकों में से एक है, जो कि ज्ञानोदय (Enlightenment) के बाद के युग में उपहास के डर के बिना है।

टिप्पणी

संदर्भीकरण सामाजिक वैज्ञानिक के शब्दों में हमेशा विभिन्न डोमेन और टैक्सोनोमिक सुविधाओं के संबंध को बताता है जो उस समाज की संस्कृति को बनाते हैं। धर्म या धार्मिक विश्वासों को शामिल संदर्भों में से एक माना जाता है। संदर्भीकरण के ढांचे के अंदर सत्य या त्रुटि, सही या गलत या दूसरे शब्दों में, निरपेक्ष मुद्दे नहीं हैं। यह बस ध्यान दिया जाता है कि कुछ मान्यताओं और प्रथाओं ने एक विशेष संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इतिहास के संदर्भ में उपनिवेशवाद और भारत की बौद्धिक और सांस्कृतिक परम्पराएं जो समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञान अभिव्यक्तियों का हिस्सा रही हैं, सिद्धांत, वैचारिक और पेशेवर मूल्यांकन के लिए एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रदान करती हैं। भारतीय समाज के सैद्धांतिक विश्लेषण में पिछली सदी के दौरान उतार–चढ़ाव दिखाई दिये हैं। कोई भी विश्लेषण इतिहास के संदर्भ में ज्ञान के समाजशास्त्र के ढांचे के बिना संभव नहीं है।

राधाकमल मुकर्जी, बी.एन. सील और बी.के. सरकार ने पश्चिमी विचारकों के प्रयासों का लगातार खंडन किया। सील का विचार था कि संस्थानों की तुलना केवल तभी की जा सकती है जब वे ऐतिहासिक रूप से सह–अस्तित्व में थे और समानांतर थे। मुकर्जी के लिए, भारतीय सामाजिक संस्थान अद्वितीय हैं। इसलिए, किसी भी समाज का अध्ययन उस समाज के विशेष संदर्भ में किया जाना चाहिए। विचारधारा, सिद्धांत और पद्धति 'संदर्भ' से संबंधित हैं। संदर्भ के बिना, किसी भी विचारधारा, सिद्धांत और पद्धति की कोई प्रासंगिकता नहीं है। इसे ध्यान में रखते हुए भारतीय संदर्भ में समाजशास्त्रियों के काम पर चर्चा करेंगे। भारतीय समाजशास्त्र, औपनिवेशिक और उत्तर–औपनिवेशिक चरणों के दौरान एक विशिष्ट विषय के रूप में पश्चिमी प्रतिमान से काफी प्रभावित और प्रतिरूपित हुआ है। भारत के लगभग सभी समाजशास्त्रियों ने दुर्खीम, वेबर, मार्क्स और पार्सन्स के सैद्धांतिक प्रतिमानों पर अध्ययन किया है।

पश्चिमी प्रतिमानों के अलावा, योगेंद्र सिंह (1993) के अनुसार, भारतीय समाजशास्त्रियों ने चार सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्यों को अपनाया है–

(i) दार्शनिक

(ii) संस्कृतिशास्त्र

(iii) संरचनात्मक

(iv) द्वंद्वात्मक–ऐतिहासिक

इन सैद्धांतिक अभिव्यक्तियों की चर्चा से पहले, योगेंद्र सिंह (1993) का महत्वपूर्ण निबंध– 'आईडिलिओजी थ्योरी एंड मैथड इन इंडियन सोशियोलॉजी' को संदर्भित कर सकते हैं,जो 1952 से 1977 तक लगभग एक चौथाई सदी की अवधि को कवर करता है–

(i) 1952 से 1960 – अनुकूली परिवर्तनों और नवाचारों की अवधि

(ii) 1960 से 1965 – सैद्धांतिक प्राथमिकताओं में महत्वपूर्ण बदलाव और भारतीय समाजशास्त्र के सिद्धांत और विचारधारा में कुछ महत्वपूर्ण तनावों की शुरुआत

(iii) 1965 से 1970 – चिह्नित समाजशास्त्रीय आत्म–जागरूकता और सैद्धांतिक और महत्वपूर्ण योगदान में नई दिशाओं की वृद्धि की अवधि

टिप्पणी

(iv) 1970 से 1977 – नई परिपक्वता और ज्ञान के नए क्षितिज का दौर

ये चार खंड भारतीय समाजशास्त्र में चार सैद्धांतिक विकासों से मेल खाते हैं जैसा कि ऊपर बताया गया है।

(i) **दार्शनिक दृष्टिकोण** : भारतीय समाजशास्त्र में दार्शनिक दृष्टिकोण राधाकमल मुकर्जी, डी.पी. मुकर्जी और ए.के. सरन के योगदान से जुड़ा है। इस अभिविन्यास ने भारतीय समाजशास्त्र की सैद्धांतिक प्रकृति पर महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाला है। सिंह (1983) के अनुसार, यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि इन विद्वानों की विद्वता की गहनता के बावजूद प्रभाव कम से कम है। पश्चिमी समाजशास्त्र का प्रभाव अधिक होता जा रहा था और सामाजिक समझ के अधिक गहन और अनुभवजन्य आधारों को हल्के ढंग से देखा गया।

(ii) **संस्कृतिवादी दृष्टिकोण** : संस्कृतिवादी विचार एम. एन. श्रीनिवास की रचना 'रिलीजन एंड सोसाइटी एमंग द क्रूग्स ऑफ साउथ इंडिया' से शुरू होता है। ब्राह्मणीकरण, संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण प्रमुख अवधारणाएँ जो इस अध्ययन से प्राप्त की गई थीं। संस्कृतिकरण ने भारतीय परंपरा के ढांचे में बड़ा बदलाव लाया ।

(iii) **संरचनात्मक दृष्टिकोण** : संरचनात्मक विचार का आधार शक्ति संरचना, सामाजिक स्तरीकरण, परिवार संरचना, जनसांख्यिकी और इसी तरह के पहलुओं से जुड़ा हुआ है, जो पैटर्न, व्यवस्था और दोहराव को प्रकट करते हैं। अनुभवजन्य पहलुओं को अमूर्त अवधारणाओं, मॉडल और श्रेणियों में परिवर्तित किया जाता है। संरचनात्मक अध्ययनों ने तुलनात्मक रूपरेखा को भी शामिल किया है।

(iv) **द्वंद्वात्मक–ऐतिहासिक दृष्टिकोण** : द्वंद्वात्मक–ऐतिहासिक उपागम मुख्य रूप से मार्क्सवादी दृष्टिकोण और विधि पर आधारित है जो सामाजिक वास्तविकता के विश्लेषण में मदद करता हैं। द्वंद्वात्मक पद्धति को मार्क्सवादी उपागम नहीं कहा गया है क्योंकि भारतीय सामाजिक वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए इसमे अनुकूलन (adaptations) किए गए हैं। हालाँकि, यह भारतीय समाजशास्त्र की कम विकसित शाखा है।

डी.पी. मुकर्जी और रामकृष्ण मुकर्जी ने द्वंद्वात्मक मॉडल (सिंह, 1983) के महत्व पर जोर दिया। ए.आर. देसाई ने लगातार ऐतिहासिक दृष्टिकोण का उपयोग विचारात्मक आधारों और उसके प्रति प्रतिबद्धता के साथ किया । उन्होंने नीतियों और परिवर्तन के कार्यक्रमों में लगातार विरोधाभासों को उजागर किया है। सत्तर के दशक में द्वंद्वात्मक–ऐतिहासिक अभिविन्यास तेजी से बढ़ गया, जब सूक्ष्म–आनुभविक वास्तविकताओं को भारत के वृहद संरचनात्मक सामाजिक आर्थिक प्रक्रियाओं के साथ–साथ वर्ग अवलोकन के अधीन किया गया (सिंह, 1983)।

टिप्पणी

सिंह के चार प्रमुख सिद्धांतवादी अभिविन्यासों की टाइपोलॉजी महत्वपूर्ण और तार्किक रूप से सुसंगत है। सिंघी (1993) के अनुसार, इन सैद्धांतिक अभिविन्यासों का मूल रूप से अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष वैचारिक अर्थ है। इसका आशय विश्लेषण के स्तर पर समझा जा सकता है, जो एक आलोचक के रूप में सामाजिक वास्तविकता को व्यवस्थित करने के तरीके को खारिज कर देता है या सामाजिक वास्तविकता के गठन को सही ठहराता है क्योंकि इसमें हेरफेर और निर्माण किया गया है।

अन्य स्तर पर, उन्हें विकल्प, संशोधन और सुधार की आवश्यकता होती है। ज्ञान–तटस्थता शब्दों में विरोधाभास है। सामाजिक वास्तविकता के मूल्यांकन और विश्लेषण बिखरे हुए विविध और तात्कालिक धारणों के व्यवस्थित स्वरूप को प्रकट करते हैं जो आम आदमी की गहरी धारणाओं और विचारों के माध्यम से मध्यस्थता करते हैं। तीसरे स्तर पर, सैद्धांतिक अभिविन्यास का वर्चस्व संस्थागत रूप से हमारी अपनी बौद्धिक परंपराओं की उपेक्षा और अंधता की ओर ले जाता है।

औपनिवेशिक स्थितियों के तहत भारतीय समाजशास्त्र विकसित नहीं हो सकता है यह बात स्पष्ट रूप से इन समाजशास्त्रियों द्वारा बतायी गयी। साथ ही, उन्होंने भारत की स्वतंत्रता को समाज के विकास में एक मंच के रूप में माना। यह अंतिम लक्ष्य नहीं था। यह लक्ष्य भी अग्रदूतों द्वारा अलग–अलग तरीके से परिभाषित किया गया था, जैसा कि तालिका 1 में दी गई उनकी मूल्य प्राथमिकताओं की किसी न किसी रूपरेखा से देखा जाएगा।

तालिका 1

संदर्भ	मूल्य प्राथमिकता
ए. के. कुमारस्वामी	पूर्व पर पश्चिम के विचारों के आक्रमणों का विरोध होना चाहिए। उपनिवेशवाद को समाप्त किया जाना चाहिए क्योंकि यह पश्चिमी प्रभुत्व को स्थापित करता है।
बी. एन. सील	प्रत्येक राष्ट्रवादी व्यक्तित्व (एक देश में प्रत्येक व्यक्तिगत व्यक्तित्व) को अपने आदर्शों, संतुष्टि, मूल्यों को उस सीमा के अंदर जो अन्य लोगों के समान अधिकारों (व्यक्तिपरक न्याय) के द्वारा स्थापित की गई है, प्राप्त करने का अधिकार है और पूर्व के खंड द्वारा स्थापित सीमा के अंदर समान वस्तु और समान लाभ (समाजवादी न्याय) के लिए साझेदारी और सहयोग का भी अधिकार है।
बी. के. सरकार	समाज मानवीय शक्ति के द्वारा निर्मित होता है और जिसकी वृद्धि उपनिवेशवाद पर आश्रित लोगों के आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक शोषण के माध्यम से बाधित होती है।
जी. एस. घुर्ये	एक अच्छे जीवन के लिए व्यक्ति की जरूरतें और आकांक्षा मानवता के अच्छी तरह से विभाजित chequer board को स्थापित किए बिना (या, अगर यह हटाकर बलपूर्वक स्थापित किया जाता है) प्राप्त करना है।

टिप्पणी

डी. पी. मुकर्जी	मानवीय विकास उसके अपने परिवेश के द्वारा निर्धारित होता है इसलिए समाज में आदमी के विकास के लिए, राष्ट्रीय स्वाधीनता, आर्थिक विकास और वर्ग अंतर्विरोध का समाधान आवश्यक शर्ते हैं लेकिन पर्याप्त शर्त नहीं।
राधाकमल मुकर्जी	एक मुक्त समाज में मानव का विकास समानता और सहयोग से संभव है ,अंतर्विरोध और संघर्ष से नहीं।
एस. वी. केतकर	किसी भी स्वतंत्र समाज में समाजवाद की स्थापना 'आर्थिक उदविकास' से होती है लेकिन लोगों के बीच समानता सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक भेद और ऐतिहासिक यांत्रिक भाषा के साथ जुड़ी होनी चाहिए।
बी. एन. दत्त और के. पी. चट्टोपाध्याय	समाज में व्याप्त अंतर्विरोध के समाधान से समाजवाद स्थापित होता है। विशेष रूप से, वर्ग अंतर्विरोध की परंपरा, पराधीन देशों में उपनिवेशिक अंतर्विरोध के समापन की प्रक्रिया के प्रथम चरण के रूप में है।

स्रोत– रामकृष्ण मुकर्जी (1979) 'सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी', मुंबई, एलाइड, पृ.38

तालिका 1 से पता चलता है कि आदमी और समाज के ढांचे के भीतर, प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों (अग्रदूतों) द्वारा निर्धारित लक्ष्य जो प्राच्य संस्कृति के एक आदर्श संस्करण से लेकर सामाजिक विकास के भौतिकवादी दृष्टिकोण तक की सीमाओं के बीच हैं जैसा मार्क्स द्वारा प्रतिपादित किया गया था। इसके अलावा, इन दो ध्रुवीय–विपरीत लक्ष्यों के बीच कुछ समाजशास्त्रियों ने मनुष्य के संस्कृति–विशिष्ट या मूल्य–विशिष्ट विकास या शोषण मुक्त समाज की स्थापना पर जोर दिया है लेकिन उनके बीच विरोधाभासों और संघर्षों का समाधान सामाजिक क्षेत्रों के बीच सहयोग और सद्भाव के माध्यम से होता है।

तालिका 2

संदर्भ	सैद्धांतिक सूत्र
ए. के. कुमारस्वामी	मनुष्य का विकास अपने विशिष्ट सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में संभव है। यदि आक्रामक प्रभुत्व वाली संस्कृति से खराब ढंग से प्रभावित हो जाए तो यह स्थित परिप्रेक्ष्य को नुकसान पहुंचा सकती है
बी. एन. सील	सामाजिक विकास एक रेखीय नहीं है इसके विपरीत विकास के कई रास्ते है जिनमे राष्ट्रवाद एक मुख्य पड़ाव के रूप में मानवता की तरफ बढ़ते हुए कदम जैसा है।
बी. के. सरकार	जबकि मानव की शक्ति उन मूल्यों पर आश्रित है जो कुछ लोगों द्वारा निर्धारित हैं, पर इसका स्थायित्व, तरक्की या पिछड़ना संदर्भित सामाजिक संरचना और उसके प्रकार्यों द्वारा प्राप्त होता है।

टिप्पणी

जी. एस. घुर्ये	मानव विकास संस्कृति विशिष्ट है चूंकि सांस्कृतिक विकास मानव के विचारों की प्रवृति में प्रतिबिम्बित होता है और जो मानता है कि मानव एक जीवित अस्तित्व है।
डी. पी. मुकर्जी	भारतीय सामाजिक वास्तविकता उचित रूप से विशेष परम्पराओं, इसके सामाजिक प्रतिमानों और सामाजिक क्रियाओं और संस्कृति के विशेष प्रतिमानों द्वारा समझी जा सकती है।
राधाकमल मुकर्जी	चूंकि मानव संस्थाएं व्यक्ति, समाज, मूल्य की अविभाज्य एकता का निर्माण करती हैं। सामाजिक तथ्य के बारे में विचार इसके मूल्य तत्वों के बिना अवास्तविक हैं । इसके बदले normative एंड empirical समाजशास्त्र का मिश्रण होना चाहिए।
एस. वी. केतकर	भारतीय समाज को विश्व समाज का एक हिस्सा मानना चाहिए लेकिन भाषा, संस्कृति तथा मनोवैज्ञानिक भेदों के चलते इसे आंतरिक रूप से 'विविधता में एकता' के संदर्भ में विश्लेषण करना चाहिए।
बी. एन. दत्त	भारतीय सामाजिक वास्तविकता को निम्न आधारों पर समझा जा सकता है– (i) कार्ल मार्क्स का सामाजिक विकास के ऐतिहासिक चरणों का सूत्र (ii) वेबर की हिन्दू धर्म की भूमिका का लोगों पर प्रभाव के संदर्भ में।
के. पी. चट्टोपाध्याय	भारतीय समाज की वास्तविकता को इतिहास के विभिन्न चरणों के समाज के वर्ग चरित्रों के विश्लेषण के माध्यम से अच्छी तरह से समझा जा सकता है लेकिन मुख्य रूप से दो तरह से– (i) दूसरी संस्कृति के व्यक्तियों और सामाजिक प्रक्रियों के संपर्क से (ii) उनके बीच संस्कृति के प्रसार से।

स्रोत– रामकृष्ण मुकर्जी (1979) 'सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी', मुंबई, एलाइड, पृ.40

तालिका 2 से पता चलता है कि प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों (अग्रणी) के सैद्धांतिक रूप मनुष्य और समाज के बारे में अव्यवस्थित और अमूर्त सामान्यीकरण नहीं थे। मानव और समाज के संबंधों में उनके विश्लेषण सटीक थे। साथ ही, उन्होंने जिन सामाजिक परिदृश्यों को स्वतः देखा उनके बारे में उन्होंने मात्र विशेषताओं को व्यक्त नहीं किया, उनकी अपनी मूल्यात्मक प्राथमिकताएँ भी उभर कर बाहर आईं। सामाजिक क्षेत्र में आधुनिकतावादियों से वे भिन्न थे लेकिन उसको उन्होंने पूरक के रूप में स्वीकार अवश्य किया।

इसके विपरीत, ऐतिहासिक, समसामयिक और भविष्य के परिप्रेक्ष्य से सामाजिक वास्तविकता की उनकी बहु–आयामी समझ का मतलब था कि उनके विभिन्न सैद्धांतिक सूत्रों में काफी प्रेरक क्षमता थी जो सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न पहलुओं के द्वारा बदलती वास्तविकता को बताती थी। अग्रणियों ने भारतीय (या विश्व) समाज के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया ताकि इसकी मूलभूत वास्तविकता का पता चल सके।

तालिका 3

संदर्भ	शोध संरचना
ए. के. कुमारस्वामी	भारतीय (एशियाई) सामाजिक यथार्थ को समझने के लिए सांस्कृतिक दृष्टिकोण विशेष रूप से गैर पश्चिम और प्राच्य विधा के संदर्भ मे।
बी. एन. सील	सामाजिक विकास के विभिन्न मार्गों के आनुभविक औचित्य और अवधारणात्मक समझ के लिए जैव–समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण विशेष रूप से भारतीय समाज के समकालीन और ऐतिहासिक संदर्भों मे।
बी. के. सरकार	भारतीय (एशियाई) सामाजिक संघटन और संस्कृति के लिए संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम ऐतिहासिक, समकालीन और भविष्यवादी परिप्रेक्ष्य का निर्माण प्राच्य (Orientals) विधा के 'दूसरी दुनिया'('other worldly') के विचार को हटाने के क्रम में और मानव शक्ति के विकास की पद्धति की जांच विशेष रूप से भारतीय संदर्भ मे।
जी. एस. घुर्ये	संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम भारत के सामाजिक संगठनों और संस्कृति के लिए ऐतिहासिक आधार पर और समकालीन विविध पक्षों के परीक्षण के माध्यम से।
डी. पी. मुकर्जी	भारतीय सामाजिक संदर्भ में भारत के व्यक्तित्व और संस्कृति का 'मार्क्सशास्त्रीय' द्वंदात्मक उपागम से परीक्षण।
राधाकमल मुकर्जी	भारतीय समाज के सम्पूर्ण सामाजिक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक क्रम और आर्थिक परिवेशों के बीच अंतरसंबंध को पता लगाने के लिए संरचनात्मक प्रकार्यत्मक दृष्टिकोण से शुरू करते हुए, अंतरवैषयिक दृष्टिकोण से भारत और विश्व के संदर्भ में सामाजिक वास्तविकता का सम्पूर्ण मूल्यांकन का उपयोग होना था।
एस. वी. केतकर	ऐतिहासिक दृष्टिकोण विश्वकोशिक और पुस्तकीय अनुसंधान के माध्यम से इस शोध की स्थापना करना कि विश्व के संदर्भ में भारत को एक इकाई मानना चाहिए। और भारत के सामाजिक संगठन को 'विविधता में एकता' (unity in diversity) की अभिव्यक्ति के रूप में समझना चाहिए।
बी. एन. दत्त	भारत की सामाजिक, राजनीतिक संरचना के विकास को मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण से विश्लेषित करना।
के. पी. चट्टोपाध्याय	Diffusionist तथा संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम भारत के सामाजिक संगठन और संस्कृति को ऐतिहासिक संदर्भ में समझने के लिए और विभिन्न समकालीन पहलुओं

टिप्पणी

की व्याख्या में और बाद के वर्षों में भारत की सामाजिक वास्तविकता को विश्लेषण करने के लिए मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक उपागम।

टिप्पणी

स्रोत– रामकृष्ण मुकर्जी (1979) 'सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी', मुंबई, एलाइड, पृ.41

कुमारास्वामी को छोड़कर, प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों (अग्रदूतों) ने आनुभविक (empirical) अनुसंधान के बारे में जोरदार वकालत की थी। उनकी विभिन्न मूल्य वरीयताओं और सैद्धांतिक सूत्रों के प्रयोग के कारण, उनके शोध अभिविन्यासों (orientations) ने समाजशास्त्रीय अनुसंधान के लिए अलग–अलग दृष्टिकोण दर्ज किए, जैसा कि तालिका 3 में उल्लेख किया गया है।

तालिका 4

संदर्भ	समाजशास्त्र के लिए योगदान
ए. के. कुमारस्वामी	पाश्चात्य संस्कृति के प्रभुत्व का भारतीय और पूरब की संस्कृति पर प्रभाव का ऐतिहासिक– समकालीन दृष्टिकोण। साथ ही इन विचारों का एक तार्किक अर्थपूर्ण विश्लेषण।
बी. एन. सील	भारत के विशेष संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक विकास अध्ययनों में अवधारणा का निर्माण तथा आनुमानिक–आगमिक आधार पर आनुभविक अध्ययनों के लिए तत्तसंबंधी अध्ययन पद्धति जिसमें सांख्यिकी सूत्र तथा तकनीकें भी सम्मलित।
बी. के. सरकार	पूरब के दूसरी दुनिया के दृष्टिकोण (Other Worldly outlook) के विचारों को अलग करते हुए भारत (एशियाई) सामाजिक विकास का ऐतिहासिक, समकालीन और भविष्यात्मक आकलन। निम्न के लिए किसी की जरूरत नहीं है– (i) सैद्धांतिक सूत्रों और प्रारम्भिक अनुभवजन्य निष्कर्ष की पुष्टि के लिए गहन अनुभवात्मक सोच (ii) एक विस्तृत डाटा बेस का निर्माण।
जी. एस. घुर्ये	भारतीय सामाजिक संगठन और संस्कृति के ऐतिहासिक तथा समकालीन अनुभवजन्य शोध के लिए डाटा बेस का निर्माण।
डी. पी. मुकर्जी	भारतीय समाज और उसके वर्गों एवं संस्कृति के ऐतिहासिक, समकालीन– भविष्यात्मक आकलन के लिए परंपरा की भूमिका के बारे में सैद्धांतिक आधार की जरूरत। साथ ही साथ विस्तृत ढंग से अनुभवजन्य शोध की जरूरत की तरफ बल दिया और यह सामाजिक विज्ञान में विषय की सीमा से परे है।

टिप्पणी

राधाकमल मुकर्जी	सभी सामाजिक अभिव्यक्ति में मूल्यों की संरचना और भूमिका के बारे में सैद्धांतिक सूत्र और सामाजिक तथ्यों को समझने के लिए समन्वित सामाजिक विज्ञानों की पद्धति तथा भारतीय समाज के ऐतिहासिक तथा वर्तमान की समीक्षा के लिए डाटा बेस का निर्माण करना।
एस. वी. केतकर	ऐतिहासिक तथा समकालीन डाटा बेस मुख्यतः विषय पर प्रकाशित पुस्तकों की सूची के शोध के आधार पर तैयार करना जिससे भारत के विभिन्न भाषायी क्षेत्रों में मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेशों का ज्ञान हो सके।
बी. एन. दत्त	भारत की सामाजिक और राजनीतिक संरचना के विकास पर अनुभवजन्य शोध के लिए प्रारम्भिक ऐतिहासिक डाटा बेस (data base) तैयार करना।
के. पी. चट्टोपाध्याय	भारत के सामाजिक संगठन और संस्कृति पर ऐतिहासिक और समकालीन अनुभव जन्य शोध के लिए डाटा तैयार करना तथा बड़े पैमाने पर सर्वे शोध के लिए पद्धतियों की रचना करना।

स्रोत– रामकृष्ण मुकर्जी (1979) 'सोशियोलॉजी ऑफ इंडियन सोशियोलॉजी', मुंबई, एलाइड, पृ.42

हालाँकि, उनके दृष्टिकोण के उपरोक्त सूत्र के बावजूद, जिसे आगे के अनुसंधान के संदर्भ में प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों (अग्रदूतों) के काम को संशोधित या विस्तृत करना पड़ सकता है, यह स्पष्ट है कि अनुभवजन्य अनुसंधान में उनलोगों की रुचि किसी भी सामाजिक घटना में पूरी तरह से नहीं थी जैसे जाति, परिवार, राष्ट्रीय एकीकरण, स्तरीकरण या ग्रामीण या शहरी समाज। साथ ही, एक घटना (जैसे जाति) के साथ अध्ययन करते हुए भी, उन्होंने अपना ध्यान केवल एक विशिष्ट पहलू पर ही सीमित नहीं रखा, जैसे कि जातियों की भिन्नता का सापेक्ष स्थान इसी प्रकार के अध्ययनों का विस्तार था।

इस प्रकार, यह लगता है कि भारतीय समाजशास्त्र में प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों (अग्रदूतों) के विभिन्न दृष्टिकोण होते हुए भी पे भारतीय सामाजिक वास्तविकता का विश्लेषण करने के लिए व्यवस्थित रूप से आगे बढ़े हैं, न तो द्वीपीय (insular) और न ही अनुकरणीय तरीके से। यहां तक कि कुमारस्वामी, जो पश्चिमी संस्कृति को खारिज कर चुके हैं, की पूरी ओरिएंटल संस्कृति अपने विभिन्न रीति रिवाज (mores) और तौर–तरीकों के अध्ययन में साथ थी (देखें तालिका 4)। अन्य लोगों ने भी मूल स्थिति के अनुरूप इन सिद्धांतों को दोहराए जाने के लिए बहुत प्रेरित नहीं किया। भारतीय विचारक, एक दो अपवादों के साथ, अपने सिद्धांत के लिए पश्चिम पर बहुत अधिक निर्भर रहे हैं और पश्चिम से बदलते सैद्धांतिक ढांचे को तुरंत स्वीकार करते रहे हैं।

यह सच है कि पिछले कुछ दशकों के दौरान बहुत अधिक अनुभवजन्य कार्य किया गया है, लेकिन यह कहना मुश्किल होगा कि समाजशास्त्र ने भारत में अपनी खुद की सैद्धांतिक परिपक्वता प्राप्त की है। अनुसंधान के नए क्षेत्रों में कई गुना वृद्धि हुई है लेकिन पुख्ता सैद्धांतिक आधार और व्याख्या की गहराई में कमी प्रतीत होती है।

समाजशास्त्रियों की पिछली पीढ़ियों के योगदान को हमें गंभीर और महत्वपूर्ण मानना चाहिए।

टिप्पणी

यह भारतीय समाज के अध्ययन के निम्नलिखित प्रमुख दृष्टिकोणों को दर्शाता है– भारतशास्त्र (Indologica): घुर्ये और ड्यूमा, संरचनात्मक–कार्यात्मक। श्रीनिवास और दुबे, मार्क्सवादी : डी.पी. मुकर्जी और ए.आर. देसाई, रामकृष्ण मुकर्जी, सभ्यात्मक संदर्भवादी : एन.के. बोस और सूरजजीत सिन्हा, सबाल्टर्न (अधीनस्थ समूहवादी): अम्बेडकर, डेविड हार्डीमेन और रणजीत गुहा, सांस्कृतिक दृष्टिकोण : योगेंद्र सिंह आदि। इनमें से अधिकांश दृष्टिकोणों पर भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य पर पाठ्यक्रम की विभिन्न इकाइयों के पाठों में चर्चा की गई है।

5.2.2 देशीकरण

बौद्धिक मोर्चे पर, एशिया में सामाजिक विज्ञानों में प्रमुख संकट देशीकरण से संबंधित है। देशी विद्वता ने विदेशों से आयातित सिद्धांतों और पद्धति की उपयोगिता और उपयुक्तता के बारे में सवाल उठाना शुरू कर दिया है और देश के मूल विचारों और अनुसंधान की देशी तकनीकों द्वारा सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए एक अभियान सा शुरू कर दिया है।

हालांकि, देशीकरण का आह्वान अलग–अलग रूप लेता है और विभिन्न देशों में विभिन्न पहलुओं पर जोर देता है। जिन देशों ने हाल ही में सामाजिक विज्ञान की शुरुआत की है, देशीकरण सामाजिक विज्ञानों की शुरुआत और मान्यता के लिए केवल एक दलील है ताकि देशी विद्वता बढ़े और अंततः राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में योगदान दे। वहाँ, मूल मुद्दों पर चर्चा नहीं की जाती है। कुछ अन्य लोगों में, अध्ययन और रिपोर्ट लेखन में राष्ट्रीय भाषा को स्वीकार करना ही देशीकरण के रूप में माना जाता है। राष्ट्रीय जरूरतों के प्रति पूर्वाग्रह के साथ पाठ्यक्रम विकास भी देशीकरण का सूचक है।

जबकि 'बाहरी' सिद्धांतों और पद्धति के खिलाफ काफी विरोध है, दूसरी तरफ, एक स्वदेशी सामाजिक विज्ञान के निर्माण में बहुत कम काम हुए हैं। इस मुद्दे पर अधिकांश सोच राष्ट्रीय दृष्टिकोणों द्वारा निर्देशित है और यह सुनिश्चित नहीं है कि कोई भी एशियाई परिप्रेक्ष्य ठीक ढंग से उभरने वाला है। यह ध्यान देने की बात है कि क्या देशीकरण एक सार्वभौमिक–वैश्विक सामाजिक विज्ञान के बदले राष्ट्रीय ढांचे के लिए पीछे हटने का नेतृत्व करेगा या सीमित स्थानीय स्तर के सामाजिक विज्ञान के प्रकट होने का।

यह भी बताया जाना चाहिए कि पिछले कुछ वर्षों में सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा क्षेत्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने के लिए और अधिक अवसर विकसित किये गए हैं। इन अवसरों को स्वदेशीकरण की प्रक्रिया में विकसित होने वाली किसी भी संकीर्ण (insular) प्रवृतियों से बचाना चाहिए। विकास के रणनीतिकार देशीय विकास की आवश्यकता का नारा लगा रहे हैं, जबकि सामाजिक वैज्ञानिकों को देशीकरण की बात पीड़ा पहुंचाती है।

उपर्युक्त संदर्भ में, देशीकरण के प्रश्न पर कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बैठकों में अलग–अलग तत्वावधान में चर्चा की गई है। 1970 के दशक की शुरुआत में इस

टिप्पणी

आंदोलन को गति मिलनी शुरू हुई जब तीसरी दुनिया के स्वदेशी विद्वानों ने दिमाग की जकड़ को बनाए रखने वाले सामाजिक विज्ञानों के सैद्धांतिक विचारों के खिलाफ अपनी आवाज उठाई। बाद में वे इस चिंता को साझा करने वाले पश्चिमी देशों के कई सामाजिक वैज्ञानिकों के समूह में शामिल हो गए। एशिया में, इस चिंता को सबसे अधिक स्पष्ट रूप से भारत के शिमला में 1973 में यूनेस्को के तत्वावधान में आयोजित टीचिंग एंड रिसर्च ऑन सोशल साइंसेज के पहले एशियाई सम्मेलन में व्यक्त किया गया था। फिर से, 1976 में पेरिस में यूनेस्को द्वारा आयोजित सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग पर बैठक में प्रतिभागियों ने इस तथ्य को रेखांकित किया कि दुनिया के 90 प्रतिशत सामाजिक वैज्ञानिक विकसित देशों से आए हैं।

देशीकरण का प्रश्न राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान परिषदों (Conference of National Social Science Councils) और अनुरूप निकायों के सम्मेलन द्वारा 1977 की बैठक में भी उठाया गया था। 1978 में, वेनर–ग्रेन फाउंडेशन ने देशी नृविज्ञान पर एक सम्मेलन का आयोजन किया। कोरियाई सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद ने 1979 की शुरुआत में 'सामाजिक विज्ञान के लिए पश्चिमी दृष्टिकोण के संगठन' पर चर्चा के लिए एक संगोष्ठी बुलाई।

सितंबर, 1979 में, एसोसिएशन ऑफ एशियन सोशल साइंस रिसर्च काउंसिल्स (AASSREC) ने CNSSC– जिसका नाम बदलकर अब इंटरनेशनल फेडरेशन ऑफ सोशल साइंस ऑर्गेनाइजेशन (IFSSO) है, के सहयोग से मनीला में आयोजित इसके तीसरे सम्मेलन के दौरान एक विशेष पैनल चर्चा का आयोजन किया।

इस प्रकार, यह समस्या दुनिया भर में चिंता का विषय है। यह अध्ययन इस तरह के विचारों को संश्लेषित करने का प्रयास करता है और देशीकरण के लिए संबंधित प्रमुख चिंताओं को स्पष्ट करता है। यहां, हम योगेश अटल (2003), सुरेंद्र शर्मा (1985) और योगेंद्र सिंह (1986) के लेखन पर बहुत अधिक निर्भर हैं।

एशिया में सामाजिक विज्ञानों के देशीकरण का आह्वान अभी तक प्रतिक्रियात्मक चरण से आगे नहीं बढ़ पाया है। ये प्रतिक्रियाएं विभिन्न स्रोतों से आती हैं यद्यपि, सब पेशेवर सामाजिक वैज्ञानिकों के आने के बावजूद, देशीकरण के विभिन्न पहलुओं पर जोर देते हैं। अभी तक परिभाषात्मक पक्ष भी पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हुआ है। देशीकरण का मतलब अलग–अलग लोगों के लिए अलग–अलग चीजें हैं।

एशिया और प्रशांत में सामाजिक विज्ञान विकास के विभिन्न चरणों में है। अलग–अलग देशों में समाजशास्त्रीय परिचय उनके संबंधित औपनिवेशिक शासकों द्वारा निर्धारित किया गया था। उनके प्रवेश की अवधि, विभिन्न विषयों पर दिए गए जोर, देशी सामाजिक वैज्ञानिकों की पहली पीढ़ी का प्रशिक्षण और इन देशों के समाज और संस्कृति के साहित्य सभी औपनिवेशिक विरासत से प्रभावित हैं।

राजनीतिक स्तर पर, राजनीतिक स्वतन्त्रता (decolonization) की प्रक्रिया स्थानीयकरण या नैटिविजेशन की प्रक्रिया के रूप में निकली। यह इस अर्थ में है कि जवाहरलाल नेहरू और उनके सहकर्मियों ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीयकरण का नारा बुलंद किया।

देशीकरण के समर्थकों को जवाबी हमले के महज बयानबाजी के खतरों के बारे में पता है।

टिप्पणी

अटल के अनुसार देशीकरण के सकारात्मक पहलुओं पर अपने सहयोगियों द्वारा जोर दिया जा रहा है, जो निम्न हैं–

1. देशीकरण स्व–जागरूकता और उधार चेतना की अस्वीकृति का एक प्रयास है। यह आंतरिक विचार के पहलू की आवश्यकता पर जोर देता है। इसके प्रस्तावक विद्वतापूर्ण प्रयासों को प्रोत्साहित करना चाहते हैं ताकि वे अपने स्वयं के समाजों के विचारशील विश्लेषण को बढ़ावा दें ताकि पश्चिम के माध्यम से उन्हें जानने की मौजूदा प्रवृत्ति को बदला जा सके।
2. देशीकरण मानव समाज पर वैकल्पिक दृष्टिकोण के लिए वांछनीयता की वकालत करता है, ताकि सामाजिक विज्ञानों को कम संकुचित बनाया जा सके और उन्हें समृद्ध बनाया जा सके। इससे मानसिक दासता से मुक्ति मिलगी और पेशेवर क्षमता की गुणवत्ता में सुधार होगा, ताकि नए चश्मे से समाज की जांच की जा सके।
3. देशीकरण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विशिष्टताओं की ओर ध्यान आकर्षित करता है और राष्ट्रीय समस्याओं पर गतिशील दृष्टिकोण विकसित करने की दृष्टि से पुनःपरिभाषित करने को जोर देता है।
4. देशीकरण का यह अर्थ नहीं है कि संकीर्ण दृष्टिकोण पैदा किया जाए या भौगोलिक सीमाओं के आधार पर किसी एक विषय का कई अलग–अलग विचारों में विखंडन किया जाए। यह न केवल झूठी सार्वभौमिकता का विरोध करता है बल्कि झूठे राष्ट्रवाद का भी विरोध करता है। केवल राष्ट्रीयता की नजर से देशीकरण को देखना इस के सम्पूर्ण ज्ञान को सीमित करना होगा।

कृष्ण कुमार ने "इंडिजिनाइजेशन एंड ट्रांसनेशनल को–ऑपरेशन इन द सोशल साइंसेज" नामक अपने लेख में तीन प्रकार के देशीकरण– संरचनात्मक, तत्वात्मक और सैद्धांतिक, के बीच अंतर किया है–

(क) "सामाजिक विज्ञान ज्ञान के उत्पादन और प्रसार के लिए एक देश की संस्थागत और संगठनात्मक क्षमताओं के संदर्भ में संरचनात्मक देशीकरण को परिभाषित किया जा सकता है।"

(ख) "मूलभूत देशीकरण को सामाजिक विज्ञानों की विषयवस्तु पर केंद्रित किया जा सकता है। आवश्यक आधार यह है कि किसी देश में इन विषयों का मुख्य जोर अपने समाज, लोगों और आर्थिक और राजनीतिक संस्थानों पर होना चाहिए।"

(ग) "सैद्धांतिक देशीकरण एक ऐसी स्थिति को इंगित करता है जिसमें एक राष्ट्र के सामाजिक वैज्ञानिक विशिष्ट, वैचारिक ढांचे और मेटा–सिद्धांतों (meta-theories) के निर्माण में शामिल होते हैं जो उनके विश्वदर्शन, सामाजिक और सांस्कृतिक अनुभवों और कथित लक्ष्यों को दर्शाते हैं।"

कृष्ण कुमार संरचनात्मक और सामग्री के देशीकरण को समस्यामूलक नहीं मानते हैं। उन्होंने सैद्धांतिक देशीकरण की समस्या पर विस्तार से चर्चा की है और सही निष्कर्ष पर आते हैं कि यह देशीकरण नहीं है, लेकिन 'ट्रांसनेशनल को–ऑपरेशन' है जिसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। ऐसा करते हुए, वह दुविधा के केवल एक पहलू को छूता है।

टिप्पणी

यद्यपि काफी ऊंचे स्तर पर इस प्रकार की वार्ताएं हैं, देशीकरण एक सार्वभौमिक सामाजिक विज्ञान संस्कृति के प्रसार की जुड़वा चिंताओं से मेल खाने की रणनीति के बारे में और विभिन्न सांस्कृतिक सेटिंग्स में जड़ों की आवश्यकता के बारे में सोचने को आमंत्रित करता है। इसका महत्व यही है कि इस बहस में 'देशीकरण' शब्द को आमतौर पर 'अंतर्जात (आतंरिक) विकास' के लिए उपयुक्त समझा जाता है।

यदि शाब्दिक संदर्भों में समझा जाए तो इसका आशय यही है कि अंतर्जात विकास भीतर और नियतविकास (orthogenetically) से उत्पन्न विकास को दर्शाता है, जिसमें किसी भी बहिर्जात प्रभाव के लिए कोई जगह नहीं होगी। वास्तव में, यह बाह्य रूप से उत्पादित और विकास की निर्देशित रणनीति के लिए मजबूत प्रतिक्रिया में गढ़ा गया था। यह अलग बात है कि इतनी अधिक बाह्य रुचि अंतर्जात विकास को जारी रखने के लिए जारी है, जिससे नए नारा का निर्माण होता है जो कुछ हद तक बेकार है।

वर्तमान शैक्षणिक रुझानों से यह स्पष्ट है कि देशीकरण की चिंता विश्व स्तर पर फैल रही है। यह केवल तीसरी दुनिया के देश नहीं हैं जो देशीकरण की बात कर रहे हैं। यहां तक कि "कनाडाकरण" ("कैनाडाइजेशन") पर भी लेख मिल सकते हैं।

देशीकरण के लिए प्रयास–

अटल (2003) के अनुसार, एशियाई संदर्भ में, देशीकरण को चार रूपों के साथ आगे बढ़ाया गया है, जिस पर हम इस खंड में चर्चा करेंगे–

1. राष्ट्रीय भाषा में शिक्षण और स्थानीय सामग्रियों का उपयोग
2. क्षेत्र के रहने वालों द्वारा शोध
3. शोध प्राथमिकताओं का निर्धारण और
4. सैद्धांतिक और पद्धतिगत आधारों पर पुनर्विचार

राष्ट्रीय भाषा में शिक्षण और स्थानीय सामग्रियों का उपयोग

कई देश उच्च शिक्षण में निर्देशों के माध्यम के रूप में राष्ट्रीय भाषा को पेश करने के लिए कदम उठा रहे हैं। भारत के मामले में, समस्या को इस तथ्य से और अधिक जटिल किया गया है कि भारत का संविधान चौदह क्षेत्रीय भाषाओं को मान्यता देता है और विभिन्न राज्य भी क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाने की ओर बढ़ रहे हैं। सामाजिक विज्ञान के विकास पर इस नीति के निहितार्थ को देखा जा सकता है।

राष्ट्रीय भाषा को निर्देशों के माध्यम के रूप में स्वीकार करने के लिए उस भाषा में साहित्य के उत्पादन की आवश्यकता होती है। गैर–एशियाई भाषाओं में उपलब्ध अधिकांश पुस्तकें स्नातकोत्तर स्तर पर प्रवेश करने वाले अधिकांश छात्रों की समझ से परे हैं। जैसा कि उन्होंने अपनी शिक्षा को अपनी भाषा में प्राप्त किया है, जब उन्हें किसी विदेशी से परामर्श करने या किसी विदेशी भाषा में व्याख्यान सुनने के लिए कहा जाता हैं, तो उन्हे समझने में परेशानी होती हैं।

इसलिए, वे राष्ट्रीय भाषा में पुस्तकों की मांग करते हैं। लेकिन स्थानीय भाषा में पुस्तकों की मांग को वरिष्ठों द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता है, हालांकि वे इस क्षेत्र में विशेषज्ञ हैं, परंतु स्थानीय भाषा में संचार कौशल की कमी है या चूंकि उन्हें अपने

मानक से नीचे आना होगा इसलिए उनकी छात्रवृति खत्म हो जाने का भय रहता है या उनके पास पाठ्यपुस्तक लिखने का समय नहीं है क्योंकि उनके पास शोध कार्य बहुत ज्यादा हैं।

टिप्पणी

सामाजिक वैज्ञानिकों की नई पीढ़ी के एक अंतरराष्ट्रीय भाषा में सक्षमता की कमी के कारण, अन्य देशों में अपने संबंधित विषयों में हाल में हुए विकास के सन्दर्भ में अप्रभावित रहने की संभावना है। इसी तरह, उनके अपने काम विदेशी शोधकर्ताओं और सहयोगियों तक नहीं पहुंचेंगे।

इस तरह के रोधन (insulation) उन्हें विश्व समुदाय से अलग कर देंगे। यदि क्षेत्रीय (स्थानीय) भाषाओं को निर्देशों का माध्यम बनाया जाता है तो देश के भीतर भी ऐसा ही हो सकता है। इसके विपरीत, वैश्वीकरण के कारण, अब लोगों की रुचि न केवल अंग्रेजी बल्कि फ्रेंच, जर्मन, जापानी, रूसी, कोरियाई, चीनी, स्पेनिश आदि सीखने के लिए विकसित हो रही है।

अपने लोगों द्वारा शोध

अधिकांश देशों द्वारा देशीकरण की दिशा में उठाए गए महत्वपूर्ण कदम 'स्थानीय लोगों' द्वारा शोध को बढ़ावा देना और 'प्रवासी' शोध पर अंकुश लगाना हैं। अंदरूनी बनाम बाहरी लोगों द्वारा अनुसंधान के संबंध में कई पद्धतिगत समस्याएं सामने आई हैं। हालाँकि, यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि बाहरी लोगों के अनुसंधान को प्रतिबंधित करना हमेशा अकादमिक विचारों द्वारा निर्देशित नहीं किया गया है; राजनीतिक विचारों ने अंदरूनी लोगों को कुछ विषयों पर शोध करने से भी रोका है।

ऐसे मामले आए हैं जहां सरकारों ने प्रवासियों (बाहर के लोग) को सबसे 'प्रासंगिक' क्षेत्रों पर शोध करने की अनुमति दी थी, जबकि अंदरूनी लोगों को ऐसा करने की अनुमति नहीं थी। शोध निष्कर्षों के प्रकाशन का प्रभावी न होना एक और समस्या है, जबकि विदेशी शोधकर्ता सामग्री एकत्र करने और निष्कर्षों को प्रकाशित करने के लिए स्वतंत्रता का आनंद लेते हैं, स्थानीय लोगों को तुलनात्मक रूप से ऐसा करने की अनुमति नहीं है।

प्राथमिकताओं का निर्धारण

देशीकरण का एक और आयाम यह भी है कि राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण और प्रासंगिक माने जाने वाले विषयों पर शोध को बढ़ावा देना है। एशिया के विकासशील देशों में प्रासंगिकता की इस क्रांति ने सभी क्षेत्रों में जगह बनाई है। नियोजन गतिविधियों में और संसाधनों के आवंटन में प्रासंगिकता को मुख्य मानदंड के रूप में उपयोग किया जाता है। प्राथमिकताओं का प्रयास प्रासंगिकता के संदर्भ में किया जाता है। सामाजिक विज्ञान शिक्षण और शोध को बढ़ावा देने की शुरुआत इस कसौटी के अनुसार निर्धारित की जाती है।

सैद्धांतिक और पद्धतिशास्त्रीय पुनर्वितरण

यह काफी धीमी गति से हो रहा है। जबकि बाहरी मॉडल और सिद्धांतों के वर्चस्व और उनकी अनुपयुक्तता के बारे में बहुत अधिक iconoclastic बात है, वहीं दूसरी ओर इनका विकल्प ढूंढ़ने के प्रयास कम हैं। इस आलोचना में अधिकाश लोग पूंजीवादी तथा यथास्थितिवादी हैं अथवा पाश्चात्य सामाजिक विज्ञानों के भक्त हैं।

टिप्पणी

1970 के दशक में सामाजिक विज्ञानों के देशीकरण के लिए लगभग दुनिया भर में एक कोलाहल था। बेशक, देशीकरण का आह्वान विकासशील देशों के सामाजिक वैज्ञानिकों से आया जिन्होंने 'सामाजिक विज्ञान के आरोपण' के खिलाफ आवाज उठाई। लेकिन यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान परिषदों (Conference of National Social Sciences Councils) और अनुरूप निकायों के सम्मेलन – जो बाद में अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान संगठन (International Federation of Social Sciences Organizations) बन गए – ने इस मुद्दे को 1977 में चर्चा के लिए उठाया।

यहां यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि IFSSO अंतरराष्ट्रीय है, लेकिन यह काफी हद तक विकसित दुनिया का एक संगठन है। उसी समय के आसपास, हवाई विश्वविद्यालय के पूर्व–पश्चिम केंद्र को इस मुद्दे पर दिलचस्पी हुई। अमेरिका के वेनर–ग्रेन फाउंडेशन ने भी 1978 में मानवशास्त्र के देशीकरण पर एक सम्मेलन का आयोजन किया। यहां तक कि कनाडाई सामाजिक वैज्ञानिकों ने सामाजिक विज्ञान के कनाडाकरण पर बात करने के लिए एक गोष्ठी आयोजित की थी न कि कोरिया की अगुआई में सामाजिक विज्ञानों के कोरियाईकरण पर बात करने के लिए।

देशीकरण में अमेरिकी रुचि, हालांकि, कुछ अलग थी। चूँकि अमेरिकी सामाजिक विज्ञान का अधिकांश भाग 'अमेरिकी' था, इसलिए यह उनके लिए पहले से ही देशी 'था। उनके लिए चिंता सामाजिक विज्ञानों का देशीकरण करना नहीं था बल्कि अन्य बौद्धिक परंपराओं में उनके प्रसार के माध्यम से उनके सामाजिक विज्ञानों का सार्वभौमीकरण सुनिश्चित करना था।

देशीकरण का आह्वान उन्हें पश्चिमी सामाजिक विज्ञान के लिए एक खतरे के रूप में दिखाई दिया क्योंकि इससे प्रसार रुक जाएगा और इसका मतलब यह हो सकता है कि पश्चिमी सामाजिक वैज्ञानिकों को मेजबान सरकारों से क्षेत्र शोध करने के लिए मंजूरी लेने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है।

इस दृष्टि से, विकासशील देशों के सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा देशीकरण की मांग को लगभग अमेरिकी सामाजिक विज्ञान के लिए एक विरोधाभास के रूप में देखा गया था। यह दिलचस्प है कि देशीकरण के पैरोकारों ने किसी तरह मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपनी आलोचनाओं से बख्शा, देशीकरण का अभियान पूंजीवादी सामाजिक विज्ञानों के खिलाफ एक अभियान के रूप में दिखाई दिया।

देशीकरण का हेतुविज्ञान (etiology) काफी जटिल है, इसलिए इसकी परिभाषा भी काफी कठिन है। देशीकरण के पैरोकारों के अलग–अलग आधार थे– स्थानीयकरण (विदेशी संकाय का स्थानीय संकाय में प्रतिस्थापन), भाषा में परिवर्तन– विदेशी भाषा से मातृभाषा में प्रतिस्थापन, विचार की मूल श्रेणियों पर लौटना, पश्चिमी तकनीक और तरीकों की गैर–प्रयोज्यता और विदेशी शैक्षणिक उपनिवेशवाद की समग्र निंदा। कुछ के लिए, देशीकरण का मतलब परंपरा का महिमामंडन करना था और अतीत के गलियारों में वापसी करना, कुछ हद तक राष्ट्रीय संकीर्णता (national narcissism) की मांग को कम करना।

1980 के दशक में देशीकरण अभी भी काफी हद तक अपने प्रतिक्रियात्मक चरण में था। यह बहस बहुत हद तक पश्चिमी सामाजिक विज्ञानों की शुरुआत, या आरोपण

टिप्पणी

की प्रतिक्रिया के रूप में वर्णित थी। एक देशी उत्पाद सिद्धांत एक देशी सामाजिक विज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए बहुत कम था।

बता दें कि दोनों के बीच का अंतर महत्वपूर्ण है। शब्द 'देशीकरण' किसी ऐसी चीज को देशी बनाने की प्रक्रिया को दर्शाता है जो भीतर से बहिर्जात है। देशी विचारों द्वारा विचार की बहिर्जात श्रेणियों का प्रतिस्थापन भी देशीकरण की प्रक्रिया का एक हिस्सा माना जाता था।

भारत में जुड़वां विषय ने जड़ें जमा लीं – समाजशास्त्र ने सामाजिक मानवशास्त्र से अधिक तेजी से प्रगति की – विशेष रूप से विभागों की संख्या के संदर्भ में। समाजशास्त्र के पेशेवरों ने खुद की पहचान और अस्तित्व पर बहस की।

एक बार में दोनों विषयों के पेशेवर को कई मोर्चों पर काम करना पड़ा था–

(i) भारत पर विदेशी विद्वानों के लेखन का मूल्यांकन।

(ii) समाजशास्त्र को विचारधारा और सामाजिक मानवशास्त्र से अलग करना।

(iii) औपचारिक रूप से भारतीय समाजशास्त्र के दायरे को परिभाषित करना और अनुसंधान के लिए प्राथमिकताओं को निर्धारित करना।

उपयुक्त तीन प्रमुख चिंताओं के आसपास के सवालों ने देशीकरण के आह्वान को गति प्रदान की है। एक राष्ट्रवादी एजेंडे के हिस्से के रूप में, 1940 और 1950 के दशक की भारतीय विद्वता ने भारत पर बाहरी लोगों द्वारा लिखी गयी रचनाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण किया ताकि भारतीय संस्कृति और सभ्यता को नीचा दिखाने वाली 'औपनिवेशिक रूपरेखा' और पश्चिमी साजिश' का पता लगाया जा सके और पश्चिमी देशों की श्रेष्ठता को साबित किया जा सके।

एक–रेखीय उद्विकास के सिद्धांत, मार्क्सवाद और संरचनात्मक–प्रकार्यात्मकता सभी को एक असमान, ऊर्ध्वाधर (vertical) संबंध बनाए रखने के लिए पश्चिमी एजेंडे के हिस्से के रूप में देखा गया। पद्धति के संदर्भ में, रिश्तों की आंतरिक संरचनाओं को समझने के लिए शोध की पश्चिमी तकनीकों की व्यवहारिकता और एक 'बाहरी व्यक्ति' के हस्तक्षेप की हद के बारे में भी सवाल उठाए गए।

आतंरिक–बाह्य विवाद एक वास्तविक पद्धतिगत मुद्दा बन गया। इस समस्या में एक विशेष मोड़ मानवविज्ञान में आया, जिसे 'अन्य संस्कृतियों' के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया गया है। संपूर्ण विषय की क्षमता उन संस्कृतियों की जांच करने से है जिसे मानवविज्ञानी नहीं करते हैं। और 'सहभागी अवलोकन' की तकनीक के साथ, यह विषय आदिम जनजाति के भरोसेमंद और वैज्ञानिक नृवंशविज्ञान अध्ययन करने में कारगर हुआ।

यदि कोई इस आलोचना को स्वीकार करता है कि 'बाहरी व्यक्ति' एक भिन्न संस्कृति को नहीं समझ सकता है, तो सभी मानवविज्ञानी शोधकर्ताओं को त्यागना होगा। इसके अलावा, एक विपरीत दृष्टिकोण भी है कि एक केवल 'आतंरिक' होने से, कोई व्यक्ति सामाजिक घटनाओं की पूर्ण, बेहतर और सटीक समझ का दावा नहीं कर सकता है। भारतीय मानवविज्ञानियों के मामले में एक और जटिलता पैदा हुई, जिसने पश्चिमी साथियों के विपरीत, ज्यादातर भारतीय समाज और इसकी उप–संस्कृतियों का

अध्ययन किया है। यह प्रश्न पूछा गया कि 'उनके लिए ये 'अन्य' समाज कैसे हैं?" यहां तक कि जब भारतीय मानवशास्त्र का अध्ययन करने इंग्लैंड गए तो उन्हें फील्डवर्क के लिए भारत भेजा गया।

टिप्पणी

इस प्रकार, भारतीय समाजशास्त्रियों के विदेशी उस्तादों के लिए भारतीय समाज 'अन्य समाज' बना रहा लेकिन भारतीय समाजशास्त्रियों के लिए ऐसा नहीं था। इस प्रकार उन्होंने अपने विषय के परिभाषित सिद्धांत का उल्लंघन करते हुए 'अंदरूनी' के रूप में अध्ययन किया। इस प्रचलन का बचाव करते हुए, प्रमुख भारतीय मानवविज्ञानियों ने समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के बीच अंतर को अनावश्यक माना।

बेशक, मानवशास्त्र पेशे में ऐसे लोग थे और शायद अब भी हैं जो एक अलग आह्वान की वकालत करते हैं और सामाजिक मानवशास्त्र, प्रागएतिहासिक और पुरातत्व और भौतिक मानवशास्त्र और जीवाश्म विज्ञान के बीच घनिष्ठ संबंध बनाए रखते हैं। इसके साथ वे केवल आदिवासी संस्कृतियों के अध्ययन पर जोर देते हैं ।

समाजशास्त्री भी एक तरफ भारतशास्त्र (इंडोलॉजी) से तथा दूसरी तरफ सामाजिक मानवशास्त्र से अपने विषय को अलग करने की कवायद में लगे रहे । दोनों मोर्चों पर, मुख्य भेद पद्धति में अंतर के कारण था। इंडोलॉजी को प्राचीन के अध्ययन के रूप में और मानवशास्त्र को 'आदिम' के अध्ययन के रूप में उन समाजशास्त्रियों द्वारा स्वीकार किया गया, जो सर्वेक्षण अनुसंधान और मात्रात्मक तकनीकों के उपयोग से समकालीन समाज के अध्ययन पर जोर देना चाहते थे।

इंडोलॉजी को 'book view' और भारतीय समाज के 'upper caste view' के लिए जिम्मेदार ठहराया गया जो वर्तमान भारतीय समाज से बहुत अलग था। और चूँकि मानवशास्त्र आदिवासी समाज पर केंद्रित था, इसलिए इसे समकालीन भारतीय समाज के विश्लेषण के लिए उपयुक्त साधन नहीं समझा गया।

लेकिन 1950 के दशक में, कृषि और ग्रामीण विकास पर भारतीय योजना में जोर और सामुदायिक विकास कार्यक्रम (CDP) के उद्घाटन के साथ और बड़े पैमाने पर, दोनों समाजशास्त्री और मानव–विज्ञानी ग्रामीण भारत का अध्ययन करने लगे। भारतीय गाँव इन दोनों विषयों के लिए अध्ययन के मुख्य आधार बन गए ।

लेकिन यहां फिर से मानवशास्त्री ने नृवंशविज्ञान (ethnographic) पद्धति का उपयोग जारी रखा, जबकि समाजशास्त्रियों ने खुद को अलग करने के लिए सर्वेक्षण पद्धति का पालन किया। इन विषयों की स्थिति के बारे में 1950 और 1960 के दशक में निरंतर बहस होती रही और इस सन्दर्भ में कि वे समाजशास्त्री हैं या मानवशास्त्री इनकी विद्वता की साख पर सवाल उठाया। भारतीय समाजशास्त्र जिन नई दिशाओं पर बात कर रहा है, वे योगेन्द्र सिंह द्वारा पूरी तरह संक्षेप में बहुत खुबसूरत ढंग से प्रस्तुत की गई हैं–

सामाजिक प्रासंगिकता और समाजशास्त्र के लिए देशीकरण प्रतिमान की तलाश में निरंतरता के बावजूद 1970 और 1980 के दशक में भारत में अनेक दिशाओं को चिह्नित किया गया जिनमें नए अन्वेषण किए गए हैं। सबसे पहले, समाजशास्त्रीय अध्ययन अवधारणाओं की पसंद और उनके उपयोग में एक नई संवेदनशीलता दिखाते हैं क्योंकि वे सामाजिक प्रक्रिया के विश्लेषण की निरंतरता के स्तर से दूर विचारों के स्तर तक ले जाते हैं।

टिप्पणी

अवधारणात्मक श्रेणियां, ऐतिहासिक डेटा और भाषाई या प्रतीकात्मक संरचनात्मक तकनीकों का उपयोग सामाजिक संरचना के अध्ययन में नई गहराई और आयाम जोड़ता है। विश्लेषण का मार्क्सवादी ऐतिहासिक तरीका किसान, कृषि संरचना और कामकाजी वर्गों के लाभ के आधार पर अध्ययन की एक शृंखला के रूप में गति प्राप्त करता है।

जाति और उसके सांस्कृतिक और सामाजिक कार्यों के अनुष्ठान पहलुओं, या जाति और वर्ग के बीच सरलीकृत द्विभाजन के साथ पूर्वाग्रह के बजाय, सैद्धांतिक अभिविन्यास के प्रति संवेदनशील अध्ययन की नई शृंखला जैसे संरचनात्मकवाद, नृवंशविज्ञान, प्रणाली विश्लेषण और मार्क्सवाद के ऐतिहासिक भौतिकवादी तरीकों और नव–मार्क्सवाद का उपयोग सामाजिक संरचना के क्षेत्रीय, महानगरीय और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में करते हैं। 1950 में स्थापित समाजशास्त्र में वर्णनात्मक अध्ययनों के स्थान पर ये अध्ययन विश्लेषणात्मक अधिक थे (सिंह, 1986)।

भारत में समाजशास्त्र का देशीकरण

सुरेंद्र शर्मा ने माउंट आबू में आयोजित संगोष्ठी के उद्देश्यों और बहसों का विश्लेषण किया, जो भारत में समाजशास्त्र के देशीकरण के मुद्दे से संबंधित था।

उद्देश्यों का उल्लेख इस प्रकार है–

1. भारत में समाजशास्त्र की विषय के रूप में स्थिति क्या है?
2. भारतीय समाज के एक वैज्ञानिक अध्ययन के लिए किन समाजशास्त्रीय अवधारणाओं को पुनःअनुकूलता और पुनःअवधारणात्मक की आवश्यकता है?
3. अंतरवैषयिक दृष्टिकोण और सहयोग की क्या संभावनाएं उपलब्ध हैं और कैसे आगे की परिकल्पना की जा सकती है?
4. भारत में समाजशास्त्र में शिक्षण और अनुसंधान की क्या समस्याएं हैं?
5. और इसमें कैसे और सुधार लाए जा सकते हैं?
6. विकासशील समाज में समाजशास्त्र और समाजशास्त्रियों की क्या भूमिका है?
7. भारत में शोध के लिए कौन–सी सैद्धांतिक और व्यावहारिक समस्याएं हैं ?

कुछ प्रासंगिक निष्कर्ष निम्नलिखित हैं–

1. समाजशास्त्रीय उद्यम का कोई निर्धारित सूत्र निश्चित नहीं किया जा सकता है और समाजशास्त्र के अभ्यास को व्यक्तिगत समाजशास्त्रियों की अकादमिक संवेदनशीलता के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए।
2. ऐतिहासिक तथ्य और संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के उपयोग के बीच विरोध नहीं था।
3. विचार विमर्श से यह मालूम हुआ कि भारत के लिए समाजशास्त्र के सार्वभौमिक चरित्र में समाजशास्त्रियों का विश्वास है।
4. एक अनूठे और विशिष्ट समाजशास्त्र की संभावना को खारिज कर दिया गया था (सिंह, 1967)।

टिप्पणी

दिल्ली विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग को 1959 में प्रारंभ किया गया। प्रो. एम.एन. श्रीनिवास संकाय के वरिष्ठ सदस्य थे। जाति, रिश्तेदारी और परिवार और गाँव समुदाय पर उनके नेतृत्व में अध्ययन किये गए। ये अध्ययन ब्रिटिश सामाजिक मानवशास्त्री रेडक्लिफ ब्राउन द्वारा प्रयुक्त सैद्धांतों और पद्धतियों से प्रभावित थे।

भारत में समाजशास्त्र पर आगरा और माउंट आबू की गोष्ठियों में प्रो. श्रीनिवास के इस विचार समूह का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। मार्क्सवादियों का भी इन दोनों सेमिनारों में कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। सरन, जिन्होंने उसी समय के आसपास भारतीय समाजशास्त्र पर एक पेपर लिखा था, लिखते हैं कि "मार्क्सवादी समाजशास्त्र भारत में व्यवस्थित तरीके से विकसित नहीं हुआ है।"

उन्होंने आगे उल्लेख किया कि बी.एन. दत्ता की भारतीय सामाजिक राजनीति में जाति व्यवस्था का मार्क्सवादी व्याख्या के रूप में अध्ययन किया गया है जिसमें इसकी उत्पत्ति आर्थिक वर्गों के निर्माण से हुई है। S.A. Dange द्वारा लिखित 'इंडिया फ्रॉम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टू स्लेवरी' और D.D. Kosambi की 'अंडरस्टैंडिंग ऑफ द एनसिएंट इंडियन हिस्ट्री' सरन द्वारा उल्लेखित उदाहरण हैं।

सरन ने भारतीय समाजशास्त्र में इन बातों को भी वर्गीकृत किया है– (1) जो आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को पूरी तरह से खारिज करते हैं और पारंपरिक सिद्धांतों की वापसी की वकालत करते हैं; (2) जो दो का संश्लेषण चाहते हैं; और (3) वे लोग जो संश्लेषण के आधार पर चर्चा करते हैं।

सरन का मत है कि आनंद के कुमारस्वामी समाज और मानव के पारंपरिक सिद्धांत और राधाकमल मुकर्जी एक बहुआयामी और समग्र विश्लेषण और दृष्टिकोण की परंपराओं के प्रतिनिधि के रूप में जाने जाते हैं। सरन डी.पी. मुकर्जी और राधाकमल मकर्जी को एक साथ जोड़ते हैं। डी.पी. मुकर्जी राधाकमल मुकर्जी के आलोचक थे।

सरन द्वारा जिन अन्य बिंदुओं पर चर्चा की गई है, वे हैं – समाजशास्त्र के रूप में भारतीय सामाजिक चिंतन, सामुदायिक अध्ययन और समाजशास्त्र और सामाजिक इंजीनियरिंग। भारतीय समाजशास्त्र पर उनका निबंध मौजूदा सिद्धांतों और दृष्टिकोणों को नकारता है। वे इस निबंध में अपने स्वयं के दृष्टिकोण को इंगित नहीं करते हैं।

हालाँकि, सरन कुमारस्वामी के समाज और मानव के पारंपरिक सिद्धांत के दृष्टिकोण से सहमत हैं। सरन, जैसा कि हम जानते हैं, भारतीय समाज के अध्ययन के लिए पश्चिमी सिद्धांतों को स्वीकार नहीं करते हैं। वे अमेरिकी और ब्रिटिश दोनों समाजशास्त्रीय सिद्धांतों और मार्क्सवाद को खारिज करते हैं।

यह स्पष्ट है कि विषय के रूप में समाजशास्त्र को विकसित करने के लिए भारतीय समाजशास्त्रियों ने हमेशा प्रयास किया। उन्होंने विषय की उत्त्पति और उसके विकास के स्तर का विश्लेषण करने के लिए आत्मविश्लेषण का सहारा लिया है। पश्चिमी समाजशास्त्र (अमेरिकी और ब्रिटिश दोनों) और मार्क्सवाद के सूत्रों का प्रयोग विषय को समझने में पड़ने वाली बाधाओं और चुनौतियों को समझने के लिए किया गया।

इस बात से इनकार किया जाता है कि समाजशास्त्र के जनकों– कॉम्ट, मार्क्स, वेबर और दुर्खीम ने भारत में समाजशास्त्र में शिक्षण और अनुसंधान को प्रभावित नहीं

टिप्पणी

किया। यह भी सिद्ध हो चुका है कि भारत में समाजशास्त्र, विशेष रूप से उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में केवल पश्चिमी सिद्धांतों, अवधारणाओं और शोध के तरीकों की नकल नहीं था। यह पश्चिम के समाजशास्त्र का समकालीन था। पचास और साठ के दशक में चर्चा यह थी कि क्या भारत में समाजशास्त्र में एक सार्वभौमिक चरित्र होना चाहिए या भारतीय समाज की विशिष्टता के कारण यह अद्वितीय होना चाहिए। यह सवाल कई अकादमिक मंचों से उठाया गया और इस बारे में कई लेख पत्र–पत्रिकाओं और पुस्तकों में छपे थे।

हम पाते हैं कि भारत के समाजशास्त्री इस मुद्दे पर विभाजित थे। हालांकि, उनमें से अधिकांश ने महसूस किया कि यह सामान्य समाजशास्त्रीय सिद्धांत का एक हिस्सा होना चाहिए और इसमें 'विशिष्ट' के साथ 'सामान्य' का संश्लेषण और सुदृढ़ीकरण होना चाहिए। हालाँकि, जब यह बहस चल रही थी, लुई ड्यूमा ने भारतीय समाज के अध्ययन के बारे में 'सांस्कृतिक दृष्टिकोण' को बढ़ावा दिया।

Epistemology और दर्शन के अलावा किसी भी विषय के लिए सिद्धांत, पद्धति और तथ्य महत्वपूर्ण तत्व हैं। भारतीय समाजशास्त्र में परिस्थितियां काफी जटिल हैं, उदाहरण के लिए एक ओर राधाकमल मुकर्जी द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण और दूसरा ए.के. सरन का दृष्टिकोण। फिर, वाई.बी. दामले ने भारतीय सामाजिक प्रणाली के विश्लेषण के लिए पार्सन्स के संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक को सबसे उपयुक्त तंत्र के रूप में पाया।

ए.आर. देसाई का मत था कि भारतीय समाज और राज्य को समझने के लिए रूढ़िवादी मार्क्सवादी दृष्टिकोण सबसे उपयुक्त है। जी.एस. घुर्ये आर.एन. सक्सेना और ए.के. सरन आपस में एक–दूसरे से अलग विचार रखते हैं, लेकिन एक परंपरावादी दृष्टिकोण पर उनकी सहमति है। एम.एन. श्रीनिवास और उनके सहयोगियों ने ब्रिटिश प्रकार्यात्मकता को सबसे उपयुक्त दृष्टिकोण के रूप में पाया है। योगेंद्र सिंह, इंद्र देव और कुछ अन्य लोग भारत में समाजशास्त्र के संबंध में सामान्य और विशिष्ट आयामों के 'संश्लेषण' के लिए सुझाव देते हैं और एक तरह के सकारात्मक–अनुभवजन्य अभिविन्यास (positivistic empirical orientation) का पालन करते हैं।

देशीकरण के लिए दिखाई गई चिंता ने इसके सभी पहलुओं की बहुत ठंडे दिमाग और सावधानीपूर्वक जांच की आवश्यकता पर बल दिया है। देशीकरण की मांग सामाजिक विज्ञानों की उन्हीं संरचना की फिर से जांच करने और आधुनिक समय की बदलती और चुनौतीपूर्ण स्थितियों में उनके प्रचार के लिए उपयुक्त रणनीतियों को विकसित करने का एक निमंत्रण है। हालांकि 'देशीकरण' शब्द काफी हद तक स्वीकारोक्ति की स्तिथि में आ चुका है, परन्तु अभी भी इस पर आम सहमति की कमी प्रतीत होती है।

जैसा कि हम देशीकरण की अवधारणा की स्थिति देखते हैं, इस अवधारणा के केवल कुछ ही समर्थक हैं। अस्सी के दशक की 'लपटें' शांत हो गई हैं। भारत ने वैश्वीकरण को देखा है। अंतर–विषयक अनुसंधान में वृद्धि हुई है। ऐसी स्थिति में हमारे पास आधुनिकीकरण और उत्तर–आधुनिकीकरण के दृष्टिकोण हैं।

उत्तर–आधुनिकीकरण का अर्थ है विभेदीकरण। यह विकेंद्रीकरण और विविधता के लिए भी कहता है। अब हम विश्व स्तर पर विचार करते हैं। परिवर्तन के इस दौर

में यह प्रतीत होता है कि देशीकरण के खड़े होने के लिए कोई आधार नहीं है। हम महान आख्यानों को अयोग्य घोषित करते हैं। हम शाब्दिक आख्यानों को स्वीकार करते हैं। अब भारतीयकरण को प्रोत्साहित करने का समय आ गया है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. भारत में शैक्षणिक समाजशास्त्र कितने दशकों से अस्तित्व में है?
   (क) तीन (ख) चार
   (ग) पांच (घ) छह
2. किसे धर्म के सापेक्षिक सामाजिक संदर्भीकरण के पिता के रूप में भी जाना जाता है?
   (क) दुर्खीम को (ख) राधाकमल मुकर्जी को
   (ग) बी.एन. सील को (घ) बी.के. सरकार को
3. बौद्धिक मोर्चे पर एशिया में सामाजिक विज्ञानों में प्रमुख संकट किससे संबंधित है?
   (क) विदेशीकरण से (ख) देशीकरण से
   (ग) संदर्भीकरण से (घ) शहरीकरण से

5.3 भारतीय समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों का उपयोग

ज्ञान के अर्थ, सामग्री, उसके निर्माण की पद्धति तथा उसकी रचनाएँ उस समय की सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियों से काफी ज्यादा प्रभावित रही हैं। हम इसके प्रमाण कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर और इमाइल दुर्खीम जैसे समाजशास्त्रियों के लेखन में देखते हैं। हम भारत के प्रारंभिक समाजशास्त्री के लेखन में भी इसी तरह की सामाजिक परम्परा पाते हैं। हालांकि, यह सामाजिक परंपरा ऐतिहासिक रूप से गठित है। पश्चिमी समाजशास्त्र के जनकों के लिए बड़ी चुनौतियाँ उस समय उभर रहे औद्योगिक समाज और उससे उभर रहे सांस्कृतिक और ज्ञान मीमांसा (epistemological) संबंधी तनाव से पैदा हुई थी। भारतीय संदर्भ में औपनिवेशिक अनुभव, अतीत के गौरव की स्मृति और भविष्य की राजनीतिक और सांस्कृतिक मुक्ति के प्रयास ने प्रमुख संज्ञानात्मक (cognitive) और नैतिक चिंताओं के बारे में बताया। समाजशास्त्र ने भारत में जैसे ही अपनी स्थिति मजबूत की, अवधारणाओं, सिद्धांत और पद्धति के संकट पैदा हुए। भारतीय समाज में काम करने वाली सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियां और भारतीय समाजशास्त्र की अवधारणाओं और पद्धति के उदविकास के बीच एक करीबी संबंध स्थापित किया जा सकता है। इस संदर्भ में, योगेंद्र सिंह भारतीय समाजशास्त्र की सामाजिक परंपरा पर चर्चा करते हैं। इसी सन्दर्भ में सिंह के विचारों को अनुकूलित किया गया है। औपनिवेशिक काल के दौरान, भारतीय समाज और संस्कृति पर कई ब्रिटिश और यूरोपीय लेखक वैचारिक दृष्टिकोण का उपयोग करते थे जो संज्ञानात्मक और मूल्य के

टिप्पणी

संदर्भ में यूरोप केन्द्रित था इनमें से कुछ ने इतिहास को विकृत करने का प्रयास किया और उपनिवेशवाद को बनाए रखने के लिए भारतीय वास्तविकता को अमूर्त (ऐतिहासिक रूप से) अर्थ दिया गया। 'जाति', 'जनजाति', 'गांव', 'समुदाय', 'परिवार' और 'रिश्तेदारी' जैसी अवधारणाओं को विभाजनकारी संस्थाओं के रूप में परिभाषित किया गया। यह भी प्रयास किया गया कि यूरोपीय समाज में इन संस्थाओं का सामाजिक–ऐतिहासिक आधार इससे अलग हो।

ऐसा बताया गया जैसे कि ये सारी व्यवस्थाएं अलग अलग हों और प्राकृतिक सम्पूर्णता का कोई स्वरुप मौजूद ही न हो। अलगाव के तत्व को अधिक महत्व दिया गया और सामाजिक और सांस्कृतिक संबंधों को प्राकृतिक सम्पूर्णता प्रदान करने वाली सामाजिक और सांस्कृतिक दोनों तरह की कड़ियों को उपेक्षित कर दिया गया था। 'जाति' औए 'जनजाति' समूह के संरचनात्मक और सांस्कृतिक स्वरूप को जिस प्रकार से देखा गया उसमें औपनिवेशिक विचारधारा, ब्रिटिश सामाजिक मानवविज्ञानी और प्रशासन के पूर्वाग्रह स्पष्ट थे। समाजशास्त्री वैरियर एल्विन की रचना 'द एबोरिजिनल्स' (1943) के जवाब में G.S. Ghurye ने 1943 में अपनी रचना 'द एबोरिजिंस सो कॉल्ड एंड देयर फ्यूचर' में लोगों का ध्यान इस पूर्वाग्रह की ओर आकर्षित किया।

उन्होंने भारतीय समाज में आदिवासी और जाति संरचना और परंपरा के बीच निरंतरता और संबंधों को प्रदर्शित करने का प्रयास किया। इस तरह के पूर्वाग्रहों के चलते ऐसा लगने लगा कि भारतीय समाज की बुनियादी सामाजिक रचनाएँ एक गतिशील ऐतिहासिकता से टूटी हुई हैं। उदाहरण के लिए, औपनिवेशिक नृजाति मानवशास्त्रियों ने आदिवासी समाज का निराशजनक दृष्टिकोण अपनाया। ब्रिटिश प्रशासकों से नृवंशविज्ञानि और मानवविज्ञानी बने इन व्यक्तियों के द्वारा विकसित वैचारिक रूपरेखा मानवशास्त्र में तत्कालीन प्रचलित मॉडल से प्रेरित थी। आदिवासी समुदायों को अलग–थलग, आदिवासियों को नोबल सैवेज (Noble Savages) के रूप में और आदिम स्थिति को अमेरिकी सादगी के रूप में वर्णित किया गया।

डी.पी. मुकर्जी (1958) के अनुसार संघ केवल 'व्यक्ति' का प्रतिनिधि नहीं है। भारतीय परंपरा में 'व्यक्ति' की धारणा की अनुपस्थिति को लुई ड्यूमा ने होमो हायरकस की अपनी अवधारणा में दोहराया। सामूहिक सिद्धांत न केवल मानक स्तर पर बल्कि बाजार और अर्थव्यवस्था के स्तर पर भी संचालित होता है। इसने जाति, जनजाति, ग्राम समुदाय और परिवार प्रणालियों और भारतीय समाज की एकता में इन संस्थाओं की एकीकृत भूमिका के बीच स्थूल–संरचनात्मक संबंधों (macro-structural linkages) का चित्रण किया। इन एकीकृत सिद्धांतों की जड़ें भारतीय समाज के ऐतिहासिक अतीत में बहुत पीछे चली जाती हैं। इरफान हबीब मुगल भारत के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए कहते हैं– "गाँव जींस उत्पादन (यानी बाजार के लिए उत्पादन) की आवश्यकताओं से बहुत प्रभावित था... कस्बों को ग्रामीण इलाकों से केवल खाने की वस्तु ही नहीं मिलती थी बल्कि निर्माताओं को कच्ची सामग्री भी प्रदान की जाती थी। 1950 और 1960 के दशक के दौरान सामाजिक मानवविज्ञानी, अर्थशास्त्रियों और इतिहासकारों द्वारा लिखी गयी रचना ने भारतीय सामाजिक संरचना यानी, जाति, जनजाति, गांव, परिवार और नातेदारी के बुनियादी तत्वों के स्वायतत्ता के मिथक को दूर किया। परिवार और नातेदारी प्रणालियों पर Gough ने (1979) इन संस्थानों और उत्पादन के साधनों के बीच

टिप्पणी

संबंधों का जिक्र किया जबकि ड्यूमॉ (1957) ने अंतर–क्षेत्रीय नातेदारी प्रणालियों के बीच संरचनात्मक समानता का वर्णन किया। औपनिवेशिक विद्वानों द्वारा भारतीय समाज और इसकी संस्थाओं की व्याख्या के सन्दर्भ में दिए गए विचार को इन संस्थानों को परिभाषित करने के तरीकों में और इनके अध्ययन में शामिल पद्धति में देखा जा सकता है। इस संदर्भ में, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारत की सामाजिक वास्तविकता की व्याख्या में कई दृष्टिकोण सामने आए।

बर्नार्ड एस. कोहन ने तीन ऐसे महत्वपूर्ण अभिविन्यासों (orientations) का विश्लेषण किया है– 'प्राच्यविद' (Orientalist), 'मिशनरी' और 'प्रशासनिक'। प्राच्यविदों ने भारत के अपने समाज की तस्वीर को स्थिर, दिशाहीन और समयहीन रूप में चित्रित करते हुए एक textual दृष्टिकोण दिया। भारतीय समाज के इस दृष्टिकोण में कोई क्षेत्रीय भिन्नता नहीं थी और निर्देशात्मक (prescriptive), ग्रंथों से प्राप्त प्रामाणिक बयानों और व्यक्तियों या समूहों के वास्तविक व्यवहार के बीच संबंध का कोई सवाल नहीं था। भारतीय समाज को नियमों के एक समूह के रूप में देखा जाता था, जिसका पालन हर हिंदू करता था।

भारत में मिशनरी दृष्टिकोण बाद में विकसित हुआ। इसने भारतीय समाज में इसके धर्म (हिंदू धर्म) के पतन और बुराई की भरपूर चर्चा की और ईसाई धर्म में धर्मांतरण के लिए इसके निवारण का प्रस्ताव दिया। प्राच्यविदों के विपरीत, जिन्होंने अक्सर भारतीय परंपरा के बारे में सकारात्मक या प्रशंसनीय दृष्टिकोण अपनाया, मिशनरियों ने भारतीय, विशेष रूप से हिंदू संस्थानों को 'अवनति (degenerate) का आधार' माना। कोहन के अनुसार मिशनरियों और प्राच्यविदों के बीच भारत के सन्दर्भ में दृष्टिकोण का अंतर उनके सामाजिक मूल में अंतर के चलते था। प्रशासकों का दृष्टिकोण भारतीय सामाजिक वास्तविकता के लिए ब्रिटिश उपयोगितावाद की परंपरा पर आधारित था।

ब्रिटिश उपयोगितावादी परंपरा भारत के पारंपरिक संस्थानों को एक तर्कसंगत आधुनिक समाज के विकास में बाधा के रूप में देखती थी, इसलिए सामाजिक और संस्थागत सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया गया। भारतीय सामाजिक वास्तविकता की इन धारणाओं का विद्वानों के सामाजिक मूल और उनके विशिष्ट वैचारिक पदों से जुड़ाव था– प्राच्यवादियों के लिए क्लासिकवाद (Classicism), मिशनरियों के लिए Evangelicism और प्रशासक–सामाजिक वैज्ञानिकों के लिए तर्कसंगत उपयोगितावाद। इसके अलावा, वे सभी भारतीय संस्थानों के बारे में एक स्थिर, गैर–ऐतिहासिक और विखंडनवादी दृष्टिकोण रखते थे।

यहां तक कि गाँव के आर्थिक मानवशास्त्र ने सभी संबंधों को एक गाँव की परिधि के भीतर ही समेटने की कोशिश की, जैसा कि हम विलियम वाइजर की 'द हिंदू जजमानी सिस्टम' (1936) में देखते हैं। भारतीय ग्राम संगठन के बारे में सर हेनरी मेन और चार्ल्स मेटकाफ ने जो कुछ लिखा, वह लगभग भारतीय परिदृश्य पर ग्राम संगठन के यूरोपीय मॉडल को स्थापित करने जैसा था और निश्चित रूप से, ये सामान्यीकरण बिना नृजातीय आधार के समझे बिना थे। 1775 से 1940 तक भारतीय समाजशास्त्र, बर्नार्ड एस कोहन के अनुसार, सामाजिक पृष्ठभूमि, विचारधारा और संबंधित समाजशास्त्रियों या नृजातीयशास्त्रियों की पसंदीदा पद्धति से प्रभावित था।

टिप्पणी

योगेन्द्र सिंह भारतीय समाजशास्त्र से संबंधित चार प्रकार के सैद्धांतिक अभिविन्यासों पर चर्चा करते हैं। वे निम्न हैं–

(1) दार्शनिक – सिद्धांतवादी परिप्रेक्ष्य

(2) सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

(3) संरचनात्मक सिद्धांतवादी परिप्रेक्ष्य

(4) द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक सिद्धांतवादी परिप्रेक्ष्य

सिद्धांत के औपचारिककरण मानदंडों पर इनमें से कोई भी व्यवस्थित रूप में मौजूद नहीं था। उनमें से ज्यादातर ने विश्लेषण की शैलियों पर काम किया है या वैचारिक योजनाओं की अर्ध–औपचारिक प्रणालियों को विकसित किया गया है। हालाँकि, हम भारतीय समाज की सैद्धांतिक संरचना में परिवर्तन को नवाचार, अवधारणाओं के सार्वभौमीकरण और श्रेणियों के मामले में देखते हैं। बीसवीं सदी के शुरुआती दो दशकों में जाति, सामाजिक रीति–रिवाज, लोककथाएँ, भूमि प्रणालियाँ और गाँव समुदाय के अध्ययन और पश्चिम में समान संस्थानों के साथ उनकी तुलना को इंगित किया गया। भारतीय समाजशास्त्र में नृजातीयता तथा सम्बंधित आधारों की सैद्धांतिक व्यवस्था का विस्तार हुआ। भारतीय समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों के उपयोग के सार्वभौमीकरण की आवश्यकता पर बल दिया गया।

भारतीय समाज के अध्ययन के लिए विभिन्न विद्वान और उनकी अवधारणा–

1. संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण – एम. एन. श्रीनिवास
2. लघु और दीर्घ परंपराएं – मैकिम मैरियट
3. बहुआयामी परंपरा – एस. सी. दुबे
4. संरचनावाद का सिद्धांत – रिचर्ड लेम्बर्ट, डी.पी. मुकर्जी, ए.आर. देसाई
5. भावनाओं की ऐतिहासिकता – लुई ड्यूमॉ

इसके अलावा, कुछ अन्य प्रमुख श्रेणियां हैं, जो कि कुछ अन्य विद्वानों द्वारा उपयोग में लाई गयी हैं–

1. आधुनिकीकरण – योगेंद्र सिंह
2. प्रभु जाति और जाति पदानुक्रम (hierarchy) – एम. एन. श्रीनिवास
3. जाति में संदर्भ समूह – वाई.बी. दामले
4. सार्वभौमीकरण और संकुचितीकरण (parochialization) – मैकिम मैरियट
5. ग्रामीण महानगरीयवाद (cosmopolitanism) की अवधारणा – ऑस्कर लुईस
6. स्रोत समूह – के.एन. शर्मा

उपरोक्त सभी अवधारणात्मक श्रेणियों का निर्माण या उपयोग दो प्रकार के विद्वानों द्वारा किया जाता है– एक, भारतीय विद्वान, जैसे– श्रीनिवास की संस्कृतीकरण की अवधारणा; और दूसरा, पश्चिमी विद्वानों, जिन्होंने भारत में फील्डवर्क किया और विश्लेषण के लिए उनका निर्माण किया। यहाँ, हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि विद्वान पश्चिमी हैं लेकिन उन्होंने भारत में अध्ययन करते समय देशी श्रेणियां निर्मित कीं,

अर्थात मैरियट की लघु और दीर्घ परंपराओं की श्रेणी। इन सभी अवधारणात्मक और सैद्धांतिक श्रेणियों को ध्यान में रखते हुए, योगेंद्र सिंह भारतीय समाज के अध्ययन करने के लिए एक अभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

टिप्पणी

ग्रामीण अध्ययन

भारत में समाजशास्त्रियों ने व्यापक रूप से गांवों पर अपना अध्ययन केंद्रित किया है। यहाँ, भारतीय समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों के उपयोग को समझने के लिए अटल (2003) के द्वारा की गयी गाँव के अध्ययनों की व्याख्या के अंश प्रस्तुत किए गए हैं। भारत में ग्रामीण अध्ययन कई चरणों में किये गए हैं। भारत की स्वतंत्रता से पहले ऐसे अध्ययनों में प्रशासकों की रुचि अधिक थी। अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री और सामाजिक मानवविज्ञानी का ध्यान ग्रामीण परिदृश्य पर बहुत बाद में आया और ज्यादातर आजादी के बाद। उन्होंने एक नृजातिशास्त्रीय तरीके से अपना काम शुरू किया। पहले एक ही गांव पर ध्यान केंद्रित किया और एक समग्र दृष्टिकोण का पालन किया। यह ध्यान दिया जा सकता है कि मानवशास्त्री के microcosmic दृष्टिकोण आदिवासी के हालात जिसमें जनजाति को अध्ययन की एक इकाई के रूप में माना जाता है पर केन्द्रित थे। निश्चित ही आदिवासियों के बसाव कई गांवों तक फैले थे। ग्राम विस्तृत आदिवासी संस्कृति के हिस्से थे।

ग्रामीण क्षेत्रों में लागू दृष्टिकोण आदिवासी समाज में लागू दृष्टिकोण से अलग था, क्योंकिं गांव को अध्ययन की एक इकाई के रूप में और एक सामुदायिक सामाजिक प्रणाली के रूप में माना गया और यह एक प्रकार से अपने आप में 'संपूर्ण' था। इस प्रकार एक अर्थ में, मानवशास्त्र ने आदिवासी अध्ययन के सन्दर्भ की तुलना में ग्रामीण व्यवस्था के अध्ययन में अवलोकन और रिपोर्टिंग के लिए एक छोटी इकाई को अपनाया। यह इस संदर्भ में है कि रॉबर्ट रेडफील्ड की देशी सभ्यता के सन्दर्भ में छोटे समुदाय, किसान समाज और लघु और दीर्घ परम्परा की मौलिक अवधारणाओं का परीक्षण किया गया और उसकी वैधता को आनुभविक अध्ययनों के माध्यम से जांचा गया। Robert Redfield और Srinivas की अवधारणा (स्थानीय, क्षेत्रीय और अखिल भारतीय स्तर पर प्रभाव का परीक्षण) और संस्कृतीकरण (1952) से प्रेरणा लेते हुए McKim Marriot (1955) ने दो पूरक अवधारणाओं– सार्वभौमीकरण और संकुचितीकरण की जुड़वां प्रक्रियाओं को विकसित किया।

ऑस्कर लुईस (1958) ने ग्रामीण विश्वदृष्टि (cosmopolitanism) की अवधारणा को जोड़ा। एस. सी. दुबे (1955) ने इन्हीं अवधारणाओं के आधार पर भारतीय परंपरा के पांच पक्षीय वर्गीकरण का प्रस्ताव दिया। उन्होंने अस्थायी रूप से इस वर्गीकरण को पुरातन, क्षेत्रीय, स्थानीय, पश्चिमी और उभरते हुए राष्ट्रीय रूप में सूचीबद्ध किया, जबकि शोधकर्ताओं ने ethnography मॉडल में गांव के अध्ययन को जारी रखा। इन अवधारणाओं ने उन्हें चर्चा का विषय बनाया। इस प्रक्रिया में विवरण की शैली बदल गई, विश्लेषणात्मक श्रेणियों का उपयोग किया जाना शुरू हुआ और पद्धतिगत नवाचार किए गए। अवधारणाओं और पद्धति पर विचार–विमर्श ने गाँव के अध्ययनों में विविधता ला दी। प्रतिनिधित्व के सवाल ने तुलनात्मक अध्ययनों को गति दी। एक से अधिक गांव एक अलग संस्कृति क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन के लिए चुने गए।

टिप्पणी

एक गाँव में जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन करने के बजाय जाति, परिवार, समूह की गतिशीलता और गुटबाजी, आर्थिक जीवन और जजमनी प्रणाली, गाँव के सभी देवताओं के मंदिर और इस तरह के विशिष्ट पहलुओं को अध्ययन के लिए चुना गया। कई गांवों के एक ही तरह संस्थानओं का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। ऐसे तुलनात्मक दृष्टिकोण के लिए प्रमुख अवधारणाओं जैसे –गांव, जाति और संयुक्त परिवार आदि की उचित और उपयोगी परिभाषा का होना आवश्यक था । इन तीन अवधारणाओं में से गाँव की अवधारणा पर बहुत कम लिखा गया और जनगणना द्वारा दी गई परिभाषा को आम तौर पर स्वीकार किया गया। ऐसे उदाहरण हैं जहां प्रशासनिक परिभाषा को अस्वीकार्य पाया गया।

दो उदाहरण इसके लिए पर्याप्त होंगे–

(1) राजस्थान में, लोगों की मांग पर एक जगह को कस्बे के रूप में वर्गीकृत किया गया लेकिन बाद में पंचायती राज की शुरुआत के बाद समुदाय का राजनीतिक नेतृत्व उसी स्थान को गांव के रूप में पुनः प्राप्त करने में कामयाब रहा।

(2) उत्तर प्रदेश में शहरी क्षेत्रों के किनारे बसे गाँव जिन्हें नगला कहा गया आम तौर पर मुख्य गाँव के हिस्से में शामिल हुए हालाँकि वे कई मामलों में, अलग गाँव समुदाय के सभी समाजशास्त्रीय गुण वाले होते हैं। इन विचारों के आधार पर, वर्तमान लेखक ने गाँव की राजस्व परिभाषा की अनदेखी की और Local Communities and National Politics (1971) में एक नगला को एक गांव के रूप में माना।

गांवों को वर्गीकृत करने का भी प्रयास किया गया है। इस प्रकार, कुछ ने degree of nucleation के आधार पर गाँव का वर्गीकरण किया। इस प्रकार के वर्गीकरण में कुछ गाँव केन्द्रित बसाव के हैं और कुछ गाँव बिखरे हुए बसाव के हैं। केन्द्रित गाँव की अवधारणा में मुख्य गाँव और उसके इर्द–गिर्द उप–ग्रामों का बसाव है। इसी तरह, तटीय गांवों की पहचान एक अलग प्रकार के गाँव के रूप में की गई है। फ्रिंज (fringe) गाँवों के लिए भी अध्ययन किए गए हैं। सामाजिक जनसांख्यिकी के संदर्भ में बसाव के आकार के आधार पर और नृजातीय समूहों (एकल जाति गाँव बनाम बहु–जाति गांव) की संख्या के आधार पर वर्गीकरण का प्रचलन है। आर्थिक पेशे के संदर्भ में, मछुआरों के गाँव और पशु चराने वालों के गाँव भी मौजूद हैं। अब तक जो अध्ययन किए गए वे ज्यादातर कृषि गांवों के हैं।

कुल्लू घाटी के एक गाँव का अध्ययन है जो इस क्षेत्र के शेष गाँवों से पूरी तरह अपने को काटकर बाहरी दुनिया के लिए अपने दरवाजे बंद करके कमोबेश अपने आप को अलग रखने में कामयाब रहा है, लेकिन अपनी भाषा बोलता है और व्यवहार में अपनी संस्कृति अपनाता है। भारतीय ग्रामीण समाज में जिस अवधारणा की सबसे अधिक चर्चा होती है वह 'जाति' है। चाहे अध्ययन का शीर्षक गांव या जाति पर जोर देता हो लेकिन जाति हमेशा अध्ययन के केंद्र में रहती है। हालांकि, तथ्य यह है कि जाति भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण तत्व है और इसकी उपेक्षा से सारे अध्ययन बेकार हो जाते हैं। ये गाँव के अध्ययन करने वाले लोग हैं जिन्होंने भारतीय सामाजिक संरचना की इस परिप्रेक्ष्य में अनुभवजन्य जांच शुरू की है।

गाँव से परे

टिप्पणी

हाल के वर्षों में आधुनिकीकरण और उसकी सामान्य प्रक्रियाओं पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसकी चर्चा विद्वानों को गाँव से परे ले गई। अधिक परिष्कृत उपकरण के साथ सर्वेक्षण अनुसंधान या मनोवैज्ञानिक परीक्षण का उपयोग करते हुए गांवों के एक समूह को जांच के लिए लिया गया। संचार संबंधों, सूचना के प्रवाह, मतदान व्यवहार, दृष्टिकोण और आकांक्षाएं, स्वास्थ्य प्रचलन और परिवार नियोजन, और ग्राम समुदायों में आर्थिक लेनदेन के अध्ययन किए गए। कुछ लोगों ने एक जाति समाज में वर्ग और शक्ति संबंधों का विश्लेषण करने का प्रयास किया है, जो कि बड़े पैमाने पर वेबरियन मॉडल (Weberian Model) का अनुसरण करता है। इस प्रकार, भारत में गाँव के अध्ययन का एक बहुत अधिक भिन्न स्वरूप है। भारत में ग्रामीण अनुसंधान को एक निश्चित झटका लगा है। रुचि भी कमजोर पड़ गई है। भारतीय सामाजिक विज्ञान तेजी से शहरी समाज की ओर उन्मुख हो रहा है। यह बदलाव समझ में आता है, हालाँकि गाँव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह स्पष्ट है कि गाँवों के संबंध में काफी आंकड़े तैयार किए गए हैं। हालात को समझने के लिए इस डाटा का पुनर्परीक्षण करने की आवश्यकता है। इस सामग्री में से अधिकांश असतत (discrete), वर्णनात्मक और विषयात्मक है। इसे संकेतबद्ध और संहिताबद्ध करने के लिए बहुत कम काम किया गया है जबकि पद्धतिगत प्रश्न उठाए गए हैं और इस पर विचार विमर्श हुआ है, अवधारणाओं को विकसित किया गया है और वैचारिक फ्रेम–वर्क तैयार किए गए हैं, पर सैधांतिक व्याख्या पर कोई ठोस लेखन अब तक सामने नहीं आया है।

सामाजिक संरचना : सामाजिक स्तरीकरण

भारतीय सामाजिक संरचना, एक व्यापक तरीके से, दो भागों में विभाजित है– (1) लोक या अशिक्षित किसान, और (2) कुलीन वर्ग। लोक और किसान लघु परंपरा का पालन करते हैं, यानी, गांव की परंपरा। कुलीन वर्ग दीर्घ परंपरा का पालन करता है। दीर्घ परंपरा में महाकाव्यों, पुराणों, ब्राह्मणों और अन्य शास्त्रीय संस्कृत कृतियों में निहित परंपराएं शामिल हैं। सीता और द्रौपदी की भूमिकाएं और स्थितियां दीर्घ परंपरा के कुछ हिस्सों का निर्माण करती हैं। दूसरी ओर, लघु परंपरा स्थानीय परंपरा – क्षेत्रीय और गाँव की स्थिति के अनुसार है। दीर्घ परंपरा द्विज जातियों में स्पष्ट रूप से पाई जाती है, विशेष रूप से पुजारी में। इनमें से कुछ कॉर्पोरेट समूह सभ्यता के लक्षणों और दीर्घ परंपरा का पालन करते हैं। लघु परंपरा के वाहक लोक कलाकारों, चिकित्सा पुरुषों, पहेलियों, कहावतों और कहानियों कवियों और नर्तकियों आदि में शामिल हैं। लघु और दीर्घ परंपराएं ग्रामीण भारत में सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण करने में मदद करती हैं। इस परिवर्तन की प्रकृति मूल रूप से सांस्कृतिक है। ग्रामीण समाज में बदलाव लाने वाली दो परंपराओं के बीच एक निरंतर सहभागिता है। योगेंद्र सिंह इस बातचीत को इस प्रकार बताते हैं– "सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन दो परंपराओं के बीच अन्तः क्रिया के माध्यम से होता है।"

सिंगर और मैरियट ने अपने अध्ययन से उत्पन्न आंकड़ों के आधार पर यह कहा कि गांव में लघु परंपरा के स्तर पर सामाजिक संरचना के सांस्कृतिक तत्व में परिवर्तन होता है। पहला, गाँव की आंतरिक वृद्धि के कारण गाँव की संस्कृति में परिवर्तन होता

टिप्पणी

है। दूसरे शब्दों में, लघु परंपरा में अपने आंतरिक विकास के कारण परिवर्तन होता है। उनके अवलोकन निम्नानुसार हैं–

1. भारतीय सभ्यता पहले से मौजूद लोक और क्षेत्रीय संस्कृतियों से विकसित हुई है। सभ्यता के इस पहलू ने दीर्घ परंपरा – रामायण, महाभारत और अन्य धार्मिक ग्रंथों का निर्माण किया। इस दीर्घ परंपरा ने भारत के विविध क्षेत्रों, गांवों, जातियों और जनजातियों में अपनी निरंतरता बनाए रखी।
2. दीर्घ परंपरा की सांस्कृतिक निरंतरता इस विचार पर आधारित है कि लोग पूरे देश में समान सांस्कृतिक चेतना साझा करते हैं।
3. पवित्र पुस्तकों और पवित्र वस्तुओं के बारे में समान सांस्कृतिक चेतना समान सहमति से बनाई गई है।
4. भारत में, अतीत के साथ सांस्कृतिक निरंतरता इतनी प्रभावशाली रही है कि आधुनिकीकरण और प्रगति की विचारधाराओं को स्वीकार करने का परिणाम सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के रैखिक रूप में नहीं होता है, लेकिन इसका परिणाम स्पष्ट रूप से आधुनिक नवाचारों के पारंपरिककरण में हो सकता है।

निष्कर्ष में, यह कहा जा सकता है कि भारत में ग्रामीण सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए कई दृष्टिकोणों में से एक दृष्टिकोण –सांस्कृतिक दृष्टिकोण है जो अधिक स्पष्ट और उपयोगी है। सरल शब्दों में, कोई यह कह सकता है कि ग्रामीण देश की सभ्यता की दीर्घ परंपरा से मानदंडों और मूल्यों को ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया में वह अपने गाँव की स्थानीय स्थितियों और इतिहास के अनुसार परिवर्तन करता है। गाँव एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न होते हैं और इसलिए लघु परंपरा भी विविध होती रहती है। दूसरी ओर, दीर्घ परंपरा अर्थात पवित्र पुस्तक भी एक समान पैटर्न पाती है। इसलिए अवधारणाएँ क्षेत्रीय और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर सांस्कृतिक परिवर्तन की व्याख्या करती हैं।

संकुचितीकरण/संकीर्णता और सार्वभौमीकरण (Parochialization and Universalization):

संकुचितीकरण/संकीर्णता और सार्वभौमीकरण क्रमशः लघु और दीर्घ परंपराओं की अवधारणाओं के पूरक हैं। ये सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया है। जब दीर्घ परंपरा अर्थात महाकाव्यों और पवित्र पुस्तकों की परंपरा जब स्थानीय या ग्रामीण स्तर पर बदल जाती है, तो यह संकुचितीकरण/संकीर्णता है या दीर्घ परंपरा या सभ्यता का स्थानीयकरण है। इसलिए, संकुचितीकरण/संकीर्णता ग्राम स्तर पर किया गया सांस्कृतिक परिवर्तन है। दूसरी ओर सार्वभौमीकरण, लघु परम्परा से दीर्घ परम्परा में हुआ सांस्कृतिक परिवर्तन है। ये दोनों प्रक्रियाएं लघु परंपरा और दीर्घ परंपरा के बीच की अंतःक्रिया से संबंधित हैं। योगेंद्र सिंह मानते हैं कि जब लघु परंपरा दीर्घ परंपरा की ओर बढ़ती है, तो यह सार्वभौमीकरण है। और जब दीर्घ परंपरा स्थानीय या गांव की ओर अग्रसर होती है, तो यह संकुचितीकरण/संकीर्णता है। "लघु परंपरा के तत्व, देशी रीति–रिवाज, कर्तव्य और संस्कार वैधतापूर्वक दीर्घ परम्पराओं से जुड़ने का प्रयास करते हैं। मेरियट इसे 'सार्वभौमीकरण' कहते हैं। यह महत्वपूर्ण हैं कि दीर्घ परम्पराएं निरंतरता की ओर बढ़ती हैं और इस प्रक्रिया में बहुत से मौलिक स्वरूप बदलते हैं। इस प्रक्रिया में बहुत से मौलिक स्वरूप समाप्त भी हो जाते हैं। मेरियट ने इस शब्द का प्रयोग दो परम्पराओं की अंतःक्रियाओं को समझने के लिए ही किया था।

जाहिर हैं कि संकुचितीकरण/संकीर्णता की प्रक्रिया में दीर्घ परंपरा के कुछ तत्वों का ह्रास होता है। दीर्घ परंपरा के तत्वों को भी गाँव के स्तर तक लाया जाता है या पुरोहित जातियों में स्थानीय नेताओं द्वारा स्तर पर अलग–अलग व्याख्या की जाती है। इस प्रक्रिया को विसंस्कृतीकरण कहा जाता है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

4. कहां पर मिशनरी दृष्टिकोण बाद में विकसित हुआ?

   (क) इंग्लैंड में (ख) अमेरिका में

   (ग) इटली में (घ) भारत में

5. किस समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों के उपयोग के सार्वभौमीकरण की आवश्यकता पर बल दिया गया

   (क) अमेरिकी (ख) पाकिस्तानी

   (ग) भारतीय (घ) रूसी

6. भारत में समाजशास्त्रियों ने व्यापक रूप से किस पर अपना अध्ययन केंद्रित किया है?

   (क) गांवों पर (ख) शहरों पर

   (ग) राज्यों पर (घ) जिलों पर

5.4 पाठ्य और सन्दर्भ

भाषा संचार का उपकरण है। लोग समाज में एक–दूसरे के साथ संवाद करने के लिए भाषा का उपयोग करते हैं। भाषा का उपयोग करके वे अपने विचारों को व्यक्त करते हैं, अपनी भावनाओं का आदान–प्रदान करते हैं और दुनिया और दैनिक जीवन में चीजों के बारे में जानकारी बांटते हैं, हालांकि भाषाई संचार को भाषा की व्यक्तिगत इकाइयों, जैसे कि ध्वनियों, शब्दों या वाक्यों द्वारा हासिल नहीं किया जाता है। लोग मुख्य रूप से और अनिवार्य रूप से, मौखिक संचार में एक पूरे विचार को व्यक्त करने के लिए इन भाषा इकाइयों के संयोजन का उपयोग करते हैं। 'पाठ्य' (Text), एक भाषाई शब्द के रूप में, इन संयोजनों को संदर्भित करने के लिए उपयोग किया जाता है। वस्तुतः एक पाठ्य संचार करने वालों के पूरे विचार को व्यक्त कर सकता है।

अपने विश्लेषण में ब्राउन और यूल (1983) पाठ्य (text) को एक संचारी क्रिया के मौखिक रिकॉर्ड के रूप में परिभाषित करते हैं। पाठ्य की उत्पत्ति और विश्लेषण दो लोगों के बीच कुछ संदर्भ में किया जाता है, क्योंकि मानव एक–दूसरे से संवाद के लिए भाषा का उपयोग करता है। संदर्भ पर पारंपरिक दृष्टिकोण के अनुसार, संदर्भ को सह–पाठ्य (co-text), स्थितिजन्य सन्दर्भ और सांस्कृतिक सन्दर्भ में वर्गीकृत किया जा सकता है जिसके बारे में कई भाषाविदों ने पाठ्य और संदर्भ के बीच संबंधों पर कई शोध किए हैं। भाषिक संचार में, संदर्भ पाठ्य को निर्धारित करता है और पाठ्य संदर्भ को दर्शाता है।

टिप्पणी

भाषा का कार्य लोगों की सामान्य गतिविधियों को व्यवस्थित करना है। यह जानना जरूरी है कि सफलतापूर्वक संवाद करने के लिए कैसे कहना है और क्या कहना है। यह भी समझना होगा कि लोग क्यों कहते हैं, क्या कहते हैं और संज्ञानात्मक संदर्भ में विभिन्न पहलुओं के अनुसार किसी विशिष्ट परिस्थिति में कैसे कहते हैं। विभिन्न लोग और अन्य बहुत सारे कारक पाठ्य के निर्माण और व्याख्या को प्रभावित करेंगे।

सन्दर्भ की अवधारणा

हाल के वर्षों में, संदर्भ भाषा विज्ञान के क्षेत्र में शोध का केंद्रीय विषय बन गया है। 'सन्दर्भ' कुछ ऐसा नहीं है जो हम प्रकृति में पाते हैं। संदर्भ एक अवधारणा है जिसका उपयोग दार्शनिकों और वैज्ञानिकों द्वारा किया जाता है।

जहां तक संदर्भ की श्रेणियों का संबंध है, विभिन्न विद्वानों की अलग–अलग राय है। मूल रूप से, संदर्भ की श्रेणियों को दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है– पहला जिसमें एक ही श्रेणी के भीतर विभाजन है; दूसरा पदानुक्रम का विभाजन है। विभिन्न विद्वान सन्दर्भ के विभाजन के लिए अलग–अलग नामों का उपयोग करते हैं।

संदर्भ में वे शाब्दिक तत्व होते हैं जो संचार करते समय किसी भी शब्द से तुरंत पहले और बाद में आते हैं। एक व्यापक अर्थ में, सब कुछ एक संदर्भ से संबंधित हो सकता है, जैसे कि भौगोलिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, एक निश्चित संचार में संवाद (discourse) की व्याख्या और उत्पादन, संवाद सहभागी, उनके व्यक्तिगत अनुभव, विश्वकोश ज्ञान और संचार में उनकी विशेष भूमिका, आदि ।

Qiu Xinyi संदर्भ को परिभाषित करने के लिए सात प्रमुख बिंदुओं को आगे रखते हैं–

- संदर्भ वस्तुगत स्थिति, मनोवैज्ञानिक उत्पादन या संचार विषयों द्वारा निर्मित पृष्ठभूमि है या नहीं?
- क्या संदर्भ संचार से पहले अस्तित्व में है या एक निश्चित संचार की प्रक्रिया के दौरान गतिशील रूप से निर्मित है? क्या यह प्रतिभागियों द्वारा या खुद से गतिशील रूप से बनता है? प्रतिभागियों को संदर्भ से विवश किया जाता है। क्या वे एक ही समय में अपने संचार के इरादे के लिए संदर्भ का निर्माण कर सकते हैं? यदि संदर्भ का निर्माण लगातार हो तो क्या यह प्रक्रिया संचित है?
- संदर्भ की तुलना किससे की जाती है? क्या यह एकल या अद्वितीय है? यह निश्चित है या नहीं?
- क्या सहभागियों द्वारा सन्दर्भ साझा किया गया या उनके साझा ज्ञान में शामिल है? क्या संदर्भ अलग–अलग सहभागियों के अनुसार बदलता है?
- हमें किस स्तर का संदर्भ अनुसंधान करना चाहिए? क्या अमूर्त और सामान्य संदर्भ मौजूद है?
- यदि हम संदर्भ की परिभाषा देना चाहते हैं तो हमें किन समस्याओं का समाधान करना चाहिए?
- वर्णनात्मक संदर्भ मॉडल के निर्माण के लिए हमें किन समस्याओं का समाधान करना चाहिए?

सभी ऊपर के सात पहलू सैद्धांतिक रूप से मूल्यवान हैं, विभिन्न विषयों में काम करने वाले विद्वान स्वयं संदर्भ के विभिन्न पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और विविध दृष्टिकोण रखते हैं।

टिप्पणी

सन्दर्भ पर पारंपरिक अनुसंधान

संदर्भ की धारणा मैलिनोवस्की द्वारा शुरू की गई है, जो एक ब्रिटिश मानवशास्त्री थे (पोरलैंड में पैदा हुए)। यह धारणा 1923 में ओग्डेन और रिचर्ड्स की रचना 'द सेंस ऑफ सेंस' की अनुपूरक थी। उन्होंने तीन प्रकार के संदर्भों को बताया– तत्काल संदर्भ उच्चारण, स्थिति का सामान्य संदर्भ और संस्कृति का व्यापक संदर्भ और उस संदर्भ को भाषाई तत्व, सांस्कृतिक और स्थितिजन्य कारक के साथ आगे बढ़ाया।

मैलिनोवस्की के स्थिति के संदर्भ की धारणा को उनके एक साथी Firth (फर्थ) ने स्वीकार के साथ–साथ विस्तार दिया। उन्होंने मैलिनोवस्की की स्थिति के संदर्भ को भाषा विज्ञान तक विस्तारित किया। 1950 में, उन्होंने संदर्भ के बारे में अपनी किताब –'पर्सनैलिटी एंड लैंग्वेज इन सोसाइटी'(Personality and Language in Society) में विस्तार से बताया। फर्थ ने अपने भाषाई सिद्धांत को संदर्भ के अध्ययन के विस्तार के साथ जोड़ा।

पाठ्य

दैनिक जीवन में लोग एक–दूसरे के साथ संवाद करने के लिए भाषा का उपयोग करते हैं। भाषा की अलग–अलग इकाइयाँ ध्वनियों, शब्दों या वाक्यों से मिलकर बनती हैं। हालांकि, लोग भाषाई संचार के लिए इन व्यक्तिगत इकाइयों का उपयोग नहीं करते हैं। लोग, मुख्य रूप से और अनिवार्य रूप से, इन भाषा इकाइयों के संयोजन के माध्यम से संवाद करते हैं, और भाषा इकाइयाँ स्वयं अभिव्यक्ति की अलग–अलग इकाइयों का गठन करती हैं। भाषा इकाइयों के संयोजनों को भाषा विज्ञान में पाठ्य कहा जाता है। लेकिन पाठ्य क्या है? अब तक भाषाई क्षेत्र में पाठ्य की परिभाषा निश्चित और पूर्ण नहीं है। विभिन्न भाषाविदों की राय अलग है। Longman Dictionary of Language Teaching and Applied Linguistics के अनुसार, पाठ्य एक सामान्य शब्द है जो भाषा के उपयोग तथा संचार की क्रिया के परिणामस्वरूप पैदा किया गया है।

एक पाठ्य उपयोग में आनेवाली भाषा की एक इकाई है। यह एक व्याकरणिक इकाई नहीं है, जैसे एक खंड या एक वाक्य और यह इसके आकार से परिभाषित नहीं है। एक पाठ्य को कभी–कभी किसी प्रकार के बहुत बड़े वाक्य (Super-sentence) के रूप में परिकल्पित किया जाता है, एक व्याकरणिक इकाई जो एक वाक्य से बड़ी होती है लेकिन एक वाक्य से उसी तरह संबंधित होती है जैसे कि एक वाक्य एक खंड से, एक खंड एक समूह से और इसी तरह से अन्य भी। एक पाठ्य ऐसा कुछ नहीं है जो एक वाक्य की तरह है, केवल बड़ा है; यह एक ऐसी चीज है जो एक वाक्य से भिन्न होती है। यह गद्य या पद्य, संवाद या एकालाप हो सकता है। यह एक एकल कहावत से लेकर पूरे नाटक तक कुछ भी हो सकता है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

7. भाषा किसका उपकरण है?

(क) संचार का (ख) इनसान का

(ग) समाज का (घ) विचार का

8. हाल के वर्षों में संदर्भ भाषा विज्ञान के क्षेत्र में किसका केंद्रीय विषय बन गया है?

(क) संचार का (ख) शोध का

(ग) समाज का (घ) विरोध का

9. भाषा इकाइयों के संयोजनों को भाषा विज्ञान में क्या कहा जाता है?

(क) पाठ्य (ख) पाठ

(ग) इकाई (घ) संयोजन

5.5 भारत में समाजशास्त्र

भारतीय प्राकृतिक और सामाजिक वैज्ञानिक अनुसंधान और शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दुनिया के पारंपरिक पश्चिमी विचारों को ध्यान में रखते हुए हमें वैश्विक परिवर्तनों के बारे में पता होना चाहिए। यह सच है कि आधुनिक विश्वविद्यालय पश्चिमी शैली के अनुसंधान और शिक्षा संस्थानों के रूप में उभरे; समकालीन अर्थ में, विज्ञान पश्चिमी दुनिया में उत्पन्न होने वाला एक अपेक्षाकृत हाल का उद्यम है; समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र (मानवशास्त्र यहाँ बहुत प्रासंगिक है) पश्चिमी यूरोप में उभरा। उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और वैश्वीकरण के प्रभाव में सभी विश्वविद्यालयों, आधुनिक विज्ञान और समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र का विस्तार हुआ है और वैश्विक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया है। न केवल आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाएं और बल्कि संस्थाओं में भी लगातार बदलाव हो रहे हैं और सांस्कृतिक और शिक्षा के केंद्र में बड़ा परिपर्तन देखा जा सकता हैं। यह माना जाता था कि परिधियों और / या अर्ध–परिधियों का संबंध अब 'हाशिये' पर नहीं है। इसके अलावा, घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय पलायन में वृद्धि के साथ, कई लोगों के जीवन स्तर में सुधार हुआ है और अपनी संस्कृति और कार्य (आवश्यक रूप से स्थायी रूप से नहीं) को शिक्षा के माध्यम से समृद्ध किया और इस तरह 'सार्वभौमिक' संस्कृति में योगदान दिया।

गैर–पश्चिमी, गैर–महानगरीय सामाजिक विज्ञानों और उनकी उपलब्धियों में रुचि आज के समाजशास्त्रीय समुदाय में बढ़ती दिख रही है। हमारा सम्बन्ध केवल पश्चिमी शैली 'भारत के समाजशास्त्र' के साथ ही नहीं है, बल्कि भारत में विकसित 'समाजशास्त्र' के साथ भी है और संरचनात्मक और सांस्कृतिक मुद्दों के व्यवस्थित अनुसंधान की दृष्टि से भारत के अपने देशी दृष्टिकोण के आधार पर पश्चिमी अनुभवों और दर्शन की तुलना में भारतीय समाज के वैचारिक मॉडल पर आधारित 'भारतीय

समाजशास्त्र' के निर्माण के प्रयासों के साथ भी है। भारत में जैसे समाजशास्त्र का प्रचलन हुआ है वह अंतर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इससे हम भारतीय उप–महाद्वीप के बारे में सीखते हैं।

टिप्पणी

समाजशास्त्र का शिक्षण (वास्तव में, उस समय सामाजिक मानवशास्त्र के रूप में) 1919 में भारत में बॉम्बे विश्वविद्यालय में शुरू हुआ था, लेकिन यह व्यवस्थित अनुभवजन्य अनुसंधान द्वारा शुरू हुआ था जो औपनिवेशिक शासन में लोगों के जीवन का दस्तावेज, श्रेणीबद्ध और वर्गीकृत करने की औपनिवेशिक सरकार के जरूरतों को पूरा करने के लिए समर्पित था

स्वतंत्रता–पूर्व अवधि के दौरान सामाजिक अनुसंधान के सबसे महत्वपूर्ण विषय थे– जाति व्यवस्था, आदिवासी समुदाय, परिवार, विवाह और रिश्तेदारी, ग्रामीण और शहरी समुदाय। औपनिवेशिक प्रशासन विभिन्न संस्थागत व्यवस्थाओं के बारे में और स्थानीय रीति–रिवाजों एवं परंपराओं की समझ अपर्याप्त और अक्सर गलत होती थी। उस समय शोध विषयों का चयन पश्चिमी मूल्यों और ईसाई धर्म के मानक सिद्धांतों पर आधारित था जो वैचारिक रूप से पक्षपाती था और आज के भारतीय विद्वानों के अनुसार, इसने भारतीय समाज में पहले से व्याप्त खंडित दरारें को बढ़ा दिया। 1947 में, समाजशास्त्र और या सामाजिक मानवशास्त्र तीन विश्वविद्यालयों– बॉम्बे, कलकत्ता और लखनऊ, साथ ही पूना, मैसूर और हैदराबाद में छोटे कॉलेजों में पढ़ाया जाता था। प्रारंभिक वर्षों में अर्थशास्त्र के विभागों के भीतर समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र की अधिकांश इकाइयां स्थित थीं। भारतीय सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र का विस्तार 1952 में शुरू हुआ। 1970 के दशक के अंत में, पचास विश्वविद्यालयों और कॉलेजों ने समाजशास्त्र में एमए कार्यक्रमों की पेशकश की। 2000 तक, समाजशास्त्र उच्च शिक्षा के लगभग एक सौ (लगभग दो सौ में से) भारतीय संस्थानों में पढ़ाया जाता था। आज भारत में शिक्षा के सभी स्तरों (उच्च विद्यालयों सहित) में दस हजार से अधिक शिक्षक समाजशास्त्र विषय पढ़ाते हैं। नई दिल्ली का जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय समाजशास्त्रीय अनुसंधान और शिक्षण का एक बहुत मजबूत केंद्र है। आठ में से चार भारतीय लेखक इस संस्था से आते हैं।

सुजाता पटेल के अनुसार, भारत में समाजशास्त्र ने पिछले दशकों में कम से कम दो अलग–अलग चुनौतियों का सामना किया है। पहली चुनौती उच्च शिक्षा प्रणाली के विकास से संबंधित है और स्थानीय महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए मांग करती है। इन संस्थानों में स्थानीय भाषाओं में पढ़ाई होती है लेकिन बहुत बार इन भाषाओं में प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों के सहयोग के बिना। इन संस्थानों में बुनियादी ढांचा आमतौर पर खराब है। इसके अलावा, समाजशास्त्र उन चीजों पर केन्द्रित होता हैं जो अक्सर क्षेत्रीय हितों का और ज्यादातर स्थानीय कुलीन वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

पहले से बहिष्कृत और अशिक्षित समुदायों से आने वाली नई पीढ़ी के छात्रों की जरूरतों को पूरा करने लिए समाजशास्त्र शिक्षक पूरी तरह से तैयार नहीं थे । पटेल के अनुसार, समाजशास्त्र को इन स्थानीय कॉलेजों में अन्य से कम महत्वपूर्ण विषय का दर्जा हासिल था। दूसरी चुनौती वास्तव में पूर्व की भिन्नता या परिणाम है। भूमिहीन लोग, किसान, श्रमिक वर्ग, झुग्गी–झोंपड़ी में रहने वाले, मध्यम और निचली जातियों,

टिप्पणी

आदिवासी समुदायों, धार्मिक समूहों और महिलाओं के खिलाफ भेदभाव का प्रतिनिधित्व करने वाले विभिन्न प्रकार के सामाजिक आंदोलन उभरे और मजबूत हुए। देश में सामाजिक असमानताएँ बढ़ी हैं। गरीबी का स्तर कुल आबादी का 40% तक पहुंच गया और प्रवास के गांवों के कारण शहरी गरीबों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। 1980 के दशक के बाद से, कुछ समाजशास्त्रियों ने इस विषय में पहले की अनसुनी आवाजों को एकीकृत करने के प्रयास किए हैं जो अन्य बौद्धिक धाराओं जैसे कि सबाल्टर्न अध्ययन, उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन और नारीवादी अध्ययन के साथ संलग्न होते हैं। इसके साथ ही, मुख्यधारा के समाजशास्त्र के पुराने क्षेत्रों का पुनर्गठन हो गया है और नई विशेषज्ञता विकसित हुई है।

दिसंबर,1951 में, जी.एस घुर्ये – बॉम्बे विश्विविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग के प्रमुख थे। पहल के साथ ही इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसायटी (आईएसएस) औपचारिक रूप से पंजीकृत हुई । घुर्ये ने 1966 तक इसके अध्यक्ष के रूप में कार्य किया। 1952 में, सोसायटी ने अपने द्विवार्षिक समाजशास्त्रीय बुलेटिन (2004 से – वर्ष में तीन मुद्दे) की शुरुआत की। यह एक द्विवार्षिक समाचार–पत्र भी प्रकाशित करता है। क्षेत्रीय समाजशास्त्रीय संघ समय–समय पर अपने periodicals का प्रकाशन करते हैं। 1955 से, अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन (एआईएससी) की स्थापना की गई, जो कार्यशालाओं और सेमिनारों पर केंद्रित थी, जो देश के विभिन्न हिस्सों में आयोजित किए गए। 1967 में, AISC का ISS में विलय हो गया। एम. एन. श्रीनिवास नए अध्यक्ष चुने गए। जब हम आईएसएस की शोध समितियों के शीर्षकों को देखते हैं, तो हम इस विषय के लेखों को Polish Sociological Review में रख सकते हैं।

1. सिद्धांत, अवधारणा और कार्यप्रणाली
2. परिवार, नातेदारी और शादी
3. अर्थव्यवस्था, राजनीति और समाज
4. प्रवास और डायस्पोरिक अध्ययन
5. शिक्षा और समाज
6. धर्म और धार्मिक समुदाय
7. ग्रामीण, किसान और आदिवासी समुदाय
8. सामाजिक स्तरीकरण, व्यवसाय और सामाजिक गतिशीलता
9. दलित और पिछड़े वर्ग
10. लिंग अध्ययन
11. समाजशास्त्र और वातावरण
12. जनसंख्या, स्वास्थ्य और समाज
13. विज्ञान, प्रौद्योगिकी और समाज
14. संस्कृति और संचार
15. सामाजिक परिवर्तन और विकास
16. शहरी और औद्योगिक अध्ययन

17. सामाजिक आंदोलन
18. अपराध और अवमूल्यन का समाजशास्त्र
19. आयु और सामाजिक संरचना
20. आराम और पर्यटन
21. सामाजिक समस्याएं और हाशिए पर समूह
22. सैन्य समाजशास्त्र, सशस्त्र बल और संघर्ष समाधान

टिप्पणी

ईश्वर मोदी की राय है कि आईएसएस (ISS) की संरचना की तुलना अंतर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय संघ (आईएसए– इंटरनेशनल सोसिओलॉजिकल एसोशियेसन) की संरचना से की जाती है। कुछ विशेष अनुसंधान क्षेत्र हैं जो भारत में नहीं मिलते हैं– भविष्य के शोध, भाषा और समाज, खेल का समाजशास्त्र, कार्य का समाजशास्त्र, युवाओं का समाजशास्त्र, कला का समाजशास्त्र, जीवनी और समाज, आपदाओं का समाजशास्त्र, बचपन का समाजशास्त्र, वैश्विक–स्थानीय संबंधों का समाजशास्त्र और शरीर का समाजशास्त्र। दूसरी ओर, इस विद्वान के अनुसार, भारत में पिछड़े और हाशिए पर रहने वाले समूहों, आदिवासी समुदायों, जो गरीबी, असमानता और अन्याय की समस्याओं का सामना करते हैं, के बारे में बहुत सफलतापूर्वक अध्ययन किया जाता है। उनका मानना है कि एनजीओ सेक्टर का तेजी से विकास applied और action समाजशास्त्र के विकास में अत्यधिक योगदान है

भारत में सामाजिक विज्ञान (सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र) के इतिहास को देखते हुए, सुजाता पटेल ने दो महत्वपूर्ण चरणों की चर्चा की। पहले चरण में जो महत्वपूर्ण था वह था औपनिवेशिक आधुनिकता के discourse द्वारा विषय की पहचान को परिभाषित करने में भूमिका और सामाजिक मानवशास्त्र के सिद्धांतों के उपयोग का प्रचार और सामाजिकता के उच्च जाति और वर्ग discourse को पुनः पेश करने के का तरीका।

इस चरण के दौरान, 'भारतीय मूल्यों' में निहित उभरते हुए देशी समाजशास्त्र से पारंपरिक मानवशास्त्र के लिए चुनौती का अवलोकन कर सकते हैं। यह दिलचस्प है कि उस समय 'पूर्व' या 'दक्षिण' का अध्ययन करने वाले किसी भी व्यक्ति को मानवविज्ञानी के रूप में परिभाषित किया गया, जबकि 'पश्चिम' का अध्ययन करने वालों को समाजशास्त्री कहा जाता था। पटेल घुर्ये के बॉम्बे–आधारित समाजशास्त्रीय कार्य जिसे सामाजिक मानवशास्त्र के रूप में पहचाना जाता है, जिसमें यूरोप में दिखाई देने वाली अवधारणाओं और श्रेणियों को दर्शाया गया है और लखनऊ का 'वास्तविक' समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य जो वर्तमान और भविष्य के लिए उन्मुख है और अतीत के प्रति नहीं, के बीच अंतर करते हैं। लखनऊ का समाजशास्त्र सामाजिक व्यवहार, जैसे सामाजिक कार्य और सामाजिक नीति, या राजनीतिक हस्तक्षेप पर केंद्रित होता था। यह माना जाता है कि भारत गरीबी और पिछड़ेपन से दबा हुआ था और दूसरी ओर ये तथ्य औपनिवेशिक शोषण द्वारा निर्धारित किए गए थे।

पटेल के अनुसार, दूसरे चरण में पहले एम. एन. श्रीनिवास और बाद में ए. आर. देसाई का वर्चस्व था। श्रीनिवास का समाजशास्त्र ब्रिटिश प्रकार्यात्मक सामाजिक नृविज्ञान पर आधारित था। उनकी राय में, भारतीय समाज के गुणों को बताने में इसकी

टिप्पणी

जाति व्यवस्था महतवपूर्ण थी। पहले गांवों पर ध्यान केंद्रित करते हुए, उन्होंने इस प्रणाली के एकीकरण पर जोर दिया, बाद में पूरे समाज के सामान्य सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण पर जोर दिया और समरूप भारतीय राष्ट्र के समग्र आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के लिए जाति व्यवस्था के अनुकूलन के विश्लेषण की ओर इनका ध्यान गया। आधुनिकता और आधुनिकीकरण जैसी चीजें उसके विश्लेषण का विषय नहीं थीं।

उन्होंने एक शक्ति के रूप में उपनिवेशवाद के विश्लेषण और सामाजिक और सांस्कृतिक विनाश की प्रक्रिया की भी उपेक्षा की। पटेल का कहना है कि उनका समाजशास्त्र, भारतीय समाज में परिवर्तन और संघर्ष की समकालीन प्रक्रियाओं को समझने के लिए आवश्यक अवधारणाओं और परिकल्पनाओं को नहीं उपलब्ध करता है। श्रीनिवास के समाजशास्त्र का विरोध मार्क्सवादी ए. आर. देसाई से हुआ। देसाई ने भारतीय राष्ट्र की समरूपता को नहीं बल्कि इसकी असमानता, शक्ति और संपत्ति संबंधों और बहिष्कृत समाज के परिप्रेक्ष्य को रेखांकित किया, जो नए सामाजिक आंदोलनों में लगे।

भारतीय विद्वान अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बहुत सक्रिय हैं। T. K. Oommen ने वर्ष 1990 से 1994 तक आईएसए के अध्यक्ष के रूप में कार्य किया और डी. पी. मुकर्जी और सुजाता पटेल ने क्रमशः 1959–1962 और 2002–2006 में उपाध्यक्ष के रूप में कार्य किया। वर्ष 1997 तक नौ भारतीय विद्वान आईएसए की कार्यकारी समिति के सदस्य थे। अपने स्वयं के वार्षिक सम्मेलनों के संबंध में, आईएसएस नियमित रूप से भारतीय और विदेशी समाजशास्त्रियों के बीच नॉर्थसाउथ वार्ता आयोजित करता है। विशेष रूप से करीबी संबंध भारतीय को ब्राजील और दक्षिण अफ्रीकी सामाजिक वैज्ञानिकों के साथ जोड़ते हैं।

भारत में कई जातियाँ, जनजातियाँ, नृजातीय और धार्मिक समूह और एक umbrella concept जो यह समझने में मदद करता है कि इस विविधता को एक साथ रखना कितना महत्वपूर्ण है।

व्यापक रूप से समझी जाने वाली संस्कृति के क्षेत्र में औपनिवेशिक विरासत और decolonization है। दूसरा देश का आधुनिकीकरण है, जिसमें विभिन्न विरोधाभास और जटिल और पीड़ादायक प्रक्रिया के पहलू शामिल हैं। तीसरा आधुनिक सार्वजनिक क्षेत्र है, जिसमें राज्य संगठन, लोकतांत्रिक प्रक्रिया के साथ–साथ नागरिक समाज भी शामिल है। चौथा, जातीय समस्या है, एक बहुत व्यापक अर्थ में, भारत के निर्माण में विशेष रूप से भारतीय जाति व्यवस्था में परिवर्तन शामिल हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

10. कहां का जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय समाजशास्त्रीय अनुसंधान और शिक्षण का एक बहुत मजबूत केंद्र है?

(क) कलकत्ता का (ख) बंबई का

(ग) नई दिल्ली का (घ) इलाहाबाद का

टिप्पणी

11. किसके अनुसार भारत में समाजशास्त्र ने पिछले दशकों में कम से कम दो अलग–अलग चुनौतियों का सामना किया है?

    (क) सरदार पटेल के (ख) सुजाता पटेल के

    (ग) जी.एस. घुर्ये के (घ) ईश्वर मोदी के

12. वर्ष 1997 तक कितने भारतीय विद्वान आईएसए की कार्यकारी समिति के सदस्य थे?

    (क) दस (ख) सात

    (ग) आठ (घ) नौ

5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (क)
3. (ख)
4. (घ)
5. (ग)
6. (क)
7. (क)
8. (ख)
9. (क)
10. (ग)
11. (ख)
12. (घ)

5.7 सारांश

भारत में शैक्षणिक समाजशास्त्र केवल छह दशकों से अस्तित्व में है, यद्यपि समाजशास्त्रीय विचार और अनुभवजन्य अनुसंधान 19 वीं शताब्दी के बाद से भारत में मौजूद थे और 1950 के बाद से, भारत में, भारत का और भारत के लिए समाजशास्त्र पर चर्चा होती रही है। भारत में समाजशास्त्र समाजशास्त्रियों की पेशेवर गतिविधियों से संबंधित है। 'भारत के लिए समाजशास्त्र' के मामले में यह प्रयास भारतीय सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन करने के लिए उपयुक्त अवधारणाओं और सिद्धांतों के समूह का स्वीकृत पक्ष है।

'संदर्भीकरण' और इस अवधारणा के भीतर होने वाले बदलाव के पूर्ण अर्थ को समझने के लिए, एमिल दुर्खीम के लेखन विशेष रूप से उनके काम, 'द एलिमेंटरी फॉर्म्स

टिप्पणी

ऑफ द रिलिजियस लाइफ (1912)' को समझना आवश्यक है। दुर्खीम समाजशास्त्र के अध्ययन, एक अलग शैक्षणिक विषय के रूप में जो मनोविज्ञान के अध्ययन से अलग है, के संस्थापकों में से एक हैं। उनके विचार ने धर्म को समाज के भीतर एक समारोह के रूप में समझाया जो समाज के साथ एक व्यक्ति के रिश्ते की कुंजी प्रदान करता है।

इस प्रकार, दुर्खीम (Durkheim) को धर्म के सापेक्षिक सामाजिक संदर्भीकरण के पिता के रूप में भी जाना जाता है। एक पवित्र स्रोत से प्रतिबंधों और सीमाओं को प्रदान करके समाज की भलाई और प्रभावशीलता के लिए धर्म को एक महत्वपूर्ण योगदानकर्ता के रूप में देखा गया। किसी समाज के रीति–रिवाज, मान्यताएँ और धार्मिक प्रथाएँ उस समाज की संस्कृति से अपरिवर्तनीय रूप से जुड़ी हुई हैं। दुर्खीम के बाद, मानवविज्ञानी धर्म में एक अध्याय को शामिल कर सकते हैं, जो कि एक दिए गए समाज में संस्कृति के कारकों में से एक है, जो कि ज्ञानोदय (Enlightenment) के बाद के युग में उपहास के डर के बिना है।

बौद्धिक मोर्चे पर, एशिया में सामाजिक विज्ञानों में प्रमुख संकट देशीकरण से संबंधित है। देशी विद्वता ने विदेशों से आयातित सिद्धांतों और पद्धति की उपयोगिता और उपयुक्तता के बारे में सवाल उठाना शुरू कर दिया है और देश के मूल विचारों और अनुसंधान की देशी तकनीकों द्वारा सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए एक अभियान सा शुरू कर दिया है।

हालांकि, देशीकरण का आह्वान अलग–अलग रूप लेता है और विभिन्न देशों में विभिन्न पहलुओं पर जोर देता है। जिन देशों ने हाल ही में सामाजिक विज्ञान की शुरुआत की है, देशीकरण सामाजिक विज्ञानों की शुरुआत और मान्यता के लिए केवल एक दलील है ताकि देशी विद्वता बढ़े और अंततः राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में योगदान दे। वहाँ, मूल मुद्दों पर चर्चा नहीं की जाती है। कुछ अन्य लोगों में, अध्ययन और रिपोर्ट लेखन में राष्ट्रीय भाषा को स्वीकार करना ही देशीकरण के रूप में माना जाता है। राष्ट्रीय जरूरतों के प्रति पूर्वाग्रह के साथ पाठ्यक्रम विकास भी देशीकरण का सूचक है।

ज्ञान के अर्थ, सामग्री, उसके निर्माण की पद्धति तथा उसकी रचनाएँ उस समय की सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियों से काफी ज्यादा प्रभावित रही हैं। हम इसके प्रमाण कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर और इमाइल दुर्खीम जैसे समाजशास्त्रियों के लेखन में देखते हैं। हम भारत के प्रारंभिक समाजशास्त्री के लेखन में भी इसी तरह की सामाजिक परम्परा पाते हैं। हालांकि, यह सामाजिक परंपरा ऐतिहासिक रूप से गठित है। पश्चिमी समाजशास्त्र के जनकों के लिए बड़ी चुनौतियाँ उस समय उभर रहे औद्योगिक समाज और उससे उभर रहे सांस्कृतिक और ज्ञान मीमांसा (epistemological) संबंधी तनाव से पैदा हुई थी। भारतीय संदर्भ में औपनिवेशिक अनुभव, अतीत के गौरव की स्मृति और भविष्य की राजनीतिक और सांस्कृतिक मुक्ति के प्रयास ने प्रमुख संज्ञानात्मक (cognitive) और नैतिक चिंताओं के बारे में बताया। समाजशास्त्र ने भारत में जैसे ही अपनी स्थिति मजबूत की, अवधारणाओं, सिद्धांत और पद्धति के संकट पैदा हुए। भारतीय समाज में काम करने वाली सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियां और भारतीय समाजशास्त्र की अवधारणाओं और पद्धति के उदविकास के बीच एक करीबी

टिप्पणी

संबंध स्थापित किया जा सकता है। इस संदर्भ में, योगेंद्र सिंह भारतीय समाजशास्त्र की सामाजिक परंपरा पर चर्चा करते हैं। इसी सन्दर्भ में सिंह के विचारों को अनुकूलित किया गया है। औपनिवेशिक काल के दौरान, भारतीय समाज और संस्कृति पर कई ब्रिटिश और यूरोपीय लेखक वैचारिक दृष्टिकोण का उपयोग करते थे जो संज्ञानात्मक और मूल्य के संदर्भ में यूरोप केन्द्रित था इनमें से कुछ ने इतिहास को विकृत करने का प्रयास किया और उपनिवेशवाद को बनाए रखने के लिए भारतीय वास्तविकता को अमूर्त (ऐतिहासिक रूप से) अर्थ दिया गया। 'जाति', 'जनजाति', 'गांव', 'समुदाय', 'परिवार' और 'रिश्तेदारी' जैसी अवधारणाओं को विभाजनकारी संस्थाओं के रूप में परिभाषित किया गया। यह भी प्रयास किया गया कि यूरोपीय समाज में इन संस्थाओं का सामाजिक–ऐतिहासिक आधार इससे अलग हो।

भारत में समाजशास्त्रियों ने व्यापक रूप से गांवों पर अपना अध्ययन केंद्रित किया है। यहाँ, भारतीय समाज के विश्लेषण में देशी श्रेणियों के उपयोग को समझने के लिए अटल (2003) के द्वारा की गयी गाँव के अध्ययनों की व्याख्या के अंश प्रस्तुत किए गए हैं। भारत में ग्रामीण अध्ययन कई चरणों में किये गए हैं। भारत की स्वतंत्रता से पहले ऐसे अध्ययनों में प्रशासकों की रुचि अधिक थी। अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री और सामाजिक मानवविज्ञानी का ध्यान ग्रामीण परिदृश्य पर बहुत बाद में आया और ज्यादातर आजादी के बाद। उन्होंने एक नृजातिशास्त्रीय तरीके से अपना काम शुरू किया। पहले एक ही गांव पर ध्यान केंद्रित किया और एक समग्र दृष्टिकोण का पालन किया। यह ध्यान दिया जा सकता है कि मानवशास्त्री के microcosmic दृष्टिकोण आदिवासी के हालात जिसमें जनजाति को अध्ययन की एक इकाई के रूप में माना जाता है पर केन्द्रित थे। निश्चित ही आदिवासियों के बसाव कई गांवों तक फैले थे। ग्राम विस्तृत आदिवासी संस्कृति के हिस्से थे।

भाषा संचार का उपकरण है। लोग समाज में एक–दूसरे के साथ संवाद करने के लिए भाषा का उपयोग करते हैं। भाषा का उपयोग करके वे अपने विचारों को व्यक्त करते हैं, अपनी भावनाओं का आदान–प्रदान करते हैं और दुनिया और दैनिक जीवन में चीजों के बारे में जानकारी बांटते हैं, हालांकि भाषाई संचार को भाषा की व्यक्तिगत इकाइयों, जैसे कि ध्वनियों, शब्दों या वाक्यों द्वारा हासिल नहीं किया जाता है। लोग मुख्य रूप से और अनिवार्य रूप से, मौखिक संचार में एक पूरे विचार को व्यक्त करने के लिए इन भाषा इकाइयों के संयोजन का उपयोग करते हैं। 'पाठ्य' (Text), एक भाषाई शब्द के रूप में, इन संयोजनों को संदर्भित करने के लिए उपयोग किया जाता है। वस्तुतः एक पाठ्य संचार करने वालों के पूरे विचार को व्यक्त कर सकता है।

अपने विश्लेषण में ब्राउन और यूल (1983) पाठ्य (text) को एक संचारी क्रिया के मौखिक रिकॉर्ड के रूप में परिभाषित करते हैं। पाठ्य की उत्पत्ति और विश्लेषण दो लोगों के बीच कुछ संदर्भ में किया जाता है, क्योंकि मानव एक–दूसरे से संवाद के लिए भाषा का उपयोग करता है। संदर्भ पर पारंपरिक दृष्टिकोण के अनुसार, संदर्भ को सह–पाठ्य (co-text), स्थितिजन्य सन्दर्भ और सांस्कृतिक सन्दर्भ में वर्गीकृत किया जा सकता है जिसके बारे में कई भाषाविदों ने पाठ्य और संदर्भ के बीच संबंधों पर कई शोध किए हैं। भाषिक संचार में, संदर्भ पाठ्य को निर्धारित करता है और पाठ्य संदर्भ को दर्शाता है।

टिप्पणी

भारतीय प्राकृतिक और सामाजिक वैज्ञानिक अनुसंधान और शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दुनिया के पारंपरिक पश्चिमी विचारों को ध्यान में रखते हुए हमें वैश्विक परिवर्तनों के बारे में पता होना चाहिए। यह सच है कि आधुनिक विश्वविद्यालय पश्चिमी शैली के अनुसंधान और शिक्षा संस्थानों के रूप में उभरे; समकालीन अर्थ में, विज्ञान पश्चिमी दुनिया में उत्पन्न होने वाला एक अपेक्षाकृत हाल का उद्यम है; समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र (मानवशास्त्र यहाँ बहुत प्रासंगिक है) पश्चिमी यूरोप में उभरा। उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और वैश्वीकरण के प्रभाव में सभी विश्वविद्यालयों, आधुनिक विज्ञान और समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र का विस्तार हुआ है और वैश्विक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया है। न केवल आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाएं और बल्कि संस्थाओं में भी लगातार बदलाव हो रहे हैं और सांस्कृतिक और शिक्षा के केंद्र में बड़ा परिपर्तन देखा जा सकता हैं। यह माना जाता था कि परिधियों और / या अर्ध–परिधियों का संबंध अब 'हाशिये' पर नहीं है। इसके अलावा, घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय पलायन में वृद्धि के साथ, कई लोगों के जीवन स्तर में सुधार हुआ है और अपनी संस्कृति और कार्य (आवश्यक रूप से स्थायी रूप से नहीं) को शिक्षा के माध्यम से समृद्ध किया और इस तरह 'सार्वभौमिक' संस्कृति में योगदान दिया।

गैर–पश्चिमी, गैर–महानगरीय सामाजिक विज्ञानों और उनकी उपलब्धियों में रुचि आज के समाजशास्त्रीय समुदाय में बढ़ती दिख रही है। हमारा सम्बन्ध केवल पश्चिमी शैली 'भारत के समाजशास्त्र' के साथ ही नहीं है, बल्कि भारत में विकसित 'समाजशास्त्र' के साथ भी है और संरचनात्मक और सांस्कृतिक मुद्दों के व्यवस्थित अनुसंधान की दृष्टि से भारत के अपने देशी दृष्टिकोण के आधार पर पश्चिमी अनुभवों और दर्शन की तुलना में भारतीय समाज के वैचारिक मॉडल पर आधारित 'भारतीय समाजशास्त्र' के निर्माण के प्रयासों के साथ भी है। भारत में जैसे समाजशास्त्र का प्रचलन हुआ है वह अंतर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इससे हम भारतीय उप–महाद्वीप के बारे में सीखते हैं।

5.8 मुख्य शब्दावली

- **अनुसंधान** : खोज।
- **मौजूद** : उपस्थित।
- **परंपरा** : परिपाटी।
- **हस्तक्षेप** : दखल।
- **वांछित** : इच्छित।
- **उपहास** : मजाक, मखौल।
- **त्रुटि** : गलती।
- **अद्वितीय** : अनुपम, बेमिसाल, निरूपम।
- **उपेक्षा** : नजरअंदाज।
- **लक्ष्य** : उद्देश्य, मकसद।

- **आकांक्षा** : इच्छा, ख्वाहिश, आरजू।
- **विशिष्ट** : विशेष, खास।
- **अनुरूप** : मुताबिक, अनुसार।
- **पीड़ा** : दर्द, तकलीफ, कष्ट।
- **खिलाफ** : विरुद्ध।
- **प्रवृत्ति** : नजरिया, दृष्टिकोण।
- **मुक्ति** : छुटकारा, नजात।
- **संकीर्ण** : संकुचित, तंग।
- **उपयुक्त** : उचित, मुनासिब।
- **आशय** : अर्थ, मतलब।
- **प्रयास** : प्रयत्न, कोशिश।
- **दिलचस्प** : रोचक, मजेदार।

टिप्पणी

5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय समाजशास्त्र पर लेखन का अध्ययन क्या सवाल खड़े करता है?
2. भारतीय समाजशास्त्र में दार्शनिक दृष्टिकोण किनके योगदान से जुड़ा है।
3. योगेन्द्र सिंह भारतीय समाजशास्त्र से संबंधित किन चार प्रकार के सैद्धांतिक अभिविन्यासों पर चर्चा करते हैं।
4. संदर्भ की श्रेणियों से आप क्या समझते हैं?
5. समाजशास्त्र का शिक्षण भारत में कब और किस विश्वविद्यालय में शुरू हुआ था?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. संदर्भीकरण की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।
2. देशीकरण की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए इसकी समीक्षा कीजिए।
3. भारत में समाजशास्त्रियों द्वारा किए गए ग्रामीण अध्ययनों की व्याख्या कीजिए।
4. पाठ्य एवं संदर्भ का विश्लेषण कीजिए।
5. भारत में सामाजिक विज्ञान के इतिहास को देखते हुए सुजाता पटेल ने जिन दो महत्वपूर्ण चरणों की चर्चा की थी, उनकी विवेचना कीजिए।

5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

गुप्ता, एम. एल. तथा शर्मा, डी. डी., *समाजशास्त्र,* साहित्य भवन पब्लिकेशंस, आगरा, 1997

टिप्पणी

सिंह, जे. पी., *समाजशास्त्र : अवधारणाएं एवं सिद्धांत*, प्रेंटिस हाल ऑफ इंडिया प्रा. लि. , नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2006

मुकर्जी, रवीन्द्र नाथ, *भारतीय समाज व संस्कृति*, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, नवीनतम संस्करण, 2010

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, *समाजशास्त्रीय चिंतन के आधार*, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2005

एस. सी. दूबे, *इंडियन सोसायटी*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2010

डी. पी. मुकर्जी, *आधुनिक भारतीय संस्कृति*, हिंद किताब, मुंबई (1942 और 1948)

डॉ. जी. के. अग्रवाल, *समाजशास्त्र के सिद्धांत*, साहित्य भवन, आगरा, 2000

राम आहूजा, *भारतीय समाज*, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पुनर्मुद्रित, 2010